दैनिक 'हिन्दुस्तान' के उप सम्पादक श्री सीताचरण दीक्षित की गणना उन थोड़े से साहित्यिकों में की जा सकती है जिन्हें विज्ञापन की दुनिया आकर्षित नहीं कर सकी। जिन के जीवन का एक निश्चित ध्येय है और सामने एक महान आदर्श, जो मूक भाव से समाज तथा राष्ट्र की सेवा के साथ साथ साहित्य को "स्वान्तः सुखाय" और "साधना" की चीज मानते हैं। गांधीवादी विचार धारा जिन के जीवन का क्रियात्मक अङ्ग है। प्रस्तुत उपन्यास 'हृदय-मंथन' इस का प्रमाण है।

"१६४२-४५ के कारावास-काल में लेखक के हृदय में जो उथल पुथल हुई उसी का परिणाम है—'हृदय-मंथन', इस उपन्यास को प्रारम्भ करते ही पाठक के मन में एक जिज्ञासा का उदय होता है और वह ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है, उसका मन करुणा, सहानुभूति और सात्विक प्रेम की उदात्त भावनाओं में अभिभूत हो जाता है।

प्रेम विलास का नहीं, त्याग का मूल मंत्र है, प्रेम मोह का नहीं बोध की राह दिखाता है, निवृत्ति नहीं प्रवृत्ति का सन्देश देता है—'हृदय-मंथन' में इस का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है।

'हृदय-मंथन' कल्पना के रंगों से रंगा हुआ निर्जीव चित्र नहीं—जीवन की यथार्थताओं का एक सजीव इतिहास है जिस में है पाठक के हृदय को आन्दोलित करने का भरपूर सामर्थ्य।

हृदय-मंथन

लेखक
सीताचरण दीक्षित

१९५१
आत्माराम एण्ड सन्स
पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता
कश्मीरी गेट
दिल्ली ६

प्रकाशक—
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सन्स
कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य पांच रुपये

मुद्रक—
गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस,
दरियागंज, दिल्ली

निवेदन

मनुष्य अपने प्रगतिशील स्वभाव के कारण निरवधि महत्वाकांक्षाओं के जाल में फँसा रहता है। फलतः उसका जीवन संघर्षों की लम्बी कहानी बन जाता है। संघर्ष कभी सफल और कभी विफल होकर उसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पहुँचाता है। उन स्व-निर्मित अवस्थाओं का तरण करता हुआ वह अपने हृदय को मथ कर अमृत या विष निकालता और उसका उपभोग करता तथा कराता है। इसी प्रकार वह आगे बढ़ता चला जाता है। इस संघर्षमय मानव-जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब ही साहित्य है।

'संगीतमपि साहित्यं सरस्वत्यास्तनद्वयं। एकमापादमधुरं, अन्यदालोचनामृतम्।' इस प्रकार कवि-कीर्तित 'आलोचनामृत-साहिती बहुरूपिणी है। वह उपन्यास, कविता, कहानी, निबन्ध आदि अनेक रूपों में प्रकट होकर मानव का पथ-प्रदर्शन करती है। अपनी मनोहारिता और सरसता से सहृदय-हृदयाह्लादन करनेवाली वह देवी सखी या प्रियतमा के जैसे मधुर भाषण द्वारा कटु सत्यों को प्रकट करती है और पाठकों को तन्मय करके, अनुभवों के स्वाभाविक चित्रण द्वारा उन सत्यों के तत्व समझा कर, आदर्श-पथ की ओर ले जाती है। यह सुन्दर सेवा-धर्म ही उसकी आकर्षकता का गुरुमंत्र है।

'हृदय-मंथन' इस कसौटी पर कितना खरा है, इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं, लेखक नहीं। यदि मुझसे प्रश्न किया जाये कि 'हृदय-मंथन' क्या है तो एक शब्द में उत्तर देना मेरे लिए कठिन होगा। साहित्य के किसी एक निर्दिष्ट विभाग की परिधि में यह नहीं समाता। समग्र रूप में यद्यपि इसे उपन्यास माना जायेगा, तथापि इसमें उपन्यास, जीवन-चरित्र, काव्य आदि सभी की झलक और अनेक की रूपरेखा पाई जा सकती है।

पूज्य बापू के राष्ट्रनिर्माण-कार्यक्रम के मूलमंत्र अस्पृश्यता-निवारण,

स्वावलम्बन-शिक्षा तथा सेवाधर्म-बोध थे। इनका प्रचार करने के लिए अनेक व्यक्ति और अनेक संस्थाएं आगे बढ़ीं। उनमें से अनेक ने 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के अनुसार अपने-आपको ही बलिवेदी पर चढ़ाया।

आदर्शवादिता के साथ विवेक, व्यावहारिकता और उदारता का समन्वय न हो तो वह भीषण परिणाम का हेतु बन जाती है। इसका ज्वलन्त उदाहरण चंचला के जीवन में उपलब्ध है, जिसमें पतंग के मार्ग का अनुसरण किया गया। यदि चंचला अपने आदर्शों पर दृढ़ रहती हुई अपने बाल-सखा जीवनचन्द्र के आदर्शों में भी उतना ही विश्वास रख सकी होती, शंकाओं का कारण दिखाई देने पर स्वनिर्भर न रहकर उनके निवारण का प्रयत्न कर लेती, तो कदाचित् वह अपना और साथ ही दो अन्य व्यक्तियों का जीवन दुःखमय बनाने की उत्कट वेदना से बच जाती। कदाचित् वह अपने आदर्शों को भी चरितार्थ कर पाती। किन्तु उद्देश्य शुद्ध होने पर भी, व्यावहारिकता और विवेक का अवलम्बन न करने के कारण उसका आदर्शमय जीवन एक करुण-कहानी मात्र रह गया। निर्मला का प्रेम और उसकी कर्मण्य बुद्धि भी उसकी भावना की उड़ान को बुद्धि के नियंत्रण में लाकर उसे दुरन्त दुःख से बचाने में असमर्थ रही।

आधुनिक युग के सुशिक्षित युवक राष्ट्रनिर्माण के कार्य में कितने उपयोगी हो सकते हैं, इसका उदाहरण जीवनचन्द्र के जीवन में उपलब्ध है। उसने जिस आडम्बरहीनता और धैर्यमय ढंग से रचनात्मक कार्य और सेवाएं कीं उनके दृष्टान्त यथार्थ जीवन में कम नहीं हैं। उसका जीवन बताता है कि प्रेम विलास का नहीं, त्याग का मूलमंत्र है, मोह की नहीं, बोध की राह दिखाता है, निवृत्ति का नहीं, प्रवृत्ति का पथ-प्रदर्शक है। चंचला की उदासीनता ने उसे प्रवृत्ति-पथ का संदेश दिया। उसके विरह ने उसे जन-साधारण के प्रति सहानुभूति और सर्वभूत-अभय की प्रतिज्ञा के लिए प्रेरित किया। उसके दुरन्त जीवन ने उसे समस्त प्राणियों के दुःखापहरण में प्रयत्नशील बनाया। युवकों को इससे अधिक उपयोगी आदर्श और कहाँ मिलेगा? 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति।' इस तत्व का मुकुटोदाहरण है जीवनचन्द्र।

कुसुम की संगति से शिला भी सुवासित होती है—यह करुणाशंकर के जीवन का सार है। जीवनचन्द्र के सर्वनाश का शक्तिभर प्रयत्न करने के पश्चात् उसकी महानता के सामने वह अपना ही व्यक्तित्व खो बैठा। इसमें

जीवनचन्द्र की अहिंसा की प्रशंसा की जाये या करुणाशंकर के अन्तःकरण की शुद्धि की सराहना ?

१९४२-४५ के कारावास-काल में लेखक के हृदय में जो उथल-पुथल हुई उसका शमन भावनाओं के अदम्य प्रवाह को लिपिबद्ध करके किया गया था। उसी का एक परिणाम है—'हृदय-मंथन।' इसमें सवर्ण-अवर्ण, धनिक-निर्धन और स्त्री-पुरुषों के हृदय-मंथन का परिणाम पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया गया है। उस मंथन से जो-कुछ निकला उसका परीक्षण करना सहृदयों का काम है। यदि यह विनीत उपहार उनके हृदयाह्लादन के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ तो लेखक की लेखनी चरितार्थ हो जायेगी।

नई दिल्ली,
१ मई, १९५१

सीताचरण दीक्षित

His Master's Voice

अनुक्रमणिका

हृदय-मंथन—

१

युगल किरण

बरसात के दिन थे। अभी-अभी वर्षा बंद हुई थी। उज्जैन की सड़कों पर जहाँ-तहाँ पानी भरा हुआ था।

एक पाँच वर्ष की बालिका ने अपने छोटे-छोटे हाथों से सड़क के कीचड़ को जीवन के ऊपर उछालते हुए किञ्चित् रोष के साथ कहा—"ले, और मुझे तंग करेगा ?"

बालक उभड़ पड़ा। उसके कपड़े खराब हो गए थे। कीचड़ और पानी में दौड़कर उसने चंचला के दोनों हाथ पकड़ लिये। चंचला भी उससे भिड़ गई। दोनों में हाथापाई होने लगी। जीवन चंचला से कुछ बड़ा था। चंचला जब उससे जीत न सकी तब ज़ोर से चिल्लाकर अपनी मा को पुकार उठी।

चंचला का घर सामने ही था और जीवन का पाँच-छः मकान छोड़कर। चंचला की मा उसकी पुकार सुनते ही दरवाजे पर दौड़ी आई। उसने देखा कि दोनों बच्चे कीचड़ और पानी से लथपथ एक-दूसरे से भिड़े हुए हैं। वह उन्हें बचाने को दौड़ी तो जीवन चंचला को छोड़कर भाग गया।

चंचला ने मा से कहा—"अम्मा, जीवन बड़ा पाजी है। मैं उसके साथ अब कभी न खेलूँगी।"

मा ने समझाया—"हाँ, बेटी, उसके साथ मत खेला कर।"

"तो मैं किसके साथ खेलूँ ?" बालिका ने अपनी गलती समझते हुए रोष में आकर प्रश्न किया।

"तू रमेस, मनोहर और सुसीला के साथ खेला कर।"

"वह तो मेरे साथ खेलते ही नहीं।"

"क्यों ? तू उनसे लड़ती होगी ?"

"नहीं, अम्मा, वह सब मुझे अछूत कहते हैं। मुझे अपने घर भी नहीं आने देते।"

चंचला की मा के हृदय में एक तीर-सा चुभ गया। उसका चेहरा एक-दम उतर गया और क्षण भर के लिये वह अवाक् रह गई। इतने ही में बालिका ने फिर शुरू किया—

"अम्मा, वह मुझे अछूत क्यों कहते हैं? अछूत कौन होते हैं?"

मा ने बात टालकर कहा—"चल बेटी, घर चल; तेरे बापू आते होंगे।"

दोनों घर आगईं। परन्तु दोनों ही के दिल भारी थे। बच्ची मन-ही-मन कुछ सोचती रही। कभी-कभी उसके मुँह से कुछ अस्पष्ट, क्रोध-भरे शब्द निकल पड़ते थे। कभी वह अपने छोटे-से दाहिने हाथ की मुट्ठी बाँधकर, अपने सामने किसीकी कल्पना कर, हवा में घुमा देती और उसके नेत्र चढ़ जाते और भौंहें तन जातीं।

मा भी उदास होकर सोचने लगी—हम अछूत हैं! इसमें हमारा क्या दोष है? हम तो सबकी सेवा करके रूखी-सूखी खाकर संतोष करते हैं। किसीको सताते नहीं, किसीकी राह में नहीं आते। अपना संसार सबसे अलग बनाये एक किनारे पड़े रहते हैं। फिर भी लोग हमसे इतनी घृणा क्यों करते हैं? और हमारे बच्चों ने क्या अपराध किया है? बच्चे तो भगवान को भी प्यारे होते हैं, फिर हमारे बच्चों के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार क्यों? उनके साथ दूसरी जाति के बच्चे खेल भी नहीं सकते! वह ऊँची जाति के हैं! हमारे बच्चों के साथ रहने से वह पतित हो जायँगे! हे भगवन्, तुम्हारे सिवा हम किसकी शरण लें?.......

चंचला मानो सब कुछ भूल गई। अपने आँगन में जाकर वह फिर खेलने लगी। उसकी मा खाना बनाने की तैयारी करने लगी।

चंचला ने बहुत-से पत्थर इकट्ठे किये। कीचड़ से उन्हें जमा-जमाकर उसने एक घरौंदा बनाया। उसके सामने लकड़ियाँ गाड़ गाड़कर उसने बालक-बालिकाओं की सृष्टि की। फिर उन सब बालक-बालिकाओं का नामकरण किया—यह जीवन है, यह रमेस है, यह मनोहर है, यह सुसीला है........! अब उसने अपने हाथ में एक छड़ी ली और स्वरचित सुशीला की ओर मुड़कर धीरे-धीरे बोली—"तू मेरे साथ नहीं खेलेगी? अच्छा ठहर, मैं तुझे अभी देखती हूँ!" उसने अपने हाथ की छड़ी से उस नकली सुशीला पर एक ज़ोर का वार किया। 'सुशीला' उखड़कर दूर जा पड़ी। चंचला ज़ोर से हँसी और फिर बोली—"कैसा मज़ा आया! और मेरे साथ न खेलेगी? खेलेगी? अच्छा तो ठहर, मैं तुझे फिर खड़ा किए देती हूँ।"

लकड़ी को उठाकर, उसे अपने कपड़े से पोंछ, बालिका ने फिर जहाँ-की-

तहाँ खड़ा कर दिया। बाद को उस पर प्यार और करुणा के साथ हाथ फेरती हुई वह बोली—"रो मत, बहन! अब मैं तुझे कभी न मारूँगी। मगर देख, अब तू मेरे साथ बराबर खेलना, हाँ!"

सहसा उसका ध्यान लकड़ी के रमेश और मनोहर की ओर गया। उसने देखा कि वह दोनों सुशीला से अधिक ऊँचे और मोटे हैं। फिर वह बोली—"तुम मुझे अछूत कहते हो? मैं तुम्हारे घर गई थी तो तुमने मुझे पत्थरों से मारा था? और आँगन में खेलने नहीं दिया? अच्छा, लो तुम भी!"—कह कर बालिका ने अपना 'दण्ड' संभाला।

संध्या हो गई थी। चंचला का पिता दिन-भर का थका-माँदा घर आया तो उसने सबसे पहले चंचला को याद किया। देखा तो वह आँगन में अपने खेल में मग्न थी। वह चुपके से आड़ में खड़ा होकर उसका खेल देखने लगा।

और, बालिका ने एक ही वार में 'रमेश' और 'मनोहर' दोनों को उड़ा दिया। ज्यों ही वे दूर जाकर गिरे, वह खिलखिलाकर हँस पड़ी और बोली—"कैसी रही! और मुझे अछूत कहकर पत्थर मारोगे?...." फिर वह उनके पास गई और पहले 'रमेश' को उठाकर कहने लगी—"क्यों, और तू मुझे अपने साथ नहीं खेलायेगा?...."

पिता को यह सब देखकर बड़ा कौतूहल हुआ। अपने कौतूहल में अपनी पत्नी को भी सम्मिलित करने के ख्याल से वह चुपके-चुपके उसे भी बुला लाया। आधे मन से, अपने काम में बाधा पड़ती हुई महसूस करके, प्रेममय विरोध प्रदर्शित करती हुई, वह भी वहाँ आकर खड़ी हो गई।

और, चंचला इस समय तक 'रमेश' को फिर वहीं पटक कर 'मनोहर' को हाथ में उठा चुकी थी। वह कह रही थी—"तू सबसे ख़राब है। तू अभी सीधा नहीं हुआ। तुझे दो छड़ी और लगाऊँगी......"

बालिका ने फिर उसे ज़मीन पर गाड़ कर खड़ा किया। बाद को उसने 'एक' कहकर उसे फिर एक छड़ी लगाई। छड़ी लगते ही वह लकड़ी टूट कर दो टुकड़े हो गई। उसका एक टुकड़ा वहीं गिर गया और दूसरा दूर जा पड़ा।

लकड़ी के दो टुकड़े होते देखकर बालिका को जैसे ठेस-सी लगी। सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा—"अरे रे! मर गया, बेचारा!"

अपने हाथ की छड़ी फेंककर वह लकड़ी के मनोहर के दूरवाले टुकड़े को उठाने दौड़ी। हाथ में उठाकर, करुणापूर्ण दृष्टि से उसका निरीक्षण-परीक्षण कर, पछतावे के स्वर में 'च् च् च् च्' करते हुए उसने फिर कहा—"बेचारा

मर गया।" उसे अपने कपड़े से पोंछ और बरौंदे के पास लाकर फिर ज़मीन में खड़ा करके बोली—"अब तुझे नहीं मारूँगी। तू रो मत, हाँ!" फिर उसने उस पर हाथ फेरा—मानों उसे स्नेह के साथ धीरज बँधा रही हो, अपने प्रेम से उसका कष्ट-निवारण कर रही हो।

उसकी मा ने उसके पिता से स्नेह-रोष के साथ कहा—"बस इसी के लिये मुझे बुला लाये थे? यह पागलपन देखने को मुझे फ़ुरसत नहीं। रोटी बनाने को पड़ी है। मैं जाती हूँ।"

"अरे, ज़रा ठहरो तो!"—कहते हुए पति ने पत्नी का हाथ पकड़ कर उसे अपनी ओर खींच लिया। पत्नी ने भी अधिक विरोध नहीं किया। दोनों फिर चुपके-चुपके अपनी लाड़िली की क्रीड़ा देखने में मग्न हो गए।

अब 'जीवन' की बारी आई। उसकी ओर देखते ही बालिका का हृदय ग़ुस्से से भर गया। वह बोल उठी—"अब कहो बच्चू! आज तुम कैसे लड़ रहे थे! अब तुम नहीं बचोगे!......"

उसने पहले के समान अपनी छड़ी उठाई परन्तु फिर रुक गई। बोली—"मारूँ?......न मारूँ? आज तो तुम बड़ी मस्ती कर रहे थे!........ अच्छा, तो अब मुझसे लड़ना मत!......आओ, हम तुम दोस्ती कर लें......"

विजयिनी की भाँति बालिका ने अपनी छड़ी फेंक दी। उसने अपने दाहिने हाथ की बीच की उँगली फैलाकर लकड़ी के जीवन से मिलाई और फिर चूम ली। इसी प्रकार तीन बार करके उसने दोस्ती पक्की कर ली।

'जीवन' का सिर मानो कृतज्ञता से झुक गया। बालिका गौरव में सने हुए प्रेम के साथ बोली—"अब हम दोनों कभी नहीं लड़ेंगे, न?"

पिता का प्रेमानन्द बाँध तोड़कर उमड़ पड़ा। उसने दौड़कर बालिका को उठा लिया और उसके दोनों गाल चूम लिये। मा खीझती ही रही कि वह कीचड़ से सनी हुई है, तुम्हारे कपड़े ख़राब हो जायँगे, मगर पिता ने एक न सुनी। उलटे, बालिका को लाकर उसके शरीर से चिपटा दिया, उसका कोई उज्र काम न आया। आख़िर, कीचड़ से सनी हुई बच्ची को वात्सल्य-भाव से गोद में लेकर मा अन्दर की ओर रूठ चली। पिता ने उसके पीछे-पीछे चलते हुए, चंचला का हाथ अपने हाथ में लेकर लाड़ के साथ पूछा—

"क्या कर रही थी, मुन्नी?"

"जीवन से प्यार कर रहे थे"—बालिका ने संकोच-मिश्रित लाड़ के स्वर में उत्तर दिया।

माता और पिता एक दूसरे की ओर देखकर, हँसकर, आँखों से कुछ कह गये। मा ने बेटी को छाती से दाब लिया और पिता ने आगे बढ़कर उसके दोनों गाल चूम लिये।

२

दलित का गौरव

चंचला का पिता सिलावट था। मेहनत-मज़दूरी करके अपना और अपने परिवार का पालन करता था। बचपन में उसके मा-बाप ने उसे थोड़ी-सी स्कूली शिक्षा दिला दी थी। हिन्दी की चार कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह अपने बाप-दादों के व्यवसाय में लग गया। बुद्धि उसकी तीव्र थी और उसमें स्वाभिमान की मात्रा भी कम न थी। इज़्ज़त के साथ जीवन बिताना और साफ़-सुथरा रहना उसे पसंद था।

परन्तु, समाज को यह सब कैसे पसंद होता? संध्या समय जब कभी चंचला का पिता धुले हुए स्वच्छ वस्त्र पहिन कर, चंचला को साथ लेकर बाज़ार की ओर निकल जाता तब समाज में प्रतिष्ठित माने जानेवाले लोग भी उस पर हँस पड़ते। अनेक बार उस पर आवाज़क़शी और छींटाक़शी भी होती। कुछ 'भद्र' लोग ऐसे भी होते जो बिना मतलब के ही—कदाचित् उसका अपमान करने की बुद्धि से—उसे आता-जाता देखकर पुकार उठते—"कहाँ चला, रामा?......" कोई उसे अपनी दूकान पर पुकार कर बाहर खड़ा रखता और अपनी महत्व-भावना को संतुष्ट करता हुआ उससे 'तू' की भाषा में बातें करता। यदि बाल-स्वभाव और अपने समाज पर लादी हुई मर्यादाओं को न समझने के कारण चंचला किसी को छू देती, या दूसरों के समान किसी दूकान की गद्दी पर बैठ जाने का प्रयत्न करती तो तुरंत उसे और उसके पिता को झिड़कियाँ मिल जातीं। बेचारा रामलाल (यही चंचला के पिता का नाम था) लोगों का इस तरह का व्यवहार सहता-सहता तंग आ गया था। चंचला के मन पर भी भीतर-ही-भीतर हीन-भाव घर कर रहा था। वे दोनों उदास रहने लगे। चंचला के स्वभाव में धीरे-धीरे, परन्तु निश्चित रूप से, कटुता आने लगी। इस सबका असर चंचला की मा शिवरानी पर भी हुए बिना न रहा।

एक दिन शिवरानी ने बहुत दुःखी और निराश होकर अपने पति से कहा—"हम लोग अछूत माने जाते हैं। हमें अपनी मर्यादा में ही रहने से सुख मिल सकता है।"

रामलाल के सामने उसके जीवन की सारी अवमानना और समाज का अहंकार-युक्त व्यवहार मूर्त्तरूप में आकर उपस्थित हो गया। उसका चेहरा आवेश से लाल हो उठा। उसने निश्चय के स्वर में उत्तर दिया—"अछूत हम कैसे हुए? अछूत तो वे हैं जो बिना मतलब दूसरों को सताते हैं; जो दूसरों का खून चूसते हैं; जो चोर हैं, हत्यारे हैं, व्यभिचारी हैं……!"

"तुम तो फिर वही पुराना राग अलापने लगे"—शिवरानी ने असंतोष और उलाहने के स्वर में कहा।

"यह राग तो मेरी मृत्यु के साथ ही बन्द होगा। मैं किसी को लूटने नहीं जाता, किसी के साथ ज़बरदस्ती नहीं करता, फिर लोग मेरे साथ क्यों ज्यादती करें?"

"हमें सिर नीचा करके रहना चाहिये।"

"हम कहाँ सिर आसमान पर रखते हैं? लोगों से मीठी और नम्र, साफ़ बात करते हैं; किसी की लल्लो-चप्पो नहीं करते; अपने आप को मनुष्य समझते हैं—बस, यही हमारा अपराध है!"

"मगर हमारे दूसरे जाति-भाई भी तो हैं? वे तो कभी परेशान नहीं रहते?"

"हाँ, वे अपमान और अत्याचार सहने के आदी हो गये हैं। वे अपने मानवीय अधिकारों को समझते ही नहीं। वे समझते हैं कि हम दूसरों के जिलाये जीते हैं और उनके मारे मर जायँगे। परन्तु बात ऐसी नहीं है। हम सब एक ही परमेश्वर के पैदा किये हुए हैं। उसके सामने हम सब बराबर हैं। उसने हम सब को मनुष्यता के बराबर अधिकार दिये हैं। यह सब भेद-भाव मनुष्यों ने ही अपने स्वार्थ के लिये बना लिये हैं। यदि हम अपनी इस दुर्दशा के विरुद्ध आवाज न उठायेंगे तो हमारा नाश हो जायेगा।"

"मगर तुम्हें ही क्या पड़ी है कि पुरखों से चली आई रीति के विरुद्ध खड़े हो? कोई दूसरा क्यों न लड़े? जब बहुत से लोग तुम्हारे जैसे हो जायँ तब तुम भी उनमें मिल जाना।"

"यह नहीं हो सकता। मेरी खुद की भी तो कुछ हस्ती है? मैं क्यों सहूँ? रही समाज की बात, सो जो-कोई भी पहले-पहल आगे आयेगा उसी को इस प्रकार की मुसीबतें सहनी पड़ेंगी। और मैंने तो अभी दूसरों के लिए

कोशिश करना शुरू ही नहीं किया। मैं स्वयं मनुष्य के समान रहने का प्रयत्न करता हूँ। मेरी बच्ची है और तुम हो। तुम दोनों को भी मैं मनुष्य के समान रखना चाहता हूँ। मेरी छाती में भी दिल है, मैं भी दूसरों के समान महसूस करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम भी समाज में अपनी योग्यता के अनुसार स्थान पाओ, मेरी बच्ची ऊँची शिक्षा पाये, अच्छे-अच्छे काम करने का उसे मौका मिले........।"

"और, तुम्हारे यह सब हवाई किले हमारी और भी दुर्दशा करा रहे हैं। हमें न अपनी जाति अपनाती है और न दूसरी जातियाँ। हमारी जाति के लोग हमारी ओर उँगली उठाकर कहते हैं कि ये हमें छोड़कर दूसरों में मिलने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसलिए, वे हम से दूर होते जाते हैं। दूसरे लोग हमें नीच और अछूत मानते ही हैं। अब तक उनकी हम पर दया रहा करती थी, परन्तु तुम्हारे तौर-तरीकों से वे हमसे रोज़-ब-रोज़ नाराज़ होते जा रहे हैं। इस प्रकार हम दोनों ओर से छूट रहे हैं।"

"यह सब हमारी कसौटी है। हम खरे उतरे तो ये दिन जल्दी निकल जायँगे। तुम्हें धैर्य के साथ मेरा हाथ बँटाना चाहिये।"

"मुझे अपना कष्ट तो कुछ भी नहीं मालूम होता। तुम्हारे पैरों के पास रहकर और बच्ची का मुँह देख कर मैं सब कुछ भूली रहती हूँ। परन्तु जिस पर तुम्हारा सबसे ज्यादा प्यार है, जिसके लिये तुम इतना सिर धुन रहे हो, उस चंचला की हालत देख देखकर मुझसे रहा नहीं जाता। जब पास-पड़ोस के बच्चे खेलने में अछूत कहकर उससे घृणा करते हैं और उसे मार मार कर भगा देते हैं और जब जाति के लड़के भी उसे दूर-दूर करते हैं और जब वह उदास होकर या रोती हुई घर आती है तब मेरी छाती फटने लगती है। तुम अगर उसके दिमाग़ में बड़ी-बड़ी बातें भरने का प्रयत्न न करते तो वह बेचारी ऊँची जाति के बच्चों के साथ खेलने का प्रयत्न ही न करती और न हमारी जाति के बच्चे ही उससे अलगाव रखते। अब तो वह दोनों में से किसी भी जगह की नहीं है।"

"तुम ठीक कहती हो; मगर यह सब कष्ट बहुत दिनों तक न झेलने पड़ेंगे। अगर हम साहस के साथ अत्याचार का मुकाबला करते चले गये तो एक-न-एक दिन उसका अंत अवश्य होगा। सिर झुकाए रहने से तो कभी भी उससे मुक्ति न मिलेगी।"

"क्या पता कितने दिन लगेंगे!"

"दिन कितने भी लगें, किन्तु उद्धार होगा निश्चय। हमारे इस जन्म

में नहीं तो अगले जन्म में सही, परन्तु यह अमानुषिक अत्याचार अपनी गति को प्राप्त होगा अवश्य।"

शिवरानी ने प्यार भरी मीठी चुटकी लेते हुए हँसकर कहा—"ओह ! तो जनाबआला अगले जन्म में भी अछूत ही होने की योजना बना रहे हैं !"

"हां," रामलाल ने गौरव और दृढ़ता के साथ उत्तर दिया, "मैं परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि जब तक इस सारे समाज का उद्धार न हो जाय तब तक मैं इसी समाज में पैदा होता रहूँ और हर बार मैं इसी की सेवा में जीऊँ और इसी की सेवा में मरूँ !"

कहते-कहते रामलाल की आंखें भर आई और कंठ रुँध गया। शिवरानी के नेत्रों और कंठ ने भी तुरन्त साथ दिया। फिर थोड़ा संभल कर वह भावुकता के साथ गीली आवाज़ में बोली—"और मेरे लिए क्या प्रार्थना करते हो ? मुझे भी हर बार अपनी दासी बनाकर रखोगे ?"

रामलाल ने अपने दोनों हाथों से उसे अपने पास खींच लिया, फिर उसके दोनों गालों पर अपने हाथ रखकर उसकी आंखें अपनी आंखों की ओर घुमाकर अत्यन्त प्रेम भरे शब्दों में कहा—

"दास भी दासी रखने की ढिठाई कर सकता है, प्रिये ? या तो तुम मेरी रानी होगी या सहयोगिनी....... !"

शिवरानी ने मुसकराकर लज्जा से सिर नीचा कर लिया—मानो अनन्त काल तक के लिए अपने पति के साथ सहयोग की हामी भर दी हो।

३

बीजारोपण

अछूतों के सम्बन्ध में महात्मा गांधी के महान उपवास के फलस्वरूप अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ की स्थापना हो चुकी थी। उसकी शाखाएँ देश-भर में खुल रही थीं। उदार और समझदार जनता ने अछूतों का नया और अर्थगर्भित नामकरण—'हरिजन'—उत्साह के साथ स्वीकार कर लिया था।

जेल से छूटने के बाद महात्मा गांधी ने हरिजनों की सेवा के उद्देश्य से सारे देश का जो दौरा किया उससे हरिजनों को मिलाने और उनकी सेवा करने के उत्साह की एक अभूतपूर्व लहर फैल गई। जहाँ-जहाँ महात्मा गांधी पहुँचे वहाँ का तो पूछना ही क्या, परन्तु जहाँ वे नहीं पहुंचे वहाँ स्वयं जनता ने उत्सव मनाये और हरिजनों की सेवा के लिये धन इकट्ठा किया।

उज्जैन में भी इसी प्रकार का एक जलसा हुआ। मध्यभारत के प्रमुख गांधीवादी नेता श्रीकृष्णभाई ने एक सभा में भाषण देते हुए जनता से अनुरोध किया कि आप लोग हरिजनों के दुःख दूर करने और उनके साथ भाईचारे का मानवोचित व्यवहार करने का अनुष्ठान करें। हरिजनों को भी स्वच्छ रहने तथा गन्दी आदतें छोड़ने का उपदेश किया गया। नगर में एक नये जीवन की उमंग-सी दीख पड़ने लगी।

रामलाल दिन-रात परिश्रम करके अपनी जाति के लोगों तथा दूसरे हरिजनों को जीवन का यह नया संदेश सुनाने लगा। उसके आत्मगौरव का अब ठिकाना न रहा। जिस शुभ अवसर की वह वर्षों से प्रतीक्षा करता आ रहा था वह आख़िर आ पहुंचा था। जिस दिशा में उसने वर्षों पूर्व कदम रखने का महत्वाकांक्षापूर्ण प्रयत्न किया था उसमें आज उसे एक महत् प्रकाश दिखलाई दे रहा था।

उस दिन से उसका घर और भी स्वच्छ रहने लगा। वस्त्रों और रहन-

सहन में भी यथासंभव स्वच्छता बढ़ गई। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर वह स्वयं अपने घर के सामने का मैदान साफ़ कर डालता और यदि आस-पास के घरों के सामने गन्दगी होती तो, बिना उनमें रहनेवालों से कुछ कहे, उसे भी साफ़ कर देता। उसकी नन्ही-सी चंचला अपने छोटे छोटे हाथों में झाड़ू लेकर अपने पिता की मदद करती। वह उसे एक छोटा-सा स्थान बता देता और जब तक वह अपना सफ़ाई का काम पूरा करता तब तक चंचला भी अपनी जगह झाड़कर कूड़ा एक जगह लगा देती। फिर दोनों मिलकर सारा कूड़ा घूर में फेंक आते। शिवरानी इस बीच घर के अन्दर की सफ़ाई कर डालती। इसके बाद स्नान करके तीनों लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में जाकर दर्शन और पूजा करते। इस परिवार ने अपने अनेक जाति-भाइयों में अपने विचारों और भावनाओं का प्रचार करके उन्हें साथी बना लिया। रोज़ संध्या समय रामलाल के घर के सामने रामायण पढ़ी जाने लगी और इस प्रकार उसकी लोकप्रियता और उसका महत्व बढ़ने लगा। वह अपनी जाति का ही नहीं, वरन् नगर के समस्त हरिजन समाज का नेता माना जाने लगा। सवर्णों ने भी उसके प्रति उपेक्षा तथा तिरस्कार की भावना का संयमन किया। इस प्रकार उसके जीवन में एक सुख का समय आता हुआ दिखलाई पड़ने लगा। वह हृदय से सात करोड़ हरिजनों के उद्धारक महात्मा गांधी की भक्ति करता और परमेश्वर के प्रति परम कृतज्ञता प्रदर्शित करता। इस अवसर पर उसने अपनी सेवा-वृत्ति को, अपने समस्त हीन भावों से छुटकारा लेकर, मुक्त रूप से खेलने दिया।

रामलाल के साथ-साथ चंचला की ओर भी लोगों का ध्यान गया। उसकी सरलता, उसके संस्कारों तथा उसके गुणों को देखकर लोग उसे बहुत होनहार मानने लगे। उसकी प्रशंसा सुनकर उसके माता-पिता का हृदय फूला न समाता। दोनों ही उसे अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने के अवसर की आतुरता के साथ प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच रामलाल ने उसे अक्षरों और अंकों का ज्ञान दे दिया। उसकी पैनी बुद्धि एक ही बार के बताने में माता-पिता की शिक्षा ग्रहण कर लेती। थोड़े समय में उसने छोटी-छोटी पुस्तकें पढ़ना सीख लिया। संगीत, गृहकार्य तथा कला में भी उसकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय मिलने लगा। उज्जैन की कन्या-पाठशालाओं के द्वार हरिजन बालिकाओं के लिये खुल जाने पर वह एक शाला की दूसरी कक्षा में भरती करा दी गई।

× × ×

"वह किसकी लड़की है?"—कन्या-पाठशाला के वार्षिकोत्सव के

अवसर पर आये हुए प्रान्त के कांग्रेसी नेता श्रीकृष्णभाई ने प्रधान अध्यापिका से पूछा।

"रामलाल भाई की"—उत्तर मिला।

"उसका गायन बहुत अच्छा रहा। अभिनय और नृत्य तो बिलकुल बेजोड़ था।"

"उसके लिए कई पारितोषिक आए हैं। उनकी घोषणा करना है।"

"बहुत होनहार है।"

"हरिजन होती हुई इतनी विलक्षण बुद्धि की है। अगर कहीं......"

"हरिजन! रामलाल भाई तो सिलावट हैं न?"

"जी हाँ। परन्तु यहाँ के ऊँची जातिवाले अभी तक उन्हें छूते नहीं थे। इस जाति के हाथ का पानी तो कभी नहीं पिया जाता था।"

"कितने दिनों से यहाँ सिलावट अस्पृश्य माने जा रहे हैं? आप बता सकती हैं?"

"मेरे बचपन में तो ऐसा नहीं था।"

"आगरे की ओर तो वे अब भी अस्पृश्य नहीं माने जाते।"

"यहाँ यह ढोंग इसी पीढ़ी में शुरू हुआ है। अब तो सरकारी कागज़ात में भी इन्हें परिगणित जातियों में सम्मिलित कर लिया गया है।"

श्रीकृष्णभाई के हृदय पर एक गहरा आघात हुआ। उनकी भावुकता जाग्रत हो उठी। वे मन-ही-मन मंथन करने लगे कि जो समाज अपने ही बन्धु-बांधवों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार करता हो वह कितने दिन तक जीवित रह सकता है? यदि मनुष्य मनुष्य के साथ मानवता का व्यवहार नहीं करता तो वह अपनी मौत को आप ही निमंत्रण देता है। आखिर कितने दिनों तक महान वर्णाश्रम धर्म का यह शव भारत में पड़ा सड़ता रहेगा? एक दिन था जब कि मानव-हृदय की समस्त करुणा तथा सद्भावना से प्रेरित होकर हमारे ऋषि-मुनियों ने इस वर्णाश्रम धर्म की नींव डाली थी; समाज का संगठन कैसा सुन्दर और दृढ़ बना दिया था! परन्तु आज सारा ही उसके उलटा है! जो धर्म हमारी उन्नति का साधक था वही आज हमारी अवनति का कारण बन गया है।

चंचला की प्रतिभा उनके मन पर जम गई थी। उन्होंने उसकी उन्नति में अधिक-से-अधिक सहायता पहुंचाने का निश्चय कर लिया।

× × ×

"बधाई, रामलालभाई!" श्रीकृष्णभाई ने रामलालभाई के घर के

सामने एक पुरानी किन्तु मरम्मत की हुई खाट पर बैठते हुए कहा—"आपकी पुत्री ने तो कल कमाल कर दिया!"

"यह तो आपका अनुग्रह है, भाई जी! हम लोग किस लायक हैं? मैं तो बहुत छोटा आदमी हूं। बड़े-बड़े लोगों के सभ्य और सुसंस्कृत बच्चों के साथ रहने से ही चंचला कुछ सीख गई होगी। उसकी शिक्षिकाओं की उस पर विशेष कृपा है"—रामलाल भाई ने आत्मगौरव अनुभव करते हुए कहा।

"बिना स्वाभाविक गुणों के शिक्षा इतनी जल्दी ऐसा चमत्कार नहीं दिखाती, भाई साहब! यदि संगति और शिक्षा मात्र का इतना परिणाम होता तब तो बहुत-से बच्चे असाधारण बन जाते। आप विश्वास कीजिये, मैं चंचला की व्यर्थ प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ। उसके अन्दर सच्ची योग्यता छिपी हुई है। इसमें मुझे जरा भी संदेह नहीं।"

रामलालभाई प्रशंसा के भार से झुक गए। पर्याय से वह प्रशंसा तो उनकी ही थी। वे कुछ उत्तर न दे सके। श्रीकृष्णभाई ने शान्ति भंग करते हुए पूछा—"आपका इस बालिका के बारे में क्या इरादा है?"

"मैं क्या इरादा कर सकता हूँ!" रामलालभाई ने हिचकते हुए और दिल को मसोसते हुए कहा—"एक तो मैं हरिजन, दूसरे गरीब! अगर बच्ची दो-चार किताबें पढ़ ले और उसका विवाह किसी सुपात्र के साथ हो जाय तो मैं समझूँगा कि बहुत हो गया।"

"आप खिन्न न हों। हरिजन होना कोई अपराध नहीं है। और फिर आप तो सचमुच हरिजन हैं भी नहीं, जबरन हरिजनों में सम्मिलित कर दिये गए हैं। रही गरीबी सो उसकी चिंता हम लोग कर लेंगे।"

रामलालभाई को राहत मिली। उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक कहा—"मैं आपका अहसानमंद हूं।"

"तो बताइये, आप चंचला को अच्छी तरह पढ़ाना चाहते हैं?"

"मेरी यही एकमात्र अभिलाषा है।"

"आपने क्या सोचा है?"

"यदि मैं उसे गुरुकुल भेज सकता......!" कहते-कहते वह रुक गये।

"कहिए, कहिए। गुरुकुल में भेजने की व्यवस्था तो हो जायगी।"

"परन्तु मैं तो किसी योग्य नहीं हूँ। आपका इतना बड़ा अहसान मैं कैसे उठाऊँगा?"

"इसमें अहसान जरा भी नहीं है। जिस समाज ने सदियों से लोगों को कुचल रखा है उसी को उनकी मदद के लिये भी आना होगा।"

"आपका मतलब?"

"हरिजन सेवक संघ बालिका को छात्रवृत्ति देगा।"

"परन्तु उससे मदद लेने के लिये तो असंख्य लोग मौजूद हैं? मैं उससे मदद कैसे लूँ?"

"पात्रता का माप-दण्ड एक ही नहीं होता। मेरा विश्वास है कि आप की बच्ची मदद की पात्र है। आप संकोच छोड़कर उसकी जिम्मेदारी मुझे सौंप दीजिए।"

"जैसा आप कहें!"

"तो बस, उसे गुरुकुल भेजने की तैयारी कीजिए। रुपयों की व्यवस्था मुझ पर रही।"

रामलाल भाई के दिल का भार मानो मनों हलका हो गया।

× × ×

गुरुकुल पहुँचने के समय चंचला की आयु आठ वर्ष से कुछ अधिक थी। रामलालभाई स्वयं उसे वहाँ पहुँचाने गए थे। आचार्या के हाथों में अपनी नन्ही-सी बालिका को सौंपते हुए तत्काल उन्हें आनन्द और संतोष अवश्य हुआ, परन्तु बाद को स्नेहातिरेक के कारण उनका हृदय बहुत दिनों तक शांत न रह पाया। इससे पूर्व कभी भी उन्होंने अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य मर्यादाओं को इतनी स्पष्टता से महसूस न किया था। यद्यपि गुरुकुल में सामाजिक भेद-भाव—स्पृश्यास्पृश्य—के लिए कोई स्थान नहीं था, तथापि उनका मन आशंकाओं से मुक्त न रह सका। वे चिन्ता करते रहते कि बालिका बहुत छोटी है, उसे अकेले इतनी दूर भेजकर मैंने अन्याय किया। यदि वहाँ भी स्पृश्यास्पृश्य का भाव छिपा हुआ हो तब तो उसका जीवन नरक से भी बदतर हो जायगा।

इसके विपरीत, कभी-कभी वे यह भी सोचते कि अच्छा ही हुआ उसे वहाँ भेज दिया। जीवन का क्या ठिकाना? पता नहीं किस दिन हम संसार से कूच कर जायें। ऐसी अवस्था में हमारी बच्ची, जिसे हम जीवन का सबसे बड़ा आशीर्वाद समझते हैं, दर-दर की भिखारिन न होगी।

उनके मन में आशा और आशंका का द्वंद्व अनवरत चलता रहता। कभी वह चंचला के जीवन की बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करने में मुग्ध रहते, कभी भय उनके हृदय को उद्विग्न बनाए रहता।

स्फूर्तिमय क्षणों में भविष्य का एक सुन्दर हरा-भरा, सजीव चित्र उनके

नेत्रों के सम्मुख झूलने लगता। वे देखते—उनकी पुत्री युवा हो चुकी है। गुरुकुल की स्नातिका हो जाने के बाद उसने समस्त देश में दौरा करके सम्पूर्ण नारी समाज में जाग्रति उत्पन्न कर दी है। देश-भर में उसका सम्मान है और बड़ी-बड़ी सभाओं में उसे नारी-समाज की उद्धारिका के रूप में व्याख्यान देने के लिये आमंत्रित किया जाता है। उसके व्यक्तित्व और उसकी वाणी का असर श्रोताओं पर जादू के समान होता है। उसकी सरलता, निरभिमानिता, उसके देश-प्रेम, उसकी प्रतिभा, उसकी भावुकता उसकी कर्त्तृत्व-शक्ति—सभी की मुक्त कंठ से प्रशंसा होती है और प्रशंसा के सम्मुख शील और संकोच से वह अपना सिर नीचे झुका लेती है..........

फिर एक दूसरा चित्र उनके सम्मुख उपस्थित होता—चंचला के पिता के नाते उनकी भी खूब ख्याति हुई है। उनके जीवन पर अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने लेख और पुस्तकें लिखी हैं। चंचला के विकास और उसकी महत्ता का सारा श्रेय उन्हें ही दिया जाता है। पत्रकारों और प्रशंसकों का उनके पास ताँता बंधा रहता है। उनके तथा उनकी पत्नी और पुत्री के सम्बन्ध में उनसे अनेकानेक प्रश्न किये जाते हैं, जिनका उत्तर पत्थर पर टाँकी लगाते-लगाते वे हँस हँसकर देते हैं। कभी-कभी रूठ कर कह बैठते हैं, "भाई, अब मुझे काम करना है, तुम लोग मुझे बहुत सताते हो जाओ, मैं काम न करूँगा तो खाऊँगा क्या? क्या चंचला को खिलाऊँगा और क्या उसकी मा खायेगी?"

चंचला की मा का स्मरण करते ही वे भावनाओं में बह जाते—सोचने लगते उस बेचारी ने बड़े कष्ट सहे हैं! उस जैसी स्त्री मुझे मिली इसके लिये मैं भगवान का सदैव कृतज्ञ रहूँगा.......! अपने चित्र के साथ वे अनिवार्यतः चंचला की मां शिवरानी का भी चित्र देखते। वह सीता और सावित्री से भी महान दिखलाई पड़ती। सीता और सावित्री तो राजाओं की पुत्री, राजाओं की पुत्रवधू और राजाओं की पत्नी थीं, शिवरानी दीन और दलित और तिरस्कृता हरिजन स्त्री है, फिर भी इतनी महान! उनमें कर्म की जो कमी थी वह भी इसमें पूरी है............

किन्तु, निराशा के क्षणों में उनके ये सब चित्र धुल जाते। वर्तमान जीवन की वास्तविकता उनके सामने उन्मत्त होकर अट्टहास करने लगती। वह सोचने लगते कि संसार में छोटे-बड़े सदैव ही रहते आये हैं। हम छोटे हैं। हमें कहां बड़प्पन का दुर्लभ सौभाग्य? हमारी सब आकांक्षाओं की पूर्ति आकाश कुसुम की प्राप्ति के समान है! जो कुछ हो जाय वही बहुत है। अपना कर्त्तव्य यंत्रवत् करते जाना ही हमारा काम है।

४
बहन......?

एक के बाद एक कई वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन गृहव्यवस्था-पिका ने चंचला को बुलाकर पूछा—"जीवन चन्द्र नाम का कोई लड़का तुम्हारा रिश्तेदार है?" चंचला कुछ समझ न पाई। उसने उत्तर दिया—"नहीं तो।"

"तुम इस नाम के किसी लड़के को जानती हो?"

"जी हाँ!" चंचला ने कुछ सोचकर उत्तर दिया।

"वह कहाँ रहता है और क्या करता है?"

"उज्जैन के हाईस्कूल में पढ़ता है।"

"उससे तुम्हारा परिचय कैसे हुआ?"

"वह हमारा पड़ोसी है। हमारी जाति का भी है। हम दोनों बहुत बचपन से साथ-साथ खेले हैं। बड़ा स्नेह भी है। हमारे पड़ोस में वही एक लड़का था जिसके साथ मैं खुलकर खेल सकती थी। दूसरे बच्चे हमारे साथ नहीं खेलते थे........" कहते कहते चंचला का गला भर आया।

व्यवस्थापिका अकथित भाव को समझ गईं। कोमल भावनाओं को बिना छेड़े उन्होंने सहानुभूति के साथ पूछा—"वह अच्छा लड़का तो है?"

"जी हाँ, जहाँ तक मैं जानती हूँ। मगर आप यह सब मुझसे क्यों पूछ रही हैं?"

"तुम्हारे नाम उसका पत्र आया है।"

चंचला निर्दोष प्रसन्नता से खिल उठी। उसके मानस-चक्षुओं के सम्मुख अतीत का सारा चित्र झूल गया। जब से वह यहाँ आई उसे जीवन का कोई विस्तृत समाचार न मिला था। वह प्रायः उसे भूल चुकी थी। आज सहसा उसकी याद से वह उसके सम्बन्ध में मीठी-मीठी कल्पनाएँ करने लगी। एक क्षण के लिए तो जैसे वह अपने घर ही पहुँच गई। वह उसका छोटा-सा कच्चा

मकान और वह जीवन की झोपड़ी ! जीवन के साथ उसका खेलना, लड़ना-झगड़ना और फिर एक हो जाना, मानो उसे परोक्ष से प्रत्यक्ष में उतार लाया...........परन्तु अब तो जीवन बड़ा हो गया होगा ! मैं चौदह वर्ष की हो गई, जीवन मुझसे बड़ा है, वह पन्द्रह सोलह का होगा...........!

चंचला कुछ क्षणों तक इन सुखद विचारों और स्मृतियों में डूबती-उतराती रही और गृह-व्यवस्थापिका उसके मुख-मंडल पर प्रतिबिम्बित होने वाले भावों का अध्ययन करने में मग्न रहीं। चंचला को पत्र पाने के लिए अतीव उत्सुक देखकर उनके मन में विनोद करने की इच्छा जाग्रत हो गई। उन्होंने कहा—"परन्तु मैं सोचती हूँ कि वह पत्र तुम्हें न दिया जाय।"

चंचला हतप्रभ-सी हो गई। उसकी मुद्रा एकदम बदल गई। खिन्नता-भरे उलाहने के स्वर में उसने पूछा—"क्यों?"

"देना नियमों के विरुद्ध होगा"—व्यवस्थापिका ने और छेड़ा।

"क्या उसमें कुछ खराब बात लिखी है?" चंचला कुछ-कुछ उग्र हो चली।

"नहीं, परन्तु तुम्हारे पिता की दी हुई सूची में उसका नाम नहीं है।"

"तो, मत दीजिए"—रूठ कर चंचला ने कहा और वह चलने लगी। व्यवस्थापिका ने शायद महसूस किया कि मामला बिगड़ रहा है। बादल और वर्षा का सामना करने की हिम्मत उन्हें न हुई। उन्होंने उसे बुलाकर हँसते हुए कहा—"नाराज़ हो गई!"

चंचला ने कोई उत्तर न दिया। वह उदास भाव से सिर लटकाए खड़ी रही।

व्यवस्थापिका ने फिर कहा—"तो क्या नियम-विरुद्ध काम किया जाय?"—और वह बराबर मुसकराती रहीं।

"जी नहीं, मुझे पत्र नहीं चाहिये"—वैसी ही खिन्नता के साथ चंचला ने उत्तर दिया। उसकी आँखों से मोतियों के समान दो आँसू उसके कपोलों पर ढुलक गये।

व्यवस्थापिका ने विनोद के अतिरेक को समझ लिया। वह उठीं और प्यार से उसे पकड़ कर उन्होंने अपनी साड़ी के पल्ले से उसके आँसू पोंछते हुए कहा—"पगली, इतना-सा विनोद भी नहीं समझती!"

चंचला का बाँध फूट पड़ा। न जाने कितने दिनों की घनीभूत पीड़ा छल-छल करती हुई आँखों की राह बह निकली। माता-पिता की याद हो आई। कदाचित् वह महसूस करने लगी कि इतने बड़े समाज में रहती हुई भी,

अध्यापिकाओं और सखियों का प्रेम प्राप्त होने पर भी, बिना माता-पिता के मैं यहाँ एकाकी हूँ !

व्यवस्थापिका ने उसे छाती से चिपटा लिया। उनका हृदय भी मानो पुत्री के दुःख से व्याकुल हो उठा। वह बालपन से ही बड़े प्रयत्न के साथ वैधव्य की वेदना अपने हृदय में छिपाए आ रही थीं। अपने वात्सल्य-भाव की तृप्ति वह छोटी-छोटी बालिकाओं की सेवा से ही कर लिया करती थीं। जब कभी उनके हृदय की करुणा को आँसू बन कर निकलने का अवसर मिलता तब वह अपने आपको धन्य समझतीं। ऐसा एक अवसर विनोद में ही उन्हें आज मिल गया। उनका बाँध भी रोके न रुका। उन्होंने चंचला को बलपूर्वक अपने वक्ष में दाब लिया और उसके सिर पर टप-टप-टप अनेक आँसू ढाल दिये।

दोनों क्षण भर निस्तब्ध रहीं। बाद को व्यवस्थापिका ने अपने आपको संभाल कर, चुपके से अपने आँसू पोंछ कर, चंचला के आँसू पोंछ दिये।

चंचला अपना पत्र लेकर चली गई, परन्तु व्यवस्थापिका को यह अवसर कई दिन बाद मिला था; अतएव उन्होंने अपने कमरे का द्वार बन्द कर बहुत देर तक उसे नहीं खोला। कदाचित् हृदय में सञ्चित व्यथा को निकालने में ही उन्हें इतना समय लगा होगा।

× × ×

"प्रिय बहिन !"—पत्र में यह संबोधन देखते ही चंचला का हृदय उछल पड़ा। उसके न कोई भाई था और न बहन। अनेक बार दिल मसोसते हुए उसने भाई-बहन के अभाव का अनुभव किया था। भइया-दूज और रक्षा-बंधन जैसे त्योहार तो मानो उसके हृदय के दैन्य को ही प्रकट करने के लिए आते रहे थे। आज उसे "बहिन" कहने वाले किसी भाई का आगमन-सा प्रतीत हुआ। उसने आगे पढ़ना शुरू किया—

"मैं अपने जीवन में यह पहला पत्र डाक द्वारा भेज रहा हूँ। तुम जानती हो, संसार में मेरे लिए एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं रहा जिसे मैं पत्र लिखता और जिसके सम्मुख इस साधन द्वारा अपने मनोभावों को प्रकट करता............।"

चंचला के मन में करुणा का उद्रेक हुआ।

"........आज सुबह मैं तुम्हें लिखने बैठा तो मेरे सामने एक समस्या आ खड़ी हुई। मैं उलझन में पड़ गया कि तुम्हें क्या लिख कर संबोधित करूँ ! अनेक शब्द मेरे मन में आए और चले गए। निर्णय पर आना असंभव मालूम

पड़ने लगा। आरंभ में ही इस उलझन में पड़ जाने के कारण जी में आया कि लिखने का विचार ही छोड़ दूँ। आखिर कागज़-कलम अलग रखकर दूसरे कामों में लग गया.......।"

चंचला जोर से हँस पड़ी। उसका हृदय बोल उठा—"खूब! आप अभी तक वैसे ही बुद्धू बने हुए हैं!" उसने पत्र आगे पढ़ा—

"........परन्तु तुम हँसोगी........"

चंचला फिर हँसी। मन ही मन उसने कहा—"नहीं तो क्या रोऊँगी!" और फिर पढ़ना शुरू किया—

"......परन्तु तुम हँसोगी—जैसे-जैसे मैं अपनी इच्छा को दबाने की कोशिश करता वैसे-वैसे ही वह ज़्यादा बढ़ती जाती थी। आख़िर लिख डालने का संकल्प करके फिर से कागज़-कलम उठाकर बैठ गया। मन में थोड़ी-सी बहादुरी आई........"

"बलिहारी इस बहादुरी की"—चंचला ने गुदगुदी के साथ महसूस किया। फिर—

".....मन में थोड़ी सी बहादुरी आई और सोचा कि यह कौन सा बड़ा भारी मसला है, सीधे-सादे नाम से ही क्यों न संबोधित करूँ? परन्तु यह बहादुरी भी बहुत देर टिक न पाई। फिर विचार बदल गया—केवल नाम से कैसे संबोधित करूँ? अब तो तुम बड़ी हो गई होगी। विशेषण जोड़कर "प्रिय चंचला" लिख देना भी बड़ा उद्धततापूर्ण और रूखा जँचा। इसमें भावनाओं की अभिव्यक्ति तो होती ही नहीं! आख़िर "प्रिय बहिन" पर आकर दिल रुका। क्षणभर के लिए बड़ा संतोष हुआ। परन्तु......."

पढ़ते-पढ़ते चंचला खिन्न हो उठी—इसमें भी "किन्तु-परन्तु की गुंजाइश है ही। कितना अच्छा संबोधन! कितना अच्छा रिश्ता! इससे भी संतोष नहीं! ठीक ही है, बहन की कितने लोग कामना और चिन्ता करते हैं! बहन भले ही भाइयों के लिये प्राण देने को तैयार रहे...........!

"........परन्तु, वह केवल क्षण भर के लिए ही था। मुझे यह सम्बन्ध झूठा मालूम हुआ। दूसरे-दूसरे माता-पिता से उत्पन्न लड़कों और लड़कियों के बीच का यह रिश्ता पल सकता है? क्या इसके पालन के लिए उन्हें अनावश्यक—और फिर भी आवश्यक—घोर मर्यादाओं का पालन नहीं करना पड़ता? क्या ऐसा करने के लिए उन्हें दूसरों की कृपा पर निर्भर नहीं रहना पड़ता? और फिर, व्यावहारिक रूप में समस्त मर्यादाओं का पालन करते हुए, अपने स्वजन-

परिजनों और समाज की कृपा प्राप्त करके भी ऐसे कितने बहन-भाई जीवन में एक दूसरे के काम आ सकते हैं ?........"

चंचला की आँखों पर से मानो पर्दा हट गया। उसके मन ने पत्र में व्यक्त तर्क का समर्थन किया। उसके चेहरे पर निराशा की एक स्पष्ट रेखा खिंच गई। उसने पढ़ना जारी रखा—

"........तुम महसूस करोगी कि इस रिश्ते के मूल में ही निराशा की शिला प्रस्तुत है। काश बहन होती! मन ने एक बार फिर झोंका खाया। उस रिश्ते के विचार को खदेड़ भगाने की इच्छा ने जोर पकड़ा। किन्तु, यह नहीं तो क्या? कोई दूसरी बात सूझ न पड़ी। यह रिश्ता निराशामय है, अंशतः झूठा और विडंबनामय है, फिर भी दूसरे तमाम रिश्तों से अधिक काम-चलाऊ और सरल है। इसलिए, तमाम त्रुटियों को महसूस करते हुए भी मैंने इसी को स्वीकार कर लिया........।"

बालिका की निराशा अब पूर्ण हो गई—सचमुच ही यह रिश्ता कच्चे धागे के समान कमज़ोर बना दिया गया है। अह! यदि लड़कों और लड़कियों के बीच भाई-बहन का रिश्ता भी मज़बूती के साथ न गँठ सके तो और कौन-सा रिश्ता सच्चा हो सकता है? दूसरे किस रिश्ते में इतनी पवित्रता और सरलता है? संसार का दुःसाध्य त्याग, मानव की कठिन तपस्या, हृदय की तरल सद्-भावना, प्रकृति का सरल-सुलभ प्रेम—सभी तो एक साथ इस रिश्ते में भरा हुआ है। फिर भी मनुष्य इसे सहन क्यों नहीं कर सकता? मनुष्य का हृदय इतना शंकित और इतना संकुचित क्यों होता है?.........लम्बी ऊहापोह के पश्चात् पत्र-वाचन आगे बढ़ा—

"तो आखिर, 'प्रिय बहन!' यह भूमिका बहुत लम्बी हो गई। तुम पढ़ती-पढ़ती ऊब गई होगी। क्षमा करना। इधर मैं कई दिनों से बराबर सोच रहा था कि तुम्हें एक पत्र लिखूँ। परन्तु न जाने क्यों लिख न पाया। आज लिखने बैठा तो उपर्युक्त रिश्तेदारी की भावनाओं में बह गया। उन्हें रोका तो अब सूझता ही नहीं कि क्या लिखूँ। सोच रहा हूँ कि जब कोई बात लिखने को थी ही नहीं तो इतना उत्सुक क्यों हो रहा था। कुछ भी हो, अब इस पत्र को भेज अवश्य दूँगा।"

"तुम्हें वहाँ गए छः वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस बीच तुम एक बार भी घर नहीं आईं। जब कभी तुम्हारे पिता जी से तुम्हारे समाचार मिलते हैं तो बड़ी प्रसन्नता होती है। इस बार जबसे वह तुमसे मिलकर आए तबसे तुम्हारी बहुत प्रशंसा करते रहते हैं। तुम्हारे बारे में बातें करते-करते वह गद्‌गद् हो जाते

हैं। वह महसूस करते हैं कि पूरी शिक्षा लेकर जब तुम वहाँ से निकलोगी तब सारे देश में तुम्हारी ख्याति फैल जायगी........।"

चंचला की भावनाएँ उमड़ पड़ीं। माता-पिता का रूप उसके सामने आ गया। उनके प्रति उसका हृदय प्रेम और कृतज्ञता से ओतप्रोत हो गया। बचपन से अब तक का अपना सारा जीवन उसने याद किया—पिता ने मेरे लिए कितने कष्ट सहे हैं। और मा का मुझ पर कैसा अक्षय प्रेम है! भगवन्! मेरे माता-पिता की मनोकामना पूरी करो। मुझे शक्ति दो मैं उनकी इच्छा के अनुकूल बनूँ! मेरे कारण मेरे माता-पिता गौरवान्वित हों और दीर्घकाल तक सुखमय जीवन व्यतीत करें!—पत्र में आगे लिखा था—

"........तुम्हारे पिता जी की बातों से मेरे सामने हम दोनों के बालकपन की तमाम स्मृतियाँ मूर्त्त रूप में आकर खड़ी हो जाती हैं। हम दोनों के बीच की लड़ाइयाँ, बार-बार तुम्हारा रूठना और मेरा तुम्हें मार-मार कर भाग जाया-करना आज सोचने में बड़ा मधुर मालूम होता है। तुम्हें भी तो याद आती होगी? परन्तु मुझे भय है कि तुम एकदम गंभीर न बन गई हो। और कहीं मुझे भी भूल न गई हो। क्या तुम पत्रोत्तर दोगी?—तुम्हारा भाई, जीवनचंद्र।"

चंचला ने पत्र समाप्त करके उसे यत्न से रख दिया और वह दूसरे कामों में लग गई। परन्तु किसी काम में उसका मन न लगा। एक गहरी वेदना और व्याकुलता से उसका हृदय भर गया। कभी वह अत्यन्त खिन्न दीख पड़ती, कभी सहसा प्रसन्न। उसके अंतर में कोई गंभीर मंथन होता रहा।

आखिर पत्र में कौन सी ऐसी बात थी जिससे वह इतनी उद्विग्न हो गई? उसने दुबारा पत्र को पढ़ा, तिबारा पढ़ा और फिर कई बार पढ़ा, परन्तु किन स्थलों पर पहुँचकर उसका मन अटकता था? उसका मन संतुष्ट क्यों नहीं होता था?

चंचला चौदह वर्ष की हो चुकी थी। स्वस्थ और भावुक थी। प्रकृति के सौंदर्य और उसकी मादकता ने उस पर अपना असर डालना शुरू कर दिया था। फूलों और पत्तियों में, बाग और तड़ाग में अब वह रस ढूँढ़ने लगी थी। कौए की काँव-काँव अब स्पष्टतः उसे कर्कश मालूम होती, किन्तु जब कहीं कोयल बोल जाती तो उसका हृदय उसके संदेश को समझने के लिये आतुर हो उठता। टाँके में पड़ी हुई रंग-बिरंगी मछलियाँ, बाग में नाचने वाले मोर और क्रीड़ा करते हुए सारसों के युग्म अब उसके अंदर संकोच पैदा कर देते। मेघों से, चाँदनी से, अँधेरिया से, सूर्य की किरणों से अब वह एक ही प्रश्न करना चाहती—तुम अपने अंदर कौनसा रहस्य छिपाए हुए हो? एकान्त उसे प्रिय

लगने लगा था, परन्तु जब कभी वह एकान्त में होती और उसके पास कोई आ जाता तो वह चौंक पड़ती और फिर झिझक जाती।

ऐसी थी चंचला की अवस्था। फिर क्या आश्चर्य कि वह अपने शैशव के साथी का, जो अब तरुण है, प्रथम और भावुक पत्र पाकर आकुल हो उठी?

हाँ, उसने सोचा कि जीवन कितना अच्छा लिख लेता है। परन्तु बहिन-भाई के रिश्ते के संबंध में उसने जो कुछ लिखा है वह क्या ठीक है? क्यों भला यह रिश्ता पाला नहीं जा सकता? बादशाह हुमायूँ ने कितनी अच्छी तरह मेवाड़ की महारानी कर्मवती के साथ अपना भाई का रिश्ता निभाया था! खड्ग बहादुरसिंह का किस्सा तो अभी ताजा ही है!

वह अपने कमरे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमने लगी। कोई सामने आ जाता तो उसे अच्छा न लगता, इसलिए उसने कमरे का दरवाज़ा बंद कर दिया। अब उसे विचार करने के लिए अच्छा मौका मिला।

वह अपने मन की व्याकुलता को स्पष्टतः समझने लगी। उसने सोचा, पत्र में ऐसी बात ही कौन सी है कि मैं बेचैन हो जाऊँ? बहिन मानना न मानना जीवन के अधिकार में है। वह मुझे कुछ भी माने, मुझे इससे क्या? परन्तु क्या मुझे अधिकार है कि मैं उसकी भावनाओं का उत्तर न दूँ? उसने मुझे प्रथम पत्र लिखा है। बड़ी आशा से वह उसके उत्तर की प्रतीक्षा करता होगा। केवल सभ्यता के नाते भी तो मुझे उसको उत्तर देना ही चाहिए। मालूम होता है, मेरे माता-पिता उसे प्यार करते हैं। कहीं उनकी ही प्रेरणा से उसने मुझे लिखा हो तो?

माता-पिता का स्मरण होते ही बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ उसे धरती से उड़ा चलीं। क्या मैं सचमुच बापू और अम्मा की आशाओं को पूरा कर सकूँगी? मैं ज़रूर करूँगी। पढ़-लिखकर मैं पैसा कमाऊँगी और बापू से कहूँगी—बापू, मुझे ही आप अपना लड़का समझिये। मेरे भाई नहीं है तो क्या हुआ? मैं स्वयं ही लड़के की सब जिम्मेदारियाँ अदा करूँगी। और जब बापू कमाने के कष्ट से मुक्त हो जायँगे तब मुझे कितना आनन्द होगा! रोज़ रात को मैं अम्मा और बापू के पैर दाबा करूँगी। कितना सुख होगा उन्हें! परन्तु अम्मा क्या उस समय भी मेहनत करने से छुट्टी न पायेंगी? उन्होंने कितना कष्ट सहा है! नहीं, मैं स्वयं घर का सब काम कर लिया करूँगी। अम्मा और बापू सिर्फ........! तो वे बैठे-बैठे अपना दिन भर का समय काटेंगे? यह तो उनके लिए सज़ा हो जायगी! घर में कोई बच्चे भी तो नहीं........! परन्तु मेरा तो विवाह हो जायगा! फिर भी क्या मैं बापू और अम्मा की सेवा

कर सकूँगी ? कौन जाने कैसा घर मिलेगा ! मेरी चलेगी कि नहीं ! तो क्या मैं कुछ भी न कर सकूँगी ? नहीं, यह नहीं हो सकता । मैं उनकी सेवा अवश्य करूँगी । यदि मैं विवाह करूँ ही न तो ? बापू से कहूँगी कि आप अपना कमाना-धमाना छोड़ कर हरिजनों की सेवा में लग जाइये । अम्मा भी स्त्रियों के बीच काम करेंगी । उन दोनों को क्या इससे संतोष न होगा ?

भोजन का समय हो चुका था । सभी बालिकाएँ भोजन-गृह में पहुँच चुकी थीं । आज परोसने की जिम्मेदारी चंचला पर थी, परन्तु उसने घंटी सुनी ही नहीं । वह अपने विचार और कल्पना के सागर में निमग्न रही । एक बालिका ने आकर जब उसका द्वार खटखटाया तो वह चौंक उठी । जल्दी से पत्र को तकिया के नीचे छिपा कर उसने दरवाज़ा खोला और फिर कृत्रिम हँसी हँसती हुई शीघ्रता के साथ वह उसके साथ बाहर निकल गई ।

× × ×

चंचला ने जीवन को पत्र लिख दिया—

प्रिय जीवनचन्द्रजी,

सादर नमस्ते ! आपका कृपा-पत्र मिला । मैंने स्वप्न में भी कभी आपका पत्र पाने की आशा न की थी । अतएव सहसा उसे पाकर आनन्द भी हुआ और कौतूहल भी ।

आपने भाई-बहन के सम्बंध में बहुत कुछ लिखा है । यों तो इस रिश्ते से अच्छा कोई दूसरा रिश्ता है ही नहीं, किन्तु आपको मैं बाल-सखा ही मानना चाहती हूं । मेरे कोई सहोदर नहीं है । यह अभाव मेरे मनमें एक लालसा जाग्रत रखता है । आपको बन्धु-रूप में पाकर कहीं वह नष्ट न हो जाय । इसलिए मेरा और आपका जो सम्बंध है वही कायम रहे । कृपा कर आप मुझे नाम से ही संबोधित किया कीजिये ।

आपकी शुभेच्छुका,

चंचला

५

रंग में भंग

भंग में रंग

गुरुकुल में वसन्तोत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं। वहाँ के छोटे-से संसार में वसन्त मानो सजीव रूप धारण करके उपस्थित हो गया था। जगह-जगह लगे हुए पौधे मस्ती बिखेर रहे थे और मदमाती हवा उमंगों और कल्पनाओं का नया संसार निर्मित कर रही थी। वसंती रंग के वस्त्र पहने हुए छात्राएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो वसंत का साम्यवादी संदेश पूरा कर रही हों।

सभा-भवन में एकत्रित होकर कुछ छोटी-छोटी छात्राएँ संगीत एवं नाट्य के कार्यक्रम की तैयारी कर रही थीं। कुछ छात्राएँ तोरण और बन्दनवार बाँध रही थीं, कुछ भवन को सजा रही थीं और कुछ रंगभूमि की रचना में निमग्न थीं।

एक छोटी बालिका सुमधुर कंठ से मनोहर अभिनय के साथ गीत गा रही थी। चंचला सितार बजाकर उसे सिखा रही थी। नाचते हुए चारों ओर घूमकर और हाथ फैलाकर बालिका ने गाया—

"फिर फूलों वाली ऋतु वसन्त की आई।"

चंचला ने कहा—"बहुत ठीक। थोड़ा और धमक के साथ शुरू करो।

बालिका ने उसके कहने के अनुसार फिर गाया। इस बार उसने अंगुलियों को जरा गोल करके फूलों की मुद्रा भी दिखाई। चंचला बहुत प्रसन्न हुई और बालिका दूसरे चरण पर बढ़ी—

"फिर फूलों वाली ऋतु वसन्त की छाई।"

बालिका ने चारों ओर घूमने की गति मंद कर दी और "छाई" पर अपने दोनों हाथ खोल कर दाहिनी ओर से बाईं ओर को लहराये। चंचला ने प्रसन्न होकर कहा—"खूब!" अब दोनों कड़ियों को एक साथ गाओ। बालिका ने आज्ञा का पालन किया और गीत आगे बढ़ा—

"आई दक्खिन से हवा हरस की माती।
"भर गई पुलक से दुनिया भर की छाती।
"आगमनी सुख की कोयलिया ने गाई।। फिर फूलों।।"

गायन सुन कर बहुत-सी बालिकाएँ वहाँ एकत्रित हो गईं और सब अपना-अपना आनन्द व्यक्त करने लगीं। बालिका ने गाया—

"हँस पड़े फूल, खिल गईं कली रस-भीनी।
"टेसू ने शोभा कमल-दलों की छीनी।
"छूकर सरसों का गात वात लहराई।। फिर फूलों।।"

अभिनय में कोई त्रुटि नहीं थी। चंचला ने कहा—अपने चेहरे को और भी प्रसन्न रखो।" बालिका आगे बढ़ी—

"भर गया किरन के साथ लहर में सोना।
"हो गया अनोखा जग का कोना-कोना।
"हर दिशा सुधा से मानो गई नहाई।। फिर फूलों।।"
"लो, उतरा सुख का कटक आम के वन में।
"बस गई मौर की महक हमारे मन में।
"बज उठी अचानक भौंरों की शहनाई।। फिर फूलों।।"

"शहनाई" के बाद बालिका ने ऐसा अभिनय किया मानो वास्तव में शहनाई बज रही हो। उसे देखकर उपस्थित बालिका-समाज खिलकर हँस पड़ा। बालिका ने गायन जारी रखा—

"हर जंगल ने मंगल का साज सजाया।
"अपनी पृथ्वी से नभ भी आज लजाया।
"मधु-ऋतु ने इसको विजयमाल पहिनाई।। फिर फूलों।।"
"हम चलें सुनें कोयल की मधुरी बोली।
"खिल उठे कली की तरह हमारी टोली।
"भर जाय हमारे गीतों से अमराई।। फिर फूलों।।"

गायन समाप्त हुआ और उपस्थित बालिका-समाज ने ज़ोरों से तालियाँ पीटीं। चंचला ने दौड़कर बालिका को हृदय से लगा लिया।

एक बालिका ने चंचला की प्रशंसा करते हुए कहा—"बहन, आपने इसे खूब सिखाया है!"

"वाह-वाह!" चंचला ने उत्तर दिया—"गुणी को एक ओर रखकर आप संगी-साथियों की प्रशंसा कर रही हैं! क्या वह मेरे सिखाने से इतना अच्छा नाचती-गाती है? यह तो उसकी स्वाभाविक कला है।"

"तो क्या आपके बिना सिखाये ही वह यह सब सीख गई ?"

"बेशक ! मैंने तो ज़रा-सा सहारा-भर दिया है।"

इतने ही में एक दूसरी छोटी लड़की बोल उठी – "दीदी, कल आपकी वर्षगाँठ है न ?"

चंचला को स्वीकार करना पड़ा।

"तो आपको भी कल नृत्य करना होगा"—और सब बालिकाओं ने इस आग्रह में अपना स्वर मिलाया। चंचला ने बहुत खिसकना चाहा पर उसकी एक न चली। आखिर उसने हामी भर दी।

उत्साह में उत्साह की वृद्धि हुई। आतुरता के साथ "कल" की प्रतीक्षा होने लगी। और वह कल आया। बहुत-सा कार्यक्रम सम्पन्न हो गया। सारे समाज में आनन्द का स्रोत उमड़ रहा था। बालिका के गायन और नृत्य ने दर्शकों को मुग्ध कर दिया था। अब चंचला की रंगभूमि पर आने की बारी थी।

समारोह की संयोजिका ने रंगभूमि पर आकर घोषित किया—"अभी-अभी जो नृत्य और संगीत हो चुका है और जिसने आपके हृदयों में आनन्द की लहर दौड़ा दी है उसकी तैयारी का श्रेय हमारी जिन चंचला बहन को है वह स्वयं अब रंगभूमि पर आकर अपनी वर्षगाँठ के उपलक्ष में कला का प्रदर्शन करेंगी।"

दर्शकगण उत्सुकता के साथ चंचला के रंगभूमि पर आने की प्रतीक्षा करने लगे। धीरे-धीरे रंगभूमि के अन्दर से घुंघरुओं की झंकार आनी शुरू हुई। एक बार ज़ोर की झंकार के बाद पट उठाना शुरू हुआ। रंगभूमि पर घुँघरू बँधे हुए दो चंचल चरण दिखलाई दिये। पट और उठा। गति बढ़ाते हुए चरण कुछ और अधिक दिखलाई पड़े। पर उनके साथ अब शीघ्रता से प्रवेश करने वाले दो चरण और उपस्थित हो गये। कुछ बात हुई। सन्नाटा हुआ। पर्दा फिर से गिर गया।

गुरुकुल की आचार्या रंगभूमि के बाहर दर्शकों के सामने आकर खड़ी हुईं। उनकी मुखाकृति पर असाधारण गंभीरता और क्लेश की छाया थी। उन्होंने टूटे हुए शब्दों में दर्शकों से क्षमा मांगते हुए कहा—"चंचला अपना कार्यक्रम पूरा न कर सकेगी। उसके घर से अभी-अभी तार आया है। उसके पिता हैज़े से सख्त बीमार हैं। उसे तुरंत बुलाया गया है। गाड़ी के लिए बहुत थोड़ा समय बाकी है। उसे इसी समय यहाँ से रवाना होना होगा।...."

सारे समाज में निराशा तथा उदासी छा गई। थोड़ी देर के लिए उत्सव

रुक गया। बाद को वह फिर शुरू हुआ परन्तु तब न उसमें रस शेष रह गया था और न उत्साह।

चंचला के हृदय पर असावधानी में यह वज्राघात हुआ था, जिसकी पीड़ा से वह अत्यन्त विकल हो उठी थी। वह गई। उसकी सखियाँ भरे दिल से उसकी याद करने लगीं। उन्हें उसके शीघ्र ही लौट आने की आशा थी। आशा! तू कितनी वंचक है!

× × ×

रेलगाड़ी धड़-धड़ करती जा रही थी और चंचला के मन के अंदर एक दूसरी रेलगाड़ी ठीक उसी तरह धड़धड़ा रही थी। उसकी दृष्टि के सम्मुख अनेकानेक वृक्ष, तार के खंभे, खेत, खलिहान, नदी और जंगल आते और चले जाते और उसका मन एक गुह्य वेदना से पीड़ित होकर महसूस करता कि यह सब दृश्य कितना क्षणिक है! साँस लेते-लेते कितनी चीज़ें दृष्टि से गुज़रती चली जाती हैं। किसी-किसी दृश्य पर जाकर उसका मन अटकना चाहता, परन्तु ऐसे दृश्य मानो और भी जल्दी दृष्टिपथ से ओझल हो जाते। जो प्यारा है वह जल्दी जाता है! उसका हृदय एक बार काँप उठा। क्या यह सच है कि जो प्यारा है वह जल्दी जाता है? नहीं नहीं! जो प्यारा है उसे पकड़कर रखने का हक़ होता है। उसका सन्निकर्ष चिरंतन होता है। कोई शक्ति उसे छिपा नहीं सकती। जो प्यारा है उसके लिए बलिदान किया जाता है। बलिदान अनेक को एक में परिवर्तित कर देने की शक्ति रखता है। वह खोई हुई वस्तु से साक्षात्कार करा देता है, अँधेरे में प्रकाश और अभाव में भाव उत्पन्न कर देता है।

एक स्टेशन पर गाड़ी ठहरी। एक पिता अपनी नव-विवाहिता पुत्री को उसके पति के साथ विदा करने के लिए स्टेशन पर आया था। बेटी को चंचला के डिब्बे में बैठाता हुआ वह रो पड़ा। बेटी अपने घूँघट के अन्दर से हृदय चीरकर निकाल रही थी। देखते-देखते गाड़ी ने सीटी दे दी। युवक दामाद से नितान्त दीनता और करुणा भरे स्वर में ससुर ने कहा—"बेटा, यह लड़की मुझे बहुत प्यारी है; इतनी छोटी उम्र में ही मुझसे अलग हो रही है; अब यह तुम्हारे हाथ में है; इसे अच्छी तरह रखना.....!"

चंचला ने सोचा—अह! पिता-पुत्री के हृदय में विछोह की कितनी वेदना है! कितना प्रेम है इनमें! और यह बालिका अभी कितनी छोटी है! क्या एक दिन मैं भी ऐसे ही जाऊँगी? क्या मेरे माता-पिता भी इसी तरह दुखी होंगे? नहीं नहीं; मैं नहीं जाऊँगी। मैं विवाह ही नहीं करूँगी। मेरे

बापू और अम्मा का मुझ पर कितना प्रेम है ! और मैं उन्हें कितना प्यार करती हूँ ! परन्तु यदि कहीं मैं मर गई तो ? तब तो बापू......

और, बापू !—वह बीमार हैं ! सख्त ! भगवान्, कहीं कोई अशुभ न हो जाय ! मेरे बापू चिरकाल तक जीवित रहें ! परन्तु—जो प्यारा होता है वह जल्दी जाता है ! वह विह्वल हो उठी—नहीं नहीं, यह सच नहीं है। मेरे बापू जियेंगे। वह मुझे बहुत प्यारे हैं। मैं उन्हें यम के हाथों से भी छीन लाऊँगी।

जो प्यारा है वह जल्दी जाता है ! तो मैं बापू को प्यार नहीं करूँगी। तब तो वे रहेंगे ? मैं उन्हें प्यार नहीं करती, नहीं करती, नहीं करती !—उसकी आँखों से अजस्र जल-धारा बह रही थी।

पास में बैठी हुई वृद्धा ने पूछा—बेटी, तू रो रही है ? क्या हो गया तुझे ? तू कहाँ जायगी ? तेरे साथ और कोई नहीं है ?

चंचला का रहा-सहा धैर्य भी टूट गया। सहानुभूति ने बाँध को बेध देने का काम किया। वह कुछ उत्तर न दे सकी। खिड़की से बाहर मुँह निकाल कर बैठ गई और जल-प्रपात न जाने कितनी देर तक पृथ्वी को भिगोता रहा। परन्तु वह जल-प्रपात धरती माता के दाह को शान्त करता था अथवा उसमें अधिक ऊष्मा उत्पन्न करता था ?

क्षण-भर के लिए चंचला को भान हुआ कि समग्र चर-अचर सृष्टि हाथ फैला कर उसे बुला रही है। उसने सिर उठाकर सब ओर देखा तो सारा काम जैसा-का-तैसा चल रहा था। रेलगाड़ी वैसे ही वेग से चली जा रही थी, सूर्य भगवान् अब भी उतनी ही दूरी पर यात्रा कर रहे थे, इधर-उधर अब भी खेत-खलिहान वैसे ही भागते हुए दिखाई पड़ रहे थे। डिब्बे के अन्दर अब भी वह नव-वधू बैठी रो रही थी, अब भी वह वृद्धा ऊँघ रही थी, अब भी वह रोगी पड़ा हुआ कराह रहा था और अब भी उस बालिका का पति आंतरिक आनन्द से प्रफुल्लित हो पास के लोगों के साथ पत्ते खेल रहा था। जो कुछ भी दिखलाई देता था वह सब अपने ही रंग में रँगा हुआ ! किसी को भी किसी दूसरे की परवाह नहीं ! फिर अभी-अभी कौन उसे पुकार रहा था ? किसे उसकी व्यथा पीड़ा पहुँचा रही थी ?

गाड़ी का रुख ज़रा बदला तो सूर्य की किरणें खिड़की के मार्ग से उसके शरीर पर पड़ने लगीं। सूर्य से चलकर, लाखों योजनों का मार्ग तय करके क्या वे उससे ही मिलने आई थीं ? क्या वे उसके लिए कोई नया समाचार लेकर आई थीं ? उसने मन-ही-मन कहा—किरणो, तुम सब जगहों में यात्रा करती हो, क्या तुम मुझे मेरे बापू का समाचार नहीं दे सकतीं ? परन्तु किरणें

मानो यह प्रश्न सुनते ही लुप्त हो गई। अह ! कितनी निष्ठुरता ! हवा के झोंके से उसकी साड़ी का पल्ला उड़ गया। उसे संभालते हुए मानो उसने झोंके को पुकारा, उसे पकड़ने दौड़ी ....!....ए........! परन्तु वह क्यों ठहरने लगा ? तो क्या कोई भी उसकी व्यथा सुनने को तैयार नहीं ?

परन्तु कोई उसे पुकार अवश्य रहा था। इस बार उसने साफ़-साफ़ सुना—बे ` ` ` टी ी ी ी........! वह और भी विकल हो उठी—यह आवाज़ तो मेरे बापू की है ! हाँ, ठीक वही आवाज़ है ! वह चिल्लाना ही चाहती थी—"आई बापू !" परन्तु उसने उसी क्षण देखा, बापू कहीं नहीं हैं—रेलगाड़ी वैसे ही चली जा रही है ! उसके हृदय में एक ज़ोर का धक्का लगा। उसने आँखें बंद कर लीं और जब वे खुलीं तो देखा, गाड़ी किसी बड़े स्टेशन पर खड़ी है। यात्री उतर-चढ़ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति शीघ्रता में है। कोई किसी के लिए रुकना नहीं चाहता। केवल रेलगाड़ी रुकी हुई थी और वे रुके हुए थे जो कौतुक-प्रिय थे और वे रुके हुए थे जिनके दिल में कोई आशा पैंगें भर रही थी—परन्तु उनके मनमें भी आतुरता थी, जो उनकी आँखों में स्पष्टतः अंकित दीख पड़ती थी।

चंचला स्टेशन की उस भीड़ में अपने पिता को खोजने लगी। वह अब भी पिता की पुकार सुन रही थी। पर वह वहाँ कहाँ ? उसने सहसा एक यात्री से पूछ लिया—क्या यह उज्जैन स्टेशन है ? "उज्जैन नहीं बेटी, यह भोपाल है।" उत्तर सुनकर उसका दिल बैठ गया - यहाँ से तो उज्जैन अभी दूर है ! यहाँ मेरे पिता कहाँ ? वह तो घर में बीमार पड़े हुए हैं !

भोपाल में ही तो उसे गाड़ी बदलनी थी। वह उतर पड़ी और हाथ में बिस्तर लटकाए आगे बढ़ चली। मगर वह किधर जा रही थी ? उधर तो कोई गाड़ी नहीं ! और वह चली ही जा रही थी ! कुछ लोग पीछे से उसकी ओर देख कर आश्चर्य कर रहे थे। एक वृद्ध ने उसके पास जाकर पूछा—बेटी, तुम कहाँ जाओगी ? उसने उत्तर दिया उज्जैन। और वह चलती ही रही। वृद्ध को आश्चर्य हुआ। उसने कहा—उज्जैन की गाड़ी तो पीछे है, तुम इधर कहाँ जा रही हो ? चंचला ने लौटकर देखा तो वह वही वृद्ध यात्री था जो उसके साथ बहुत दूर से यात्रा करता आ रहा था। वह तुरन्त लौट पड़ी और उसने हड़बड़ाहट के साथ पूछा—किधर है उज्जैन की गाड़ी ? वृद्ध उसे अपने साथ लिवा ले चला। परन्तु अवस्था के कारण वह धीरे-धीरे चलता था। चंचला ने कहा—जल्दी चलिये बाबा ! मुझे जल्दी उज्जैन पहुँचना है। बूढ़े ने शांत और मीठे स्वर में उत्तर दिया—बेटी, जल्दी कोई नहीं है; गाड़ी को अभी

बहुत देरी है; और उज्जैन भी तो वह अपने समय पर ही पहुँचेगी ? हड़बड़ाहट करने से क्या लाभ ?

चंचला को होश हुआ कि वृद्ध महाशय ठीक तो कहते हैं। परन्तु वह रेलगाड़ी पर और उसके प्रबन्धकों पर मन-ही-मन नाराज़ होने लगी। क्यों रेलगाड़ी इतनी देरी से रवाना होगी ? क्यों ड्राइवर उसे जल्दी नहीं चला देता !

और वह गाड़ी पर बैठ गई। और बहुत देर की आतुर अपेक्षा के बाद गाड़ी चल दी। उसने ठंडी साँस ली। अब वह तार के खम्भे गिनती, बीते हुए और बाकी मार्ग का हिसाब लगाती हुई चली। एक............दो...... .... सात........अब एक मील रास्ता और कट गया। अब छः स्टेशन बाकी रहे। और इसी प्रकार वह आगे बढ़ने लगी।

एक बच्चा प्यासा था। एक स्टेशन पर पानी पीने लगा। चंचला बोल उठी—जल्दी पी लो, भाई !—मानो उसके पानी पीने के कारण गाड़ी रुकी हो ! उसे होश हुआ तो लज्जित हुई।

और उज्जैन स्टेशन जैसे-जैसे निकट आता गया, उसकी आतुरता बढ़ती ही गई ! उसके मन में झलक सी आई—कहीं पिताजी........! और उसने अपने मन को झिड़क कर वहीं रोक दिया। कैसी अशुभ बात सोचती हूँ मैं ! सभी लोग बीमार होते हैं, फिर क्या उनके बारे में ऐसी ही अशुभ बात सोचना चाहिये ? बापू अच्छे होंगे। वह मुझे लेने स्टेशन पर आयेंगे।

उसका मन फूल उठा।

उज्जैन स्टेशन आ गया। गाड़ी ठीक तरह से खड़ी भी न हुई थी कि वह नीचे कूद पड़ी और गिर पड़ने से उसके पैर में जो चोट लग गई थी उसे बिना देखे ही खड़ी हो गई और अपना बिस्तर उठाकर, इधर-उधर आतुरता के साथ अपने पिता को खोजने लगी। दूर पर उसे एक साफा दिखलाई पड़ा। उसने सोचा—वही हैं; पिताजी स्टेशन पर आ गए हैं। हाँ, वही हैं। वही चाल है वही कद है। वैसे ही हाथ बढ़ा-बढ़ाकर किसी से बातें कर रहे हैं। वह पुलकित हो उठी और दौड़ पड़ी। दूर से ही उसने पुकारा—बापू ! और वह व्यक्ति कुली के सिर पर वहाँ पड़ा हुआ सामान रखाने लगा। चंचला ने निकट पहुँचने पर देखा कि वह कोई दाढ़ी वाले वृद्ध थे, जो इसी गाड़ी से आये थे। वह स्तब्ध रह गई। बाद को इधर-उधर नज़र फैलाकर जल्दी-जल्दी स्टेशन से बाहर ताँगों के पास पहुँच गई।

× × ×

ताँगा, जैसे सैकड़ों कोसों की राह काटता हुआ, घर के सामने जा पहुँचा। चंचला ने दूर से ही देखा कि मा बाहर के दरवाजे के पास नाली के किनारे बैठी कुल्ला कर रही है। उसने दूर से ही पुकारा—अम्मा! और दौड़ कर उसकी देह से लिपट गई। मा का मुख सूख गया था। चंचला से मिलकर कुछ बातें करने के बदले, उसने अपनी आँखों से आँसू ढालने शुरू कर दिये।

"अम्मा, तुम कितनी दुर्बल हो गई!' रुँधे हुए कंठ से चंचला ने कहा।

"मेरी क्या बेटी! जा, अपने बापू से मिल ले। हम पर ऐसी मुसीबत कभी न आई थी।"

"बापू कैसे हैं?"

"तू खुद जाकर देख ले। मैं भी अभी आई।"

चंचला तुरंत अंदर चली गई। मा फिर नाली के किनारे जा बैठी। परन्तु वह वहाँ क्यों बैठी—यह उससे कौन पूछता? जो भी थे उन सबका ध्यान रामलालभाई की ओर था। कौन जानता था कि प्रेम रस्सी के दोनों छोरों को चुपके-चुपके समेट रहा है? शिवरानी को दुबारा उलटी हुई और जिस गड्ढे में उसने उलटी की थी उसे मिट्टी से भर के, मुँह-हाथ धोकर, जल्दी-जल्दी वह अंदर चली गई।

चंचला रामलालभाई की खाट के पास पहुँची तो देखा कि वे मूर्च्छितावस्था में हैं। उसके हृदय की ठेस सौगुनी बढ़ गई। कुछ देर वह सन्नाटे में आकर खड़ी रही और फिर अधीर होकर उसने अपने दोनों हाथों से पिता के मुख को अपनी ओर घुमाकर पुकारा – बापू! परन्तु 'बापू' को होश कहाँ था कि वह उत्तर देते! चंचला के मन में एक साथ अनेक विचार दौड़ गये। आशंकाओं और कुशंकाओं से वह हिल उठी। क्या बापू गए? नहीं, यह नहीं हो सकता। बापू जा नहीं सकते। मैं उन्हें न जाने दूँगी। उसने उनके गाल पर अपना गाल लगाकर फिर थोड़ा हिलाकर कहा—"बापू! आँखें खोलिये। मैं आ गई।"

रामलालभाई ने आँखें थोड़ी खोलीं। चंचला ने किंचित् प्रसन्न होकर फिर कहा—बापू! मैं आ गई।

रामलालभाई ने प्रयत्न करके बड़े कष्ट के साथ उसकी ओर देखा और बोले—"कौन? बेटी? आ गई? मैं बहुत खुश हूँ।" उनकी आवाज़ ठीक तरह से सुनाई भी न पड़ी और उन्होंने फिर आँखें बंद कर लीं।

चंचला हताश होकर वहाँ से जरा सरकी तो देखा कि मा खड़ी-खड़ी आँसू बहा रही है। दोनों के पास मानो एक ही सम्पत्ति थी और वे उसे

अजस्र रूप से खर्च कर रही थीं। आखिर मा ने कहा—जा बेटी, तू स्नान कर ले, तब तक डाक्टर आते होंगे।

और चंचला जैसे ही अंदर चली, वैसे ही पिता ने अपनी कमज़ोर और टूटी हुई आवाज़ में उसे याद किया। वह दौड़कर उनके पास पहुँच गई। पिता ने कहा—बेटी! उन्होंने बड़े प्रयत्न से अपना हाथ उठा कर उसके सिर पर रखा और कहा—खुश रहो! फिर उन्होंने अपनी पत्नी की याद की। वह सामने ही खड़ी थी। उसकी तरफ़ देखकर-उन्होंने कुछ कहना चाहा, परन्तु शब्द होठों से न निकले। एक ज़ोर की हिचकी आई और उनकी आँखें विस्फारित हो गईं और वे शिवरानी पर जम गईं।

शिवरानी एक ज़ोर की चीख मार कर उनसे लिपट गई।

चंचला चीख कर ज़मीन पर गिर पड़ी।

जीवन के साथ डाक्टर आये तो उन्होंने कहा—यह तो गये ही, परन्तु अब पत्नी और बच्ची को बचाना ज़रूरी है। शिवरानी की हालत नाजुक दीखती है।

६

'विवाह न करूँगी'

रामलालभाई की मृत्यु से शहर और आस-पास के गरीबों ने महसूस किया कि उनका कोई सगा-संबन्धी बिछुड़ गया है। उन पर शोक की गंभीर छाया छा गई। गरीबों में एक तो सहज ही सहानुभूति अधिक होती है दूसरे रामलालभाई ने अपना सारा जीवन उनकी सेवा में अर्पित कर दिया था। सेवा में ही उनका जीवन अटका था। जिस दिन अपनी बीमारी के कारण सेवा से वह वंचित हुए उसी दिन उनका दिल टूट गया। उठने-बैठने की शक्ति न होने पर भी वे उजागर को न भूल सके थे। अनेक बार उन्होंने व्यग्र होकर पूछा था—"उजागर की हालत कैसी है? उसकी शुश्रूषा की ठीक व्यवस्था है या नहीं?" शहर में हैजा बहुत जोरों से फैला हुआ था। गरीबों के घर तो उसके भीषण ताण्डव की रंगभूमि ही बन गये थे। धनिकों और मध्यम श्रेणी के लोगों के घरों से भी दो-चार व्यक्ति रोज उठ जाते थे। रामलालभाई दौड़-दौड़कर सबकी सुध लेते और यथा-साध्य सबकी सेवा करते थे। उजागर की सेवा करते-करते ही उन्हें खुद को हैजे ने धर दबाया था और उज्जैन में जितनी अच्छी चिकित्सा हो सकती थी उतनी होने पर भी उनके प्राण-पखेरू उड़ ही गये।

धनिकों और मध्यम श्रेणी के लोगों को उनकी मृत्यु से दुःख नहीं हुआ—ऐसा कहना ग़लत होगा। रामलालभाई के कारण हरिजनों और ग़रीबों के मुहल्ले, घर आदि साफ़ रहने लगे थे। वे धीरे-धीरे अच्छा व्यवहार करना सीख रहे थे। ईमानदारी और परिश्रमशीलता की भी उनमें वृद्धि हो रही थी। इससे लोगों को आराम मिलता था, लाभ होता था। केवल भय इतना ही था कि वे संगठित भी हो रहे थे, अपने अधिकारों को भी समझने लगे थे, इसलिये भविष्य में कभी कोई उपद्रव न खड़ा करें। सो, यह डर व्यक्तिगत रूप से लोगों को नहीं था, केवल उनके प्रतिक्रियावादी नेता चिन्तित थे। परन्तु

रामलालभाई की मृत्यु के इस दुःखद अवसर पर सबने ही शोक प्रकट किया।

परन्तु, इस बीच उनकी पत्नी और पुत्री की ओर भी क्या किसी ने ध्यान दिया? हाँ, डाक्टर साहब दो तीन बार आए और वह शिवरानी को देख कर दवा की व्यवस्था करते रहे। चंचला को उन्होंने शुश्रूषा के विशेष आदेश दे रखे थे और उसे संक्रमण से सावधान रहने की शिक्षा भी दी थी।

बेचारी चंचला! सोलह वर्ष की अनुभवहीन बालिका! कितना धैर्य रखती और कितनी परिचर्या करती? दो रातें जागते बीत चुकी थीं। पेट में अन्न तो दूर, एक बूँद पानी भी नहीं गया था। ऐसी बात नहीं कि वह अकेली हो; घर में इस बीच अनेक स्त्री-पुरुष आये और जब एक चला जाता तो दूसरा आ ही जाता। ऐसा भी नहीं कि घर में अन्न न हो या दूसरों ने भोजन भेज देने की आवश्यकता महसूस न की हो। परन्तु वह पिता कहाँ था जो इस घर में असीम स्नेह से उसे अपने साथ बैठाकर खिलाया करता था? और माता भी कहाँ अपने वात्सल्यपूर्ण रोष और आग्रह के साथ उसे परोसकर खिलाने को तैयार थी? अब तो आग्रह की बारी उसकी थी; सो भी भोजन के लिए नहीं, दवा के लिए। अब प्रेम की भी बारी उसकी ही थी। और, क्या उसके प्रेम का प्रत्युत्तर कहीं से मिलता था?

पिता ने धोखा दिया। जब वह उससे प्रेम करते थे तो वह तुरन्त उसका प्रत्युत्तर देती थी। परन्तु आज जब वह स्वयं उनके प्रेम और उनकी स्मृति में व्याकुल हो रही है तब पिता कहाँ उसे प्रत्युत्तर देते हैं? उसका प्रेम क्या व्यर्थ नहीं हो रहा है? परन्तु क्या प्रेम व्यर्थ होता है? लोग तो कहते हैं कि प्रेम आकाश को छेद कर उसके उस पार तक पहुँच जाता है। वह नई सृष्टि कर सकता है। फिर उसका प्रेम क्या उसके पिता के पास तक नहीं पहुँचता? क्या उसका प्रेम कमजोर है? तो वह और क्या करे? कैसे उसके पिता का प्रत्युत्तर उसे मिले? तपस्या? हाँ, निस्संदेह प्रेम के साथ तपस्या मिलनी चाहिए और वह तपस्या करेगी। वह अपने पिता का बचा हुआ काम पूरा करेगी। फिर भी क्या पिता उसके प्रेम का प्रत्युत्तर न देंगे? यह हो नहीं सकता!

परन्तु स्वयं पिता ने ही उसे क्यों भुला दिया? उसके प्रेम में शक्ति नहीं तो उनके प्रेम में तो है? उसमें तो तपस्या की भी कमी नहीं? शायद वह अपनी अधीरता के कारण पिता की पुकार सुन ही नहीं पाती। पिता तो लगातार उसे पुकार रहे हैं। वह लगातार प्रत्युत्तर दे रही है। परन्तु यह सब स्पष्टता के परे हो गया है। अपने स्थूल और परिमित शरीर को त्याग कर पिता सूक्ष्म और अपरिमित में जा बसे हैं। उनका प्रेम भी सूक्ष्म और

अपरिमित में परिणत हो गया है। वह उसे देखते हैं। उनका प्रेम उसके हृदय का स्पर्श करता है, परन्तु वह उसे पहचानने में असमर्थ है। पहचानने के लिये सूक्ष्म को देखने, सूक्ष्म को महसूस करने की शक्ति चाहिए।

और मा? वह बेचारी पड़ी हुई अपने जीवन के पल गिन रही है। उसके प्राण उड़कर वहाँ जाना चाहते हैं जहाँ परसों ही उसके जीवन की सब से बड़ी निधि पहुँच चुकी है। उस निधि के बिना वह यहाँ रह ही कैसे सकती है? और वह आनन्दित है। इस लोक में रहते हुए उसके और उसके प्राण-धन के बीच बहुत-सी वस्तुएँ, बहुत-से झमेले आ जाया करते थे। अब वह उन समस्त विघ्न-बाधाओं से मुक्त हो जायगी। अब वह अकेली अपने स्वामी की स्वामिनी बनेगी। विवाह के पहले दिन से ही वह कामना करती आई थी कि हम दोनों में विछोह कभी न हो और अपनी इस लोक की यात्रा समाप्त करके हम दोनों एक ही साथ प्रभु के सम्मुख जाकर अपने कार्यों का लेखा-जोखा दें। उसकी यह उत्कट इच्छा पूरी होने को ही है। कदाचित् तुम उसे स्वार्थी कहोगे। शायद कहोगे कि वह कायर है। परन्तु क्या आत्म-समर्पण में स्वार्थ और कायरता होती है? संसार विविधतामय है, असीम है। केवल सिरों की संख्या गिन-गिन कर ही उसमें हृदय का प्रेम वितरित नहीं किया जाता। साधारण मनुष्य के लिए यह भ्रांति का मार्ग है। जो दिखाई देता है और समझ और पहुँच के अन्दर है, उसे प्रतीक मानकर जो संसार से प्रेम करते हैं वे व्यावहारिक व्यक्ति हैं। जो किसी प्रतीक के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देते हैं—चाहे वह प्रतीक अपने भौतिक रूप में कितना ही स्वल्प क्यों न हो—वे अतीव महान् हैं।

शिवरानी को आनन्द-ही-आनन्द था? सो बात नहीं। पति पर अपना ध्यान केन्द्रित करती हुई, बीच-बीच में वह उनके एकमात्र भौतिक चिह्न, एकमात्र मूर्त्त और प्राणमय संस्मरण चंचला पर भी मंडलाती थी। वह सोचती, चंचला को बीच धार में निराधार करके छोड़ जाने से मेरा आत्मार्पण पूर्ण नहीं होगा। उसके लिए मुझे जीना चाहिए और उसका यथा-संभव पालन करते हुए अपनी परम-निधि को भी प्राप्त करना चाहिये। फिर वह स्मरण करती कि मृत्यु भी अपनी लम्बी और आमंत्रणमयी भुजाएँ फैलाकर मेरा स्वागत करने आ ही पहुँची है। तब वह सुख में विभोर हो जाती। ऐसे ही किसी सुखमय क्षण में, होठों पर अपने अंतर का आह्लाद विकसित करती हुई, वह मूर्छा के स्निग्ध अंचल में सरक गई।

माता-पिता की इस रुग्णावस्था में चंचला को बहुत से लोगों से थोड़ी-बहुत सहायता मिली थी। मा की दशा ज्यादा बिगड़ जाने पर डाक्टर

साहब ने एक शुश्रूषकी को भी भेज दिया था, जिसने बड़े मनोयोग के साथ उसकी सेवा की। परन्तु चंचला को जिस व्यक्ति की सहायता से सर्वाधिक धैर्य और संतोष प्राप्त होता, वह था उसका बाल-सखा जीवनचन्द्र।

जब माता की समवयस्का शुश्रूषकी ने समवेदना के साथ चंचला को धैर्य बँधाते हुए कहा कि बेटी, अब तुझे अपनी माता का चिर-वियोग सहन करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए तो वह स्तब्ध हो गई। चार दिन पूर्व ही पिता की मृत्यु के कारण उसके हृदय का समस्त जल नेत्रों के मार्ग से प्रवाहित हो चुका था। अब वहाँ केवल अग्नि-ही-अग्नि शेष थी और वह भीतर-ही-भीतर धू धू करके उसे जला रही थी। शुश्रूषकी की बात सुनकर मानो वह अग्नि भी शान्त हो गई और चंचला नितान्त जड़वत् होकर बैठ रही। कण्ठ में स्वर नहीं, शरीर में क्रिया-शक्ति नहीं, मस्तिष्क में चेतना नहीं। सिर पकड़े वह जमीन पर कितनी देर तक वैसे ही बैठी रही, सो देखने का अवकाश किसे था?

सहसा जीवनचन्द्र ने पुकारा—चंचला!

और चंचला को सुध हुई। उसने उन्मुख होकर देखा। जीवन का चेहरा उतरा हुआ था। वह कुछ बोल न सकी और जीवन के मुख से भी कुछ देर तक कोई शब्द न निकला। कदाचित् दोनों बोलने के लिए एक-दूसरे का सहारा ढूँढ़ रहे थे। अन्त में जीवन ने साहस बटोर कर कहा—"तुम्हें मा याद कर रही हैं।"

मा याद कर रही हैं! वह विद्युत्-गति से उठकर खड़ी हो गई। उसके मुख-मण्डल पर अकस्मात् एक दीप्ति दौड़ गई। एक बार उसे लगा मानो मा अच्छी हो गईं। और वह इस विश्वास को छोड़ न सकी। जीवन से बात करने की उसे फुरसत नहीं थी। मा के कमरे को दौड़ी और सीधी उसके सिरहाने जाकर खड़ी हुई। बड़े प्यार से उसने मा के मुख पर झुककर कहा—"*अम्मा! मैं आ गई। तुमने बुलाया है?*"

मा ने कोई उत्तर न दिया। वह निर्निमेष नेत्रों से उसकी ओर देखती रही। चंचला ने धीरे से अपना सिर उसकी छाती पर रख दिया और रुद्ध कंठ से कहा—"अम्मा! बोलो!" परन्तु हमेशा के अनुसार मा ने अपना हाथ उठाकर उसके सिर को छुआ भी नहीं। चंचला के विश्वास को अब धक्का लगा—कहाँ मा अच्छी हो गईं! वह तो बोलती ही नहीं हैं!

"अम्मा! बोलो न!"—उसने हार्दिक अनुरोध और वेदना-मिश्रित स्वर में फिर कहा। परन्तु मा फिर भी एक ओर ही शान्त और निश्चल दृष्टि

से देखती रही। चंचला ने परिताप के कारण इधर-उधर देखा। जीवन को वह उलाहना देना चाहती थी कि अम्मा ने तो मुझे बुलाया नहीं, फिर तुमने झूठ क्यों कहा। परन्तु जैसे ही वह पीछे की ओर मुड़ी, उसने देखा कि जीवन और शुश्रूषकी दोनों ही खड़े चुपचाप आँसू ढाल रहे हैं। यद्यपि वह कुछ समझ नहीं सकी फिर भी एक छिपी हुई आशंका से काँप उठी। उसने पूछा—जीवन, तुम रो रहे हो? शुश्रूषकी बहन, आप भी?

शुश्रूषकी तुरंत वहां से दूसरे कमरे में चली गई। उसने मुँह से कोई उत्तर नहीं दिया। जीवन ने रोते हुए कहा—चंचला, मा अच्छी हो गईं; वह सदैव के लिए अच्छी हो गईं........!

चंचला का हृदय धक् से हो उठा। गिरते-गिरते उसे जीवन ने संभाल लिया। परन्तु उसे तुरंत होश में ले आना जीवन की शक्ति के बाहर था।

× × ×

चंचला के पिता और माता की मृत्यु का समाचार पाकर उसके चाचा-चाची इन्दौर से आ गये थे। चंचला ने समझा था कि मैं अब चाचा-चाची की गोद में रहकर उनका स्नेह पा सकूँगी। यह आशा असत्य सिद्ध न होती, यदि उसे माता-पिता तथा गुरुकुल की शिक्षा से आधुनिक प्रगतिशीलता के संस्कार प्राप्त न हुए होते। चाचा और चाची में नये की अपेक्षा पुराने संस्कार अधिक थे। वे समझते थे कि वह विवाह के योग्य हो गई है अतः यदि शीघ्र-से-शीघ्र उसका विवाह कर दिया जाय तो वह माता-पिता के वियोग को बहुत कुछ भूल जायगी। जातिजन और रामलालभाई के हितैषी जब उनसे चंचला के भविष्य के सम्बंध में कोई चर्चा करते तो उनका बस एक ही उत्तर होता—"भाई और भौजाई ने उसे आँखों की पुतली के समान पाला है। उनके न रहने से एकाएक उस पर वज्र टूट पड़ा। उसकी ज़िंदगी ही बदल गई। मुझमें क्या सामर्थ्य है कि उसे उनके ही समान पालूँ? भाई रहते तो कोई राजा जैसा लड़का ढूँढ़कर धूमधाम से उसका ब्याह करते। अब जैसा भी हो, मुझे ही तो करना है। उनकी वर्षी के बाद निबटा दूँगा........।"

लोग उनकी इस शुभकामना में हृदय से सम्मिलित होकर उनकी प्रशंसा करते। कोई-कोई उन्हें लड़कों की सूचना देना भी आवश्यक समझते।

चंचला की चाची भी पास-पड़ोस की स्त्रियों से आँसू बहा-बहा कर जेठ-जेठानी की प्रशंसा करती और चंचला के प्रति अगाढ़ स्नेह प्रदर्शित करती हुई इसी आशय की बातें करती।

चाचा और चाची के इन भावों में सचाई थी, वेदना थी—इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। चंचला ने भी कभी इस पर शंका नहीं की। फिर भी धीरे-धीरे वह उनसे बचने लगी। चाचा-चाची ने उसके इस रुख को देखकर समझा कि मा-बाप की याद उससे भुलाई नहीं जाती। उसके इस अलगाव के अंदर छिपी हुई कोई दूसरी वेदना भी हो सकती है, सो उनकी समझ के परे थी।

चंचला मन-ही-मन कहती, बापू तो मुझे उच्च शिक्षा दिलाकर सेवा के मार्ग पर लगाना चाहते थे, परन्तु यहाँ तो शिक्षा का कार्य-क्रम समाप्त होता दीखता है। चाचा-चाची तो मुझे वापस गुरुकुल भेजने की कभी चर्चा ही नहीं करते। वे मेरा विवाह करके कदाचित् भार-मुक्त होना चाहते हैं।

विवाह की चर्चा उसे बिलकुल अच्छी न लगती। परन्तु मन की वेदना बँटाने के लिये उसके पास कौन था? आठ वर्ष की उम्र से ही बाहर रहने के कारण यहाँ कोई उसका अंतरंग न हो सका था। ले-देकर हर बात के लिए जीवन ही था। सो, खुद होकर चंचला ने उसका भी सम्पर्क कायम रखने का प्रयत्न नहीं किया। यदि वह स्वयं उसे पत्र न लिखता और उसके माता-पिता की बीमारी में उनकी सेवा न करता तो चंचला ने तो उसे भुला ही दिया था। अब, जब कभी जीवन उसे मिल जाता—और वह बहुधा मिलता रहता—तो वह अपने दिल का थोड़ा-बहुत दुःख-दर्द उसे सुना देती और इस प्रकार उसे कुछ राहत अवश्य मिलती। जीवन हर तरह से उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करता।

ऐसे ही अवसर पर गुरुकुल की आचार्या का बुलावा आ गया और चंचला ने अपने चाचा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ?

"अब तुम मेरे ही साथ रहना, बेटी! लिख दो कि मैं न आ सकूँगी" —चाचा ने स्नेह दिखाते हुए कहा।

"थोड़े दिनों के लिए और चली जाती तो अच्छा होता।"

"बेटी, तुम्हारे बापू के रहते हुए"—कहते-कहते चाचा का हृदय भर आया—"सब-कुछ संभव था, मैं तो बहुत छोटा और गरीब आदमी हूँ।"

चंचला ने गहरी साँस ली और फिर उसने कुछ सोचकर कहा—"अभी तो मेरी पढ़ाई का बहुत खर्च नहीं होता। श्रीकृष्णभाई की कृपा से छात्रवृत्ति भी जारी है। सिर्फ़ चार-पाँच रुपयों की ज़रूरत बाकी रहती है—"

"मैं तेरे लिए सब कुछ करने को तैयार हूँ। भइया के चरणों के पास रहकर, उनका स्नेह प्राप्त करके, उन्हीं की कृपा से मैं पढ़ा-लिखा हूँ। यह उनकी ही कृपा का प्रसाद तो है कि मैं आज इज़्ज़त के साथ चार पैसे कमाकर

अपना और बाल-बच्चों का पेट-पालता हूँ। तू उनकी एकमात्र यादगार है। मैं तेरे लिए सब कुछ करता, परन्तु चार-पाँच रुपये माहवार भेजने में भी तेरे छोटे-छोटे भाई-बहनों पर उसका असर पड़े बिना न रहेगा। फिर भी तेरी इच्छा हो तो मैं तुझे भेजने को तैयार हूँ।"

चंचला कुछ कहना ही चाहती थी कि जीवन ने आकर उसके चाचा को अभिवादन किया। उसने बताया कि श्रीकृष्णभाई आये हैं और बाहर प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनके साथ काशी के सेठ गङ्गाप्रसादजी भी हैं।

श्रीकृष्णभाई की सेवाओं के कारण उस प्रान्त का बच्चा-बच्चा उनके नाम से परिचित था। सभी उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। सेठ गंगाप्रसाद की सेवाएँ अखिल भारतीय थीं। उनके नाम से भी प्रायः सभी परिचित थे।

चंचला के चाचा शीघ्रता के साथ उठकर बाहर गये। उनके पीछे-पीछे चंचला भी चली गई। दोनों नेताओं ने उनके दुःख से दुःखी होकर उन्हें धैर्य देने का प्रयत्न किया। किन्तु सहानुभूति के इस लेप ने हृदय के घावों को तत्काल तो केवल उकसाने का ही काम किया। सारा वातावरण शोक से भर गया।

सेठ गंगाप्रसाद के मन पर चंचला की सरलता, सुबुद्धि और शील का बहुत अच्छा असर पड़ा। उन्होंने द्रवित होकर कहा—"बेटी, तेरा दुःख बहुत बड़ा है। मैं उसे महसूस करता हूँ। परन्तु उससे घबराकर निराश नहीं होना चाहिए। संसार में इसी प्रकार होता है। जो कुछ अनिवार्य है उसे बिना विचलित हुए भोग लेने में ही बुद्धिमानी है। रो-रो कर ज़िंदगी काटने से केवल भार ही हाथ लगता है। संसार ऐसे लोगों से दूर भाग जाता है। क्या तुम मुझे अपना पिता नहीं मान सकतीं? मेरे बहुत-सी लड़कियाँ हैं। उनमें तुम्हें भी शामिल करके मुझे बहुत प्रसन्नता होगी........।"

चंचला ने डूबते हुए आधार पा लिया। संतोष तो नहीं, परन्तु धैर्य उसे अवश्य मिला।

सेवा ही सेठ गंगाप्रसाद के जीवन का उद्देश्य और व्रत था। महात्मा गांधी के अनन्य भक्त, त्याग और तपस्या की सजीव मूर्त्ति, सरल, सौम्य, मृदु-भाषी—सेठजी की दृष्टि जहाँ भी जाती, ऐसे लोगों की खोज करती रहती जो देश की सेवा में अपना जीवन अर्पित करने के लिये उत्सुक हों। मनुष्य को एक निगाह से पहिचान लेना उनका सहज गुण था। वह कभी किसी के अवगुणों को बड़ा न मानते। गुण और अवगुण सभी में होते हैं और वह कहा करते कि गुणों में सहायक होना मेरा काम है, उनका उपयोग कर लेने की

मुझे जरूरत है। अवगुणों को देखते रहने से लोक-संग्रह हो ही नहीं सकता। उनकी सेवाएँ जैसी विस्तीर्ण थीं वैसी ही बहुमुखी भी थीं। खादी, ग्रामोद्योग गो-सेवा, राष्ट्रीय शिक्षा आदि अनेक क्षेत्रों में पूर्ण लीनता के साथ काम करते हुए भी जब कभी देश की पुकार होती तो वह निर्लिप्त भाव से, मूक आज्ञाकारी के समान युद्ध-क्षेत्र में कूद पड़ते। महात्मा गांधी के विचारों को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने काशी में एक वनिता आश्रम खोल रखा था। सारे भारत से महिलाएँ और बालिकाएँ आकर उसमें विद्या प्राप्त करती थीं। छात्राओं को सेठजी अपनी पुत्रियाँ मानते और उनके सुख-दुःख, लाभ-हानि में पिता के समान ही सम्मिलित होते थे। छात्राएँ उनका स्नेह प्राप्त कर और उनके संरक्षण में रहकर अपने आप को धन्य मानतीं।

निश्चय हुआ कि चंचला सेठजी के वनिता आश्रम में अध्ययन के लिए जायगी। वे स्वयं उसे अपने साथ ले जायँगे। यह समाचार शीघ्र ही सब लोगों में फैल गया। अधिकांश लोगों ने इसका स्वागत किया, परन्तु कुछ ऐसे भी थे जिन्हें अपने-अपने कारणों से यह अच्छा न लगा।

और जीवन को ?

जब से चंचला घर आई थी, जीवन के व्यवहार में एक नया परिवर्तन दीख पड़ने लगा था। प्रत्येक कार्य के लिये उसमें अभूतपूर्व उत्साह था। जब चंचला सामने होती या उसकी इच्छानुसार उसे कोई काम करना होता तब तो उसके उत्साह की सीमा ही न रहती। उसके माता-पिता की बीमारी में उसने जी तोड़कर, अपने आपको खतरे में डालकर भी, उनकी सेवा की थी। कभी-कभी आपस के लोग उसे बचकर काम करने का उपदेश देते, परन्तु वह सारा उपदेश बहरे कानों पड़ता। इन दिनों उसमें कुछ कविता फूटने लगी थी। संगीत और काव्य का प्रेम बढ़ गया था। विद्यालय में वह अन्यमनस्क रहने लगा था, इसलिए उसकी पढ़ाई भी शिथिल पड़ गई थी। एक-दो अत्यंत प्रिय मित्रों से एकान्त में बातें करते रहना उसे अच्छा लगता था। उनके बीच कभी वह गीत गाने लगता और कभी कोई स्वरचित कविता सुनाने लगता। बीच-बीच में वह कुछ खिन्न भी दिखाई देता। मित्रों के पूछने पर कोई मिस बताकर वह पल्ला छुड़ा लेता। रात को जल्दी लेट जाना परन्तु देर तक बिस्तर पर करवटें बदलते रहना और प्रातः देर से उठना भी उसमें नई बात थी। यह सब परिवर्तन क्यों हुआ ?

और जब से उसने सुना कि चंचला फिर बाहर जा रही है तब से वह कुछ अधिक खिन्न रहने लगा था। छोटी-छोटी बातों पर वह चिढ़ जाता और

फिर भी यंत्रवत् चंचला के जाने की तैयारी में सहायता पहुंचाता रहा।

अनेक बार उसने चंचला से कुछ बातें करने की इच्छा की। अनेक बार वह दृढ़ निश्चय करके उसके पास गया। परन्तु उसके सामने जाते ही वह अपनी बातें भूल जाता और दूसरी ही दिशाओं में बह जाता। इससे उसके अन्तर का द्वंद्व बढ़ता ही गया। परन्तु उसके मन में कौन-सी ऐसी बातें थीं जिन्हें कहने के लिए उसे साहस की इतनी कमी मालूम होती थी?

चंचला के जाने के एक दिन पूर्व वह उसके पास गया। घर में एकांत था। मौका पाकर उसने बात निकाली—

"चंचला, तुम्हारी पढ़ाई का प्रबंध तो अच्छा हो गया?"

"हाँ, जीवन! डूबते को तिनके का सहारा ही बहुत होता है।"

"तुम हताश क्यों होती हो? सेठजी की पुत्री बनकर तो तुम अपनी सब महत्वाकांक्षाएँ पूरी कर सकती हो।"

"शायद!"

"शायद क्यों? निश्चय। तुमने सेठजी को पहचाना नहीं।"

"अच्छी परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए अच्छा भाग्य भी तो चाहिए, जीवन!"

"भाग्य कौन देख आया है? भाग्य अच्छे न होते तो यह सुअवसर आता ही नहीं।"

"और यदि वहाँ भी हरिजन होने के कारण मेरा निरादर हुआ?"

"इसका सामना बहादुरी से करना।"

"लाचारी के परावलम्बन के साथ बहादुरी नहीं चलती, जीवन!"

"पहले से ही बुरी कल्पना करके खिन्न क्यों हुआ जाय? उत्तम भविष्य की आशा करके उत्साहपूर्वक वहाँ क्यों न जाओ?"

चंचला कुछ चुप हो गई। जीवन ने प्रकरण समाप्त हुआ समझ, दूसरा शुरू करने के लिए उपयुक्त शब्दों और वाक्यों की उधेड़-बुन शुरू कर दी। परन्तु जब वह कुछ कहने ही वाला था तब चंचला बोल उठी—"तुम तो इस वर्ष मैट्रिक पास हो जाओगे। आगे के लिए क्या विचार है?"

जीवन को यह बाधा अखर गई। फिर भी उत्तर तो देना ही था। बात को यहीं समाप्त कर देने और अपनी बात शुरू करने के विचार से उसने कहा—"इसका विचार पास होने के बाद करूँगा। परन्तु तुमने तो आगे के लिए भी सोच रखा है। सुनूँ भला, क्या करने वाली हो!"

"मैंने तो जो कुछ सोचा था वह बापू और अम्मा के साथ चला गया"—चंचला ने उदास होकर उत्तर दिया।

"परन्तु तुम तो बापू के काम को पूरा करने को कहती थीं न ?"

"वह विचार तो मेरे रक्त में भिद गया है।"

"और विवाह..........?" जीवन के मुँह से सहसा प्रश्न निकल गया। तुरन्त ही वह अपनी अशिष्टता पर लजा गया—न यह कोई अवसर था, न ठीक ढंग ही ! अपने मन में आन्दोलन करने वाले भाव को किसी भी प्रकार प्रकट कर देने के लिए वह अधीर हो रहा था। चंचला कदाचित् उसे अवसर ही नहीं देना चाहती थी और वह डर रहा था कि कहीं कोई आ गया तो मन की बात मन में ही रह जायगी। परन्तु इस भद्दे ढंग से पूछने की अपेक्षा यदि पूछा ही न होता तो कितना अच्छा होता ! मन हुआ कि चंचला के सामने से भाग जाय परन्तु उसके पैर मानो ज़मीन में गड़ गये थे। वह ऊपर आँखें उठाकर देख भी न सका।

परन्तु चंचला ने साधारण ढंग से कह दिया—"विवाह नहीं करूँगी।"

उत्तर के ढंग और अर्थ से जीवन की स्थिति और भी दयनीय हो गई। विवाह करना या न करना चंचला का नितांत व्यक्तिगत प्रश्न था। उसमें हस्तक्षेप करने का किसी को क्या अधिकार था ? फिर भी उत्तर सुनकर जीवन स्तब्ध हो गया। अब उसे अपने प्रश्न का और भी पछतावा होने लगा। यदि वह प्रश्न किया ही न होता तो यह उत्तर क्यों मिलता ? परन्तु वह क्यों भिन्न उत्तर पाने की अपेक्षा करता था ?

चंचला ने बात आगे बढ़ाई—"जीवन, जब से मैं यहाँ आई तब से तुमने अपना सारा समय मुझे मदद करने में ही लगाया है। इससे तुम्हारी पढ़ाई का तो बहुत हर्ज हुआ होगा ?"

"मैं पढ़ता ही कितना हूँ ! स्कूल की पढ़ाई तो मुझे काटने दौड़ती है।"

"फिर उत्तीर्ण कैसे होते जाते हो ?"

"यह मैं खुद नहीं जानता।"

"यह तो अजीब बात है ! परन्तु कुछ भी हो मैं तुम्हारे उपकार को कभी भूल नहीं सकती।"

जीवन को अच्छा न लगा। उसे इसमें बहुत अधिक शिष्टाचार का आभास हुआ। चंचला को वह जितना अपने निकट समझने लगा था उतनी निकटता में शिष्टाचार के लिए स्थान नहीं हो सकता था। उसने कुछ विरक्त और कटु होकर कहा—"कोरा उपकार तो सभी मान लेते हैं।"

परन्तु ज्यों ही यह शब्द मुँह से निकले त्यों ही उसे ज्ञान हुआ कि मैंने कुछ अनुचित कह डाला। मन-ही-मन सोचने लगा कि आखिर वह इससे अधिक कह ही क्या सकती थी। एक क्षण में चंचला की सारी परिस्थित उसकी आँखों के सामने झूल गई। उसके माता-पिता का आकस्मिक वियोग और उसका वज्रपाततुल्य-दुःख उसे याद आया। उसने महसूस किया कि मैंने चंचला के दुःखी हृदय को ठेस पहुँचाई है। उसके वश में होता तो अपने शब्दों को चंचला के कानों तक पहुँचने के पहले ही गिरफ्तार कर लेता, परन्तु वे तो सेंध लगा चुके थे।

चंचला ने मर्मस्पर्शी स्वर में उत्तर दिया—"जीवन, मेरी जैसी अभागी लड़कियाँ इससे अधिक क्या कर सकती हैं?"

जीवन ने तुरंत बात सुधारने का प्रयत्न किया—"मैं चाहता ही क्या हूँ, चंचला? तुम मेरे साथ इतने शिष्टाचार का व्यवहार न करतीं तो मुझे कितना आनंद होता?"

चंचला के भावों को दूसरी दिशा मिली। उसने कहा—"माफ़ करो, अब ऐसा न होगा।"

जीवन को संतोष हुआ, परन्तु अभी काफ़ी नहीं। इसलिए उसने विनोद किया—ऐसे नहीं, बाक़ायदा माफ़ी माँगो। हाथ जोड़कर सामने खड़ी हो और सिर झुकाकर कहो—"महामान्य जीवनचंद्रजी, मुझसे ग़लती हुई। मुझे अपनी बात पर पछतावा है। अब मैं ऐसा कभी न करूँगी। आप महा कृपालु हैं। अपनी सहज कृपा से मुझे क्षमा कीजिए।"

चंचला ने विनोद में पूरा भाग लिया। वह हाथ जोड़ कर खड़ी हुई और सिर झुका कर बने हुए स्वर में बोली—"म हा मा नी जी व न चं द्र जी····"

जीवन ने बात काटकर कहा—"महामानी नहीं, महामान्य कहो!" और वह हँस पड़ा।

"अच्छा भई, ऐसा ही सही," चंचला ने व्यंग्य के स्वर में कहा—"महामान्या........"

"अरे! महामान्या क्या? क्या मैं लड़की हूँ?" जीवन ने फिर बात काटी और दोनों खिलखिला कर हँस पड़े और चंचला ने फिर कवायद शुरू की।

"अच्छा, जैसी आपकी आज्ञा—महामान्य जीवनचंद्र जी......."

"हाँ, यह ठीक है" जीवन ने विनोद-विजयी की तरह महत्त्व के कृत्रिम स्वर में कहा। और चंचला आगे बढ़ती गई—

"मुझसे ग़लती हुई। पछतावा है। अब मैं ऐसा कभी न करूँगी। अर्थात्, माफ़ी न माँगूँगी—"

जीवन ज़ोर से हँस पड़ा और चंचला भी उसमें दिल से शामिल हुई। थोड़ी देर के लिए विनोद और आनन्द का समाँ बँध गया। एक बार फिर से आठ-दस वर्ष पूर्व की स्मृतियाँ उन्हें हो आईं।

चंचला के रवाना होने के दिन जीवन प्रायः उसके साथ ही रहा। उस दिन दोनों के मन उदास थे और उनकी वाणी ने भी उनका साथ नहीं दिया। जीवन बार-बार कुछ कहने की इच्छा करता, परन्तु उसके मुँह से शब्द न निकलते। उसके मन पर संकोच का दबाव था और मुद्रा पर वेदना की स्पष्ट छाप। दूसरी ओर चंचला महसूस कर रही थी कि माता-पिता की मृत्यु के बाद जिस उज्जैन में पल-पल काटना दूभर हो रहा था उसी उज्जैन को छोड़ते हुए आज कितना कष्ट हो रहा है!

आखिर इंजन ने सीटी दी और गाड़ी धक्-धक् करती चल पड़ी। जीवन और चंचला अब तक एक-दूसरे के चेहरे को देख-देखकर मूक भाषा में, आँखों से और भाव-भंगी से ही बातें कर रहे थे। सीटी बजते ही दोनों के मुँह से एक साथ निकल पड़ा—"पत्र लिखना" और गाड़ी उष्ण वाष्पमय श्वास से वातावरण में वियोग-पीड़ा-संकुल आर्द्रता पूरित करके तेज़ हो गई।

७

वनिता आश्रम

"सुषमा, तेरे आश्रम के लिए मैं एक नई बहन लाया हूँ। तू प्रसन्न होगी न?" सेठ गंगाप्रसाद ने वनिताश्रम की मंत्री श्री सुषमा-देवी से कहा।

"बधाई, काकाजी! आपके दौरे सदैव इसी प्रकार सफल होते रहें!" सुषमादेवी ने श्लेष की भाषा में उत्तर दिया और हँस पड़ीं।

बात यह थी कि सेठजी जब कभी दौरे पर जाते—और व्याख्यानों तथा रचनात्मक कार्यों के लिए उनके दौरे निकला ही करते थे—तभी राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की एक-दो लड़कियों को अपने आश्रम के लिए ले आते थे। इस कारण सुषमादेवी बहुधा उनसे हँसी में कहा करती थीं कि आप जो दौरे करते हैं, लड़कियों को लाने के लिए ही करते हैं। और धीरे-धीरे यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई थी। संयोग से जब उनके साथ कोई लड़की न आती तो सेठजी के अंतरंग सुषमादेवी की भाषा में उनसे परिहास किया करते कि आपका दौरा इस बार असफल रहा। परन्तु सेठजी इतना ही करके संतुष्ट हो जाते हों, सो नहीं। 'संतोष' शब्द उनके शब्दकोष में था अवश्य, परन्तु उसका सम्बन्ध भूत और पूर्ण वर्तमान से था। भविष्य जीवन के सम्बन्ध में संतोष का अर्थ बड़े-बड़े शब्दों में लिखा था—मृत्यु। और जीवन को वह मानते थे असन्तोष-जन्य कर्मण्यता। उनमें अद्भुत शक्ति और योग्यता थी। देश के लिए तो वह अपना सर्वस्व ही अर्पण कर चुके थे। व्यक्तियों की छोटी-छोटी समस्याओं में भी वह गहरी दिलचस्पी रखते और उन्हें हल करने में सक्रिय रूप से सहायता करने का निरन्तर प्रयत्न करते थे। दूरदर्शी इतने थे कि असफलता उनके निकट से न निकलती। दौरों के समय अत्यन्त व्यस्त रहने पर भी जब कभी कोई ऐसी महिला उनकी दृष्टि में पड़ जाती जो देश-सेवा के कार्य में उपयोगी सिद्ध हो तो उसे वे ध्यान में रखते और उसकी कठिनाइयों

को हल करके उसे अवसर देने में कभी न चूकते। इस प्रकार उन्होंने नारी-समाज का एक खासा परिवार बना लिया था। वह व्यवहार-कुशल थे, अतः बालिकाओं के विवाह का प्रश्न भी भूल जाना उनके लिए संभव न था। स्त्रियों के समान ही पुरुष कार्यकर्ताओं का भी उन्होंने भारी संग्रह किया था। प्रत्येक की मनोवृत्ति और परिस्थिति का परिचय वे रखते थे। जब कभी कोई युवक अथवा युवती विवाह के योग्य होती तो मन-ही-मन वह उसके लिए उपयुक्त पात्र सोच रखते। जिनके वे स्वयं पिता बने होते उनकी पूरी ज़िम्मेदारी ओढ़ लेते और उसे पूरी तरह निभाते। परन्तु जिनके माता-पिता अथवा अभिभावक मौजूद होते उन्हें वे अनुभवी बुज़ुर्ग के समान बराबर सहायता करते। अभिभावकों को विश्वास में लेकर युवक-युवतियों के साथ उदार पिता का सा व्यवहार करके तथा उनके मन के अंदर घुसकर वे पूर्ण उपयुक्त युग्म खोजने का प्रयत्न करते। इस प्रकार उनकी सहायता से जो विवाह होते उनमें सिद्धान्त, आदर्श, नवीनता और, सबसे अधिक, देशभक्ति का भाव सन्निहित होता।

सो, सेठजी ने कृत्रिम रोष दिखलाते हुए सुषमादेवी को उत्तर दिया—"तो तेरा मतलब है कि मैं इतने सारे दौरे इन लड़कियों को बहका लाने के लिए ही करता हूँ? अच्छा, अब किसी को न लाया करूँगा।"

"नहीं, काकाजी!"—और आश्रम के सभी लोग तथा बाहर के भी अनेक उन्हें 'काकाजी' ही कहकर सम्बोधित करते थे—"यह तो आपकी सफलता का प्रमाण-मात्र है"—फिर हँसकर सुषमादेवी ने कहा।

चंचला समीप बैठी यह सब देख-सुनकर प्रसन्न हो रही थी। उसने उन दोनों के स्नेह को महसूस किया। उससे उसका हृदय उछल पड़ा। नये स्थान की नवीनता-जन्य आशंकाएँ एकदम विलीन हो गईं। वह सोचने लगी कि यहाँ तो अपनापन खुलकर खेल सकता है। कदाचित् मुझे माता-पिता का वियोग उतना अधिक महसूस न होगा।

और बस, उसकी भावनाओं ने पलटा खाया—माता-पिता की याद आते ही वह बरबस उनकी ओर बह चली। उमड़ते हुए क्षीर-सागर में स्वच्छन्द विहार करती हुई सहसा वह किसी प्रच्छन्न शिला से जा टकराई। वह याद करने लगी कि बापू मुझे इससे भी अधिक प्यार करते थे। वह होते तो मेरा जीवन कितना सुखमय होता! और मा? तुम तो साक्षात देवी थीं! कल तक जिस प्रेम की मुझ पर अविरल वर्षा हुआ करती थी, आज मैं उसकी भिखारिन हूँ। बापू! अम्मा!...........

इन भावनाओं और आवेगों में निमग्न चंचला आस-पास की दुनिया के प्रति नितान्त अन्यमनस्क हो गई। इसके चेहरे के भाव अनजाने बार-बार बदल रहे थे। सेठजी ने उसे देखा तो वे ताड़ गये परन्तु किसी सुकुमार विषय को छेड़ना उन्होंने उचित न समझा। उन्होंने उसे पुकारा, परन्तु कौन सुनता? चंचला के अन्दर जो सुनने वाला था वह तो भगवान् की सृष्टि के न मालूम किस कोने की सैर कर रहा था। सेठजी ने दुबारा बुलाया और फिर वही परिणाम हुआ। सुषमादेवी यह देखकर हँस पड़ीं और सेठजी से बोलीं—"आप तो, मालूम होता है, एक दार्शनिक को ले आये हैं!"

सेठजी कुछ उदास भाव से बोले, "हाँ, सुषमा, उस पर जैसा संकट आ पड़ा है वैसे संकट में सभी दार्शनिक हो जाते हैं।"

सुषमादेवी का विनोद फीका पड़ गया। बिना विचारे कुछ कह जाने पर वे लज्जित हुईं और सोचने लगीं कि यदि यह किसी संकट की मारी है तो इसके प्रति परिहास का भाव प्रकट नहीं होना था। उन्होंने सेठजी से उसकी कहानी पूछी तो सेठजी ने बाद को बताने का संकेत करते हुए कहा—"इसे प्रेम और सहानुभूति का वातावरण चाहिए। बहुत होनहार बालिका है। कुम्हलाने न पाये।"

चंचला का ध्यान टूट चुका था। उसके नेत्र शून्य से वापस आ चुके थे, परन्तु उनकी चंचलता में अब भी शिथिलता थी। उसने सेठजी का आख़िरी वाक्य सुना और सिर नीचा किए बैठी रही।

× × ×

चंचला को छात्रावास के एक कमरे में स्थान मिल गया। नई बहन का आना सुनकर बहुत-सी छोटी-बड़ी छात्राएँ उससे मिलने और उसका स्वागत करने आईं।

"तुम्हारा नाम क्या है?" एक छोटी छात्रा ने पूछा।

"चंचला"—उत्तर मिला।

"और तुम्हारी जाति?" एक दूसरी छोटी तथा नई छात्रा पूछ बैठी।

चंचला अड़चन में पड़ गई कि क्या कहूँ। इतने ही में निर्मला नाम की एक बड़ी छात्रा ने प्रश्न करनेवाली छात्रा को टोक कर कहा—"तू कितनी खराब लड़की है! अपने आश्रम में भला किसी की जात-पाँत पूछी जाती है? हम सब हिन्दुस्तानी हैं।"

वातावरण स्तब्ध हो गया। चंचला का मन भी ज़रा शांत हुआ। वह मन-ही-मन निर्मला को आशिष देने लगी।

सब बहनों के चले जाने के बाद निर्मला ने चंचला को दैनिक क्रम से अवगत कराया और स्नान करने के बाद दोनों भोजन के लिए गईं।

भोजन की घंटी हो चुकी थी। विशाल भोजन-गृह में सब छात्राएँ एकत्रित हो गईं थीं। निर्मला के साथ चंचला जब ठिठकती और सकुचाती हुई वहां पहुंची तो स्वभावतः ही सब बहनों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। चंचला एक संकोच भरी निगाह से सब की ओर देखकर निर्मला के पास के पटे पर जा बैठी।

परोसने वाली बालिकाओं ने परोसना शुरू किया। एक बालिका ने रोटी परोसते हुए चंचला के सामने पहुंचने पर ठठोली के स्वर में निर्मला से कहा—"आज तो यह खायँगी नहीं, इसलिए आधी बस होगी, निर्मला बहन?"

निर्मला ने अविलंब करारा उत्तर दिया—"वह बिहारी बहू थोड़े-ही है, जो घूँघट निकालकर आश्रम आई हो!"

आस-पास की लड़कियां हँस पड़ीं। परन्तु परोसनेवाली कोई कच्ची मिट्टी की बनी हुई नहीं थी। उसने फिर वार किया—"मैं तो सचमुच बहू हूं, परन्तु मध्यभारत की तो कुमारियां ही बहू बनी जा रही हैं!"

एक दूर बैठी हुई बहन को भी कुछ कहने की इच्छा हो उठी। उसने कहा—"ए वसुधा बहन! अपने इस ननँद-भौजाई के झगड़े में हम सबको भूखा रखोगी क्या?"

एक बार फिर से भोजन-गृह हास्य की ध्वनि से गूँज उठा और वसुधा उसमें अपना हार्दिक स्वर मिलाती हुई रोटियाँ परोसने लगी।

हँसी-खुशी से भोजन समाप्त हुआ। आज सचमुच ही चंचला अच्छी तरह भोजन नहीं कर सकी। और यह बात किसी से छिपी भी न रही। आराम के समय में वसुधा किसी कार्य-वश निर्मला के पास आई तो निर्मला ने उसे खूब आड़े हाथों लिया। उसने कहा—तू तो, बहन, न समय देखती है, न मिज़ाज, जब तरंग आ गई हँसी करने लगती है। तेरी हँसी के कारण ही संकोच में पड़ कर आज नई बहन भूखी रह गई।

वसुधा ने निर्मला की सारी बातों को विनोद में उड़ा कर कहा—"विनोद तो अपनी जान है। "कोई निन्दौ, कोई वन्दौ," परम पुनीता, परम प्राचीना पाटलिपुत्र-नगरी-निवासिनी श्रीमती वसुधादेवी तो विनोद करेंगी, करेंगी। चंचला बहन का बुभुक्षित रह जाना तो क्या, यदि सम्पूर्ण मध्यभारत

एक सप्ताह का आमरण अनशन कर डाले तो भी वसुधा देवी की विनोद-वृत्ति आकण्ठ आहार करेगी ही।"

"तू बड़ी दुष्ट है, वसुधा!" निर्मला ने खीझकर कहा।

"षट्-दश आणक अनृत! द्वि-पंचाश तोला चतुर्थांश रत्ती असत्य! वसुधा देवी आपत्ति करती हैं। उनकी निन्दा करना महा पाप है। उसे देवता सहन नहीं करते! सारी सृष्टि का भार अपने वक्ष पर संभालने वाली वसुधादेवी, सारी सृष्टि का पालन करने वाली वसुधादेवी दुष्ट अथवा दुष्टा हो ही नहीं सकती"—कहती-कहती वसुधा चली गई और निर्मला हँसती हुई अपने काम में लग गई।

चंचला अपने कमरे में विश्राम का समय व्यतीत कर रही थी। कभी वह अपने लकड़ी के तख़्त पर लेट जाती, कभी उठकर बैठ जाती और कभी घूमने लगती। उसके मन में अवश्य ही कोई बेचैनी थी।

समय जैसे-जैसे बीतता गया, चंचला अपने माता-पिता के वियोग-शोक को दबाने में समर्थ होती गई। सेठजी तथा आचार्य मानवशंकर का उस पर विशेष प्रेम था और वे बहुधा उसे अपने पास बुलाकर उसका सुख-दुःख पूछ लिया करते थे। अन्य अध्यापक और अध्यापिकाओं की दृष्टि भी उस पर विशेष थी। आश्रम का उद्देश्य सेवा था और सेठजी की सहृदयता के कारण उसमें दुःखी छात्राओं की संख्या ही अधिक रहती थी। कोई विधवा होती, कोई आश्रयहीन। और गरीब तो प्रायः सभी होतीं। ऐसी छात्राओं का सम्पूर्ण व्यय-भार आश्रम ही वहन करता। परम्परा के अनुसार आश्रम में आने वाली प्रत्येक नई बहन पर तब तक विशेष ध्यान दिया जाता था जब तक कि वह वहाँ के वातावरण में एकात्मभाव महसूस करने न लगे। पश्चात् सभी बालिकाओं के साथ समान व्यवहार होता था।

एक दिन आचार्य मानवशंकर ने सूचना दी कि मंगलवार के दिन सभी छात्राएँ महात्मा रामदास के दर्शनार्थ सारनाथ जायँगी। काशी से सारनाथ तक पैदल जाना होगा। सवारी का प्रबंध केवल छोटी, कमज़ोर और बीमार बहनों के लिए किया जायगा।

सारे आश्रम में आनन्द और उत्साह की लहर दौड़ गई। महात्माजी के दर्शनों की चर्चा तथा यात्रा के आनन्द की कल्पना से उत्कण्ठा का वातावरण निर्मित हो गया। पुरानी छात्राएँ इस प्रकार का आनन्द अनेक बार ले चुकी थीं और उनके मन की गति उस सरिता के प्रवाह के समान थी जो सिन्धु से मिलकर अपने जीवन को उसमें उँडेल देने और उससे एकात्म हो जाने के लिए

सतत व्याकुल रहती है। उसमें नवीनता नहीं होती किन्तु पूर्व-परिचय की आतुरता होती है। नई छात्राएँ नई कल्पनाएँ करती थीं और उनमें वे सद्य-उत्थित पहाड़ी झरने के समान स्वच्छन्द गति से, विघ्न-बाधाओं को तोड़ती-फोड़ती बह रही थीं। सीमा उनके परे हो गई थी और मर्यादा उनकी शरण में।

नई छात्राओं की मनःस्थिति में चंचला तरह-तरह के मंसूबे बाँध रही थी। उसने गुरुकुल की याद की। उस संस्था और उसकी कार्यकर्तृयों के प्रति उसके मन में अगाध श्रद्धा थी वहाँ की अपनी सखी-सहेलियों को भूल जाना उसके लिए असंभव था। ऐसे अवसर बहुधा आ चुके थे जब कि वह वहाँ की स्मृतियों से बैचेन हो उठी थी।

आज वह इस आश्रम से उसकी तुलना करने लगी। गुरुकुल एक आदर्श संस्था है और उसमें रहकर मैंने जीवन पाया है। परन्तु उस जीवन और इस जीवन में कितना अंतर है! वह हिन्दुओं की संस्था है और आर्य-धर्म उसकी बुनियाद है। धार्मिक दृष्टिकोण चाहे जितना भी उदार हो उसकी अपनी मर्यादाएँ और परम्पराएँ होती हैं। दूसरे धर्म के अनुयाइयों के लिए उसमें या तो स्थान हो ही नहीं सकता या संतोषजनक नहीं हो सकता। धर्म वहाँ ग्रंथों से प्रसूत होता है और वाणी द्वारा सिखाया जाता है। परन्तु यह संस्था दरिद्र-नारायण की सेवा के लिए है। यहाँ मानव-धर्म प्रधान है और उसे हम जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा सीखने का प्रयत्न करती हैं। कितना विशाल, कितना व्यापक धर्म है यह! और हम मानव-धर्म के कैसे श्रेष्ठ पुजारी के निकट हैं!....

"चंचला!" वह इसी प्रकार अपने विचारों में लीन थी कि आचार्य मानवशंकर ने उसे पुकारा।

"जी!" उसने सहसा उत्तर दिया।

"तू पैदल चलेगी या गाड़ी पर?"

"पैदल।"

"चल सकेगी? कभी मौका आया है?"

"चल सकूँगी।"

"अच्छा, थक जाना तो गाड़ी पर बैठ जाना। एक गाड़ी साथ रहेगी।"

"अच्छा। और सुनिये न! निर्मला को मेरे साथ जाने के लिए कह दीजिए।"

"मगर उसे तो प्रबन्ध के लिए पहले जाना है?"

"तो मैं भी उसके साथ ही चली जाऊँगी?"

"अब प्रबन्ध करना कठिन होगा। महात्माजी के पास उन बहनों के

नाम जा चुके हैं। तू उसके साथ के लिए ही क्यों उत्सुक है? और भी बहनें तो साथ रहेंगी?"

चंचला कोई उत्तर न दे सकी।

आचार्य ने फिर कहा—"अभी से कोशिश करो कि सब बहनों से मेल-मुलाक़ात और प्रेम हो जाय।" वे थोड़ा मुसकराये और बोले—"तुम लड़कियों का कोई ठिकाना तो रहता नहीं। आज आती हो और कल चल देती हो। एक ही बहन से प्रेम रखोगी तो उसका विछोह बहुत खटकेगा। हृदय से तो काम लेना ही चाहिए, मगर थोड़ा बुद्धि को भी चलाओ न?" और वे ज़ोर से हँस पड़े। चंचला भी हँस पड़ी और फिर लज्जा से नीचे देखती हुई पैर के अंगूठे से ज़मीन कुरेदने लगी।

चलने के दिन तीन बजे रात को घंटी हुई और सब बहनें बिस्तर छोड़ कर उठ बैठीं। नित्यकर्म के पश्चात् सब आँगन में एकत्रित हुईं। आकाश बादलों से घिरा हुआ था और पृथ्वी पर से अंधकार का काला पर्दा अब तक उठा नहीं था। हाथ-कंडीलों के प्रकाश में बालिकाएँ पंक्ति बनाकर खड़ी हुईं और आज्ञा मिलते ही रवाना हो गईं। नीली किनार की शुभ्र साड़ियाँ पहने हुए जब वे सारनाथ की सड़क पर चलीं तो उनकी साड़ियों की उज्ज्वलता ने अंधकार को चीर दिया। रह-रहकर वातावरण राष्ट्रीय नारों के घोष से गूँज उठता था। अनेकानेक मृदुल कंठों से एक साथ निकलती हुई राष्ट्रीय संगीत की ध्वनि उस निर्जन एवं सुषुप्त मार्ग को जाग्रत करती जाती थी। सुकुमारियों के उत्साह की कोई सीमा थी? उनके हृदय से निकलते हुए नव-जीवन के संदेश क्या आकाश में जाकर व्यर्थ ही विलीन हो गये?

इस सबके बीच चंचला ने अनुभव किया कि निस्संदेह वह अकेली नहीं है। इधर कई महीनों से जो संसार बराबर उसे काटने दौड़ता था, वही आज उसे जीवन का संदेश सुनाने लगा। महीनों बाद आज पहली बार उसने सामूहिक जीवन का आनन्द अनुभव किया। निर्मला की अनुपस्थिति अब उसे खटक नहीं रही थी। अपने-अपने ढंग की निराली बहनों की इस अप्रतिम टोली में उसे आदर्श, उत्साह और आनन्द की कमी दिखलाई न पड़ी। वह मन ही मन पछताने लगी कि इतने दिनों में मैंने निर्मला के अतिरिक्त कोई सहेली नहीं बनाई। निर्मला निस्संदेह असाधारण लड़की है, परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि मुझे दूसरी बहनों से मेल-जोल और अपनेपन का सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिए। इनके अंदर कैसे-कैसे रत्न छिपे हुए हैं, इसका मुझे क्या पता?

और अब संगीत बंद हो गया। पंक्तियाँ तोड़ दी गईं। बालिकाएँ एक-दूसरी से बातें करती हुई चलने लगीं। इस बीच वसुधा एकाएक चिल्ला उठी—साँप ! साँप !

आस-पास की छात्राएँ चौंक कर भागने लगीं। उन्होंने भयभीत होकर सब ओर देखा, परन्तु कुछ भी दिखलाई न पड़ा। वसुधा दौड़कर आगे निकल गई और बिना किसी की परवाह किये, मुँह-ही-मुँह हँसती और इठलाती हुई चलने लगी। छात्राओं ने उसका यह ढंग देखा तो उन्हें शक हुआ कि वसुधा ने कोरा चकमा दिया।

गिरिजा तिनककर बोल उठी—"ए वसुधा बहन, इस तरह डराती क्यों हो झूठ बोलकर ? सब बहनें चौंक गईं !"

"श्रीमती वसुधादेवी असत्य भाषण नहीं करतीं। अन्वेषण करो तो शेषनाग के वंशज देवता अवश्य दर्शन देने की कृपा करेंगे। जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ !" वसुधा ने मुखाकृति को बरबस गंभीर बनाते हुए और इठलाते हुए कहा।

राह चलना फिर यथावत् जारी हो गया था। सब छात्राएँ वसुधा के चकमे में आ गईं, इसमें अब किसी को शंका नहीं थी। सब शर्मिन्दा थीं और अब मिलकर वसुधा से बदला लेने के मंसूबे बाँध रही थीं। मीनाक्षी ने धीरे से अपनी साथ की बहनों को सुनाते हुए कहा—"ठहर जाओ, बीबीजी ! सारनाथ तक पहुँचते-पहुँचते इसका ऐसा बदला पाओगी कि जन्मभर न भूले !"

कान्ता ने व्यंग्यपूर्वक वसुधा को उत्तर दिया—" 'गहरे पानी पैठ' कर साँप ही निकालती हो, वसुधा बहन ?"

"वह तो वसुधा है, साँप उसे धारण किये हुए हैं, फिर उसे और क्या सूझेगा ?"—विमला ने योग दिया।

वसुधा अब जाल में फँसती जा रही थी। परन्तु वह हारने वाली नहीं थी। वह कुछ कहना ही चाहती थी कि थोड़ी दूर पीछे जया ने पुकार कर कहा—"बहनो, ज़रा धीरे चलो। मुझे आ जाने दो।" सबका ध्यान उसकी ओर खिंच गया और वसुधा पर होने वाली शर-वृष्टि भी रुक गई। जया लँगड़ाती-लँगड़ाती सबमें आ मिली। उसे लँगड़ाती देखकर वसुधा ने फिर चोट की—"क्यों दाई, अभी तो दो मील ही आई हैं, इतने ही में लँगड़ाने लगीं ?"

जया बहुत सुकुमार बालिका थी। उसकी उम्र भी बहुत कम थी।

उत्साह और बड़ी बहनों के संग के लोभ से रास्ते में अपने साथ की बालिकाओं को छोड़कर वह इन छात्राओं में आ मिली थी।

वसुधा की बात का उसने कोई उत्तर न दिया। उसकी आँखों से आँसू ढलकर उसके कपोलों और वस्त्रों को भिगोने लगे। प्रकाश अभी मंद ही था, अतएव उन्हें कोई देख नहीं पाया। परन्तु कान्ता को वसुधा की हँसी अच्छी नहीं लगी। उसने तनिक खीझ कर कहा—"तू कैसी है, वसुधा! तुझे किसी की तकलीफ़ पर भी दया नहीं आती। केवल मज़ाक़ हीं सूझता है!"

वसुधा ने अपने सहज व्यंग्यात्मक स्वर में उत्तर दिया—"सुनो, कान्ता! विनोद मनुष्य के सामाजिक जीवन का रस है। उसके बिना मनुष्य 'शुष्को वृक्षः' के समान है। मैं तो विनोद में ओत-प्रोत होकर ही अपना भव-सागर पार करूँगी और जब मेरे मूल्यवान प्राण इस तुच्छ देह का त्याग करेंगे और यह मृत्तिका की देह अग्निदेव के सुपुर्द की जायगी तब भी एक बार अट्टहास करके रोनेवालों की ओर उँगली उठाकर कहूँगी—'तुम मूर्ख हो........!' और रही दया, सो उसका तो मेरी इस छोटी-सी देह के अंदर सरोवर भरा है। कहो तो तुम्हारी जया को गोद में लेकर महात्माजी के आश्रम तक पहुँचा दूँ?"

और उसने सचमुच ही झपटकर जया को गोद में उठा लिया और प्यार दिखलाती हुई उसके मुँह पर हाथ फेरने लगी। परन्तु ज्यों-ही उसका हाथ उसके गीले गालों पर पड़ा और उसे पता चला कि वह रो रही है, उसने बड़प्पन और स्नेह से भरी वाणी में कहा—"पगली, रोती क्यों है? थक गई है तो गाड़ी में बैठ जा!"

जया ने तिनककर अपने आपको वसुधा के हाथों से छुड़ाते हुए कहा—"अलग हटो! तुम मुझसे मत बोलो!" और वह खुलकर रोने लगी।

वसुधा सहम गई। जया का रोष उसकी समझ में न आया।

चंचला अब तक चुपचाप थी। जया को रोते देख उसका हृदय द्रवित होकर उमड़ आया। वह उसके पास जाकर उसे समझाने और उसके रोने का कारण पूछने लगी तो मालूम हुआ कि वसुधा के 'साँप' कहकर चिल्लाने पर वह डरकर कूद पड़ी थी, और उसका पैर गड्ढे में पड़कर ज़ोर से लचक गया है। अब दर्द के कारण उससे बिलकुल चला नहीं जाता।

वसुधा मन-ही-मन पछताने लगी। वह जया के पास आकर बड़े दुःख और दीनता के साथ अपनी सफ़ाई देने लगी। परन्तु जया को चोट लगने से प्रायः सभी छात्राओं को बुरा मालूम हुआ था इसलिए गौरी बोल उठी—"जो

लोग सोच-विचारकर काम नहीं करते उनसे ऐसे ही अनर्थ होते हैं ।"

वसुधा लज्जा और पछतावे के मारे ज़मीन में गड़ी जा रही थी, फिर भी उस पर दूसरा आक्रमण हुआ । चंपा ने कहा—"अक्ल तो उन्होंने ताक पर रख छोड़ी है, मगर अब भी शिक्षा ले लें तो गनीमत !"

वसुधा के लिए यह आघात असह्य हुए जा रहे थे । किन्तु वह उत्तर क्या देती ? उसने क्या कभी इस अनर्थ की कल्पना की थी ? लोगों को छेड़ देना और उनकी चिड़चिड़ाहट से आनन्द ले लेना उसके विनोद में सम्मिलित था । परन्तु आज तो बात कुछ गंभीर होती जा रही थी । वह स्वयं ऐसे उत्साह के समय जया को चोट लग जाने से दुःखी और लज्जित थी । उसकी चोट अच्छी करने के लिए आज वह सब-कुछ करने को तैयार थी, परन्तु वह लाचार हो गई ।

छात्राओं की कटूक्तियाँ चंचला को न्यायपूर्ण न मालूम हुईं । उन्हें समझाते हुए उसने कहा—"वसुधा बहन पर इतना नाराज़ हो जाने की क्या ज़रूरत है ? विनोद में कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है । उन्होंने जान-बूझकर थोड़े ही चोट पहुँचा दी है ।"

"यह उनकी हमेशा की आदत है"—चम्पा ने कहा ।

"मगर यह समय पुरानी बातों को याद करने का नहीं है । वसुधा बहन खुद दुःखी हैं । जया को संभालिये और आगे बढ़िये"—चंचला ने फिर उत्तर देते हुए समझाया ।

गाड़ी कुछ पीछे रह गई थी । उसके आने तक सबको उसी स्थान पर रुकना पड़ा । चंचला इतनी देर तक जया के पैर की मालिश करती रही । गाड़ी के आ जाने पर उसे उसमें बैठाकर सब आगे बढ़ीं ।

परन्तु वसुधा खिन्न हो गई थी । वह सबसे अलग चलने लगी । थोड़ी देर में चंचला उससे जा मिली । चंचला के साथ से वसुधा के मन को कुछ राहत मिली ।

सभी बहनें वसुधा से नाराज़ हों सो बात नहीं, कुछ को उसके प्रति उतनी ही सहानुभूति थी, जितनी जया के प्रति करुणा । परन्तु गौरी और चम्पा का मन साफ़ न हो सका और वसुधा भी उनके प्रति खिन्न और विरक्त हो गई ।

वसुधा के प्रति चंचला का उदार व्यवहार गौरी और चंपा को अच्छा न लगा । उधर वसुधा ने अत्यन्त खिन्न होकर चंचला से कहा—"कहीं मैं जानती होती कि मेरी हँसी इस तरह विष बन जायगी !"

"मगर जो हो गया सो हो गया। अब उसे सोचते रहने से क्या लाभ ?"—चंचला ने समझाते हुए उत्तर दिया।

"दिल तो दुखता ही है, बहन, कितने उत्साह के समय यह दुर्घटना हो गई ! और अभी इसके पुछल्ले तो बाकी ही हैं।"

"पुछल्ले कैसे ?"

"गौरी अभी नमक-मिर्च लगाकर इसका प्रचार करेगी।"

"नतीजा क्या होगा ?"

"विनोद का नतीजा गंभीर तो हो नहीं सकता, परन्तु मेरी लज्जा में लज्जा और मिलेगी।"

"जो होगा सो होगा। अभी तो उस बात को छोड़ो।"

वसुधा चुप हो गई। परन्तु उसकी उदासी नहीं गई। चंचला ने भी उसे और अधिक नहीं छेड़ा। सारनाथ से थोड़ी दूर इधर आगे की बहनें पीछे रही हुई बहनों की प्रतीक्षा में रुक गई थीं। यहाँ से फिर पंक्तियाँ बनाकर आगे बढ़ना था। चंचला की टोली और उसके साथ की गाड़ी के वहाँ पहुँचने पर छात्राओं ने हँसी-मज़ाक का कोलाहल शुरू कर दिया। सबके मन में आनन्द था परन्तु वसुधा ने कोई आनन्द प्रकट नहीं किया। वह कभी उदास नहीं रहती थी। हँसने-बोलने और दूसरों को छेड़ने के लिए उसके पास विषय का अभाव कभी न रहता था। आज उसे उदास देखकर प्रायः सभी बहनों को आश्चर्य हुआ। कुछ छात्राओं ने उसे छेड़ने की कोशिश की, परन्तु वह व्यर्थ हुई।

सारनाथ पहुँचने पर जब जया को गाड़ी से उतारना पड़ा तब सारी घटना की चर्चा एक बार फिर हुई। गौरी और चंपा ने उसे बढ़ाने में यथेष्ट रुचि दिखाई। चंचला ने जब सफ़ाई देने की कोशिश की तो अनेक बहनों का मन उसकी ओर से भी दुःखी हो गया।

सारनाथ में सब लोग तो यथास्थान डेरा डालकर अपनी-अपनी मौज में रम गए, परन्तु वसुधा और चंचला जया का पैर सेंकने में लग गईं।

एक लम्बे सेवा-कार्य के बाद महात्माजी को प्रणाम करने के लिए सब बहनें नियुक्त स्थान पर जा बैठीं। महात्माजी के आने पर एक-एक बालिका ने क्रम से उन्हें प्रणाम करना शुरू किया। आचार्य मानवशंकर उनमें से हर एक का परिचय देते जाते थे।

सबसे पहले निर्मला ने प्रणाम किया। महात्माजी उसकी प्रवृत्तियों के कारण उसे अच्छी तरह पहचानते थे। उन्होंने उसकी पीठ पर हाथ रखते हुए

हँसकर कहा—"तू तो बहुत जल्दी-जल्दी बढ़ती जाती है। मुझे तेरे विवाह की चिन्ता करनी होगी।"

निर्मला सकुचा गई और उछलकर अपने स्थान पर भाग आई। सारी मंडली हँस पड़ी।

दूसरा नंबर कान्ता का आया। वह निर्मला के समान ही छोटी उम्र में आश्रम में आई थी। उससे महात्माजी ने कहा—"तू तो बढ़ती ही नहीं, निर्मला से होड़ में हार रही है।" परन्तु कान्ता चुपचाप सुन लेनेवाली नहीं थी। उसने तुरंत उत्तर दिया—"आप जल्दी से शादी जो कर देंगे!" और उसने बाज़ी मार ली। महात्माजी जोर से हँस पड़े। उनके साथ सारी सभा में कहकहा मच गया।

इसी प्रकार एक के बाद दूसरी बालिका ने उठकर उन्हें प्रणाम किया। महात्माजी ने प्रत्येक से बात की और प्रत्येक प्रसंग पर कुछ-न-कुछ हास्य हुआ ही।

वसुधा की खिन्नता नहीं गई थी। प्रणाम करते समय भी उसके मन से आनन्द व्यक्त न हो सका। गिरिजा, गौरी, चम्पा, मनू, मीनाक्षी आदि के प्रणाम कर चुकने पर चंचला का नंबर आया। उसका परिचय देते हुए आचार्य मानवशंकर ने कहा—"मध्यभारत में इन लोगों को अस्पृश्य माना जाता है, परन्तु हमारे यहां ऐसा नहीं है।"

महात्माजी ने उससे कहा—"तू तो बड़ी अच्छी लड़की मालूम होती है। यह आश्रम अच्छा लगता है?"

"जी, हां!"—चंचला ने संक्षेप में उत्तर दिया।

"कोई कष्ट तो नहीं है?"

"जी, नहीं।"

"तुम्हारी सखियाँ कौन हैं?"

"निर्मला, वसुधा, कान्ता......."

"हां! तब तो तुमने सब नटखट लड़कियों को चुन लिया है"—हँसते हुए महात्माजी ने कहा।

चंचला मुसकरा दी।

महात्माजी ने फिर कहा—"अच्छा, खूब काम किया करो और मन लगाकर पढ़ो।"

कई दिनों तक ये शब्द बराबर उसके कानों में गूंजते रहे।

८

कसौटी

जया के पैर का दर्द कई दिनों तक बना रहा। जब तक वह मिट नहीं गया तब तक वसुधा और चंचला बराबर उसकी सेवा करती रहीं। गौरी और चम्पा ने जया के मन को वसुधा की ओर से खराब करने की बहुत कोशिश की, परन्तु वसुधा की मूक, स्नेह तथा पश्चात्ताप-युक्त सेवा और चंचला के समझाने से जया का मन उलटे वसुधा की ओर आकृष्ट हो गया। दोनों ने उसे पढ़ने में भी सहायता की और रहते-रहते तीनों के बीच अटूट प्रेम हो गया। परन्तु गौरी और चम्पा का मन किसी भी प्रकार स्वच्छ न हो सका।

महीने के अन्त में भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए छात्राओं की नई टोलियां बनीं और टोली-नायिकाओं के चुनाव की तिथि निश्चित की गई। गौरी, चंपा और उनकी सखियों ने वसुधा, चंचला और उनकी सखियों में से किसीको भी नायिका न बनने देने के लिए गुप-चुप प्रचार करना शुरू कर दिया।

वसुधा को यह सब पता चला तो उसने चंचला से कहा कि इस प्रचार का उपाय करना चाहिए।

"करने भी दो, उनके प्रचार से होता क्या है?"—चंचला ने लापरवाही से उत्तर दिया।

"होता कैसे नहीं? इससे बहनों में दलबन्दी हो रही है।"

"तो क्या इसमें हमारा हाथ बिलकुल नहीं है? अप्रत्यक्ष रूप से हम भी तो इस दलबन्दी में योग देती रहती हैं।"

"कैसे?"

"गिनी-चुनी छात्राओं में अपना मिलना-जुलना सीमित रखकर। सब बहनों से संबंध जोड़ने का हमने प्रयत्न ही कब किया?"

"इसका अर्थ है कि हमारे विरुद्ध झूठा-सच्चा प्रचार किया जाय?"

"मेरा आशय यह था कि इस तरह हम स्वयं दलबंदी को प्रोत्साहन देती हैं; इसलिए हमें उनकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं है।"

"तो क्या हम लोगों की खुशामद ही किया करें ? हमें दूसरा काम है ही नहीं ?"

"मिलना-जुलना और खुशामद करना एक ही बात नहीं है, वसुधा !"

"हमारे पास समय नहीं है !"

"तो फिर जो कुछ आ पड़ता है सो खुशी से भोगो। शिकायत क्यों करती हो ?"

"इसलिए कि वे झूठा प्रचार करती हैं।"

"और लोग उसे सच मान लेते हैं—न ?"

"हाँ।"

"क्यों ?"

क्योंकि हम चुपचाप रहते हैं।"

"तुम क्या करना चाहती हो ?"

"अपनी सफ़ाई देना।"

"कब तक सफ़ाई देती रहोगी ?"

"जब तक लोगों को हमारी बात पर विश्वास न हो जाय।"

"और यदि वे नित-नई बातें कहें ?"

"हमें सफ़ाई देनी ही होगी।"

"अर्थात्, हमारा यही एक काम हो गया।"

"यह ज़रूरी है।"

"और तुम्हें भरोसा है कि इससे काम चल जायगा ?"

"कोशिश करना हमारा काम है।"

"क्या खूब ! आई हो यहाँ अध्ययन करने और फँस जाओ सफ़ाइयाँ देने में।"

"आखिर उपाय क्या है ?"

"उपाय दो हैं। एक तो यह कि उनकी बातों की परवाह न करो, केवल अपने व्यवहार को अच्छा रखने का ध्यान रखो। दूसरा यह कि मूल छोड़कर पत्तों के पीछे मत दौड़ो। बहनों से सम्बन्ध बढ़ाओ। जब वे तुम्हारी अच्छाई-बुराई पहचान लेंगी तो स्वयं ही गलत बातों पर विश्वास न करेंगी।"

"परन्तु, इस आश्रम में रहकर कोई असत्य बात करे ही क्यों ? प्रति-

दिन सत्य और अहिंसा का श्लोक* दुहराती हैं, उसके अनुसार आचरण क्यों नहीं करतीं ?"

"हमारे ऊपर यह आक्षेप लागू नहीं होता क्या ? हमने सब-कुछ सीख लिया है ?"

"मैं झूठ नहीं बोलती।"

"यही वे भी कह सकती हैं। निर्णय कौन करे ?"

"जो बात साफ़ है उसके निर्णय की क्या ज़रूरत ?"

"साफ़ तुम्हारे सामने है। इसी तरह उनके सामने भी हो सकती है। देखो, वसुधा, यह तो तुम्हारी हठ है। दुनिया में सब अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार काम करते हैं। कुछ काम ग़लत हो सकते हैं, परन्तु उनमें असत्य का आरोप तुम कैसे कर सकती हो ?"

"दुनिया की बात छोड़ो। यह बात साफ़ है या नहीं ?"

"यदि वे सचमुच ही हमें अच्छा न समझती हों तो ?"

"तो सीधे हम से बातें क्यों न करें ?"

"जो तुम स्वयं नहीं करतीं, वह दूसरे से क्यों कराना चाहती हो ?"

"हम किसी के आड़े नहीं आते। कोई हमें छेड़ेगा तो हम उसे ठीक कर देंगे।"

"शाबास ! जैसे भगवान् ने तुम्हें ही दो हाथ दिये हों ! और महात्मा-जी के उस दिन के उपदेश से तुमने खूब लाभ उठाया। याद है, उन्होंने क्या कहा था ?"

"सब याद है।"

"क्या ?"

"यही कि किसी को हानि पहुँचाने का विचार ही नहीं करना चाहिए।"

"नहीं, उन्होंने यह भी कहा था कि मनुष्य को अपनी विशेषताएँ कायम रखते हुए सामूहिक जीवन बिताना सीखना चाहिए। सामूहिक जीवन की कुंजी है सहानुभूति, सहयोग, सेवा, सहिष्णुता, सरलता और स्वार्थ-त्याग। निष्कपटता और मृदु सत्य इन गुणों के आधार-स्तम्भ हैं। प्रेम और

---

* अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।
शरीर-श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय-वर्जन॥
सर्व धर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्श-भावना।
हीं एकादश सेवावीं, नम्रत्वें, व्रत-निश्चयें॥

निष्ठा इनकी प्रेरक शक्तियां हैं। आगे बढ़ना मनुष्य का स्वभाव है, क्रियाशीलता और पराक्रम उसका जीवन है........"

वसुधा को सारी बातें याद आ गईं। उसकी सद्भावनाएं जाग्रत हो गईं। चंचला ने उपयुक्त मर्म को छेड़ा।

गंभीर होकर वसुधा ने पूछा—तो फिर हमें क्या करना चाहिए? और अंत में निर्मला से सलाह लेने का निश्चय किया गया। निर्मला ने सलाह दी कि वसुधा गौरी और चंपा से मिलकर मीठे तरीके से सब बातों को स्पष्ट करने की कोशिश करे।

वसुधा गौरी और चम्पा के पास गई और उसने शुरू किया—"आप लोग तो आजकल मुझसे बातें ही नहीं करतीं?"

चम्पा ने व्यंग के साथ उत्तर दिया—"हम आपका कीमती समय क्यों खराब करें?"

वसुधा अपने मन का सन्तुलन बनाये रखकर बोली—"समय तो कीमती होता ही है, बहन, परन्तु परस्पर मेल-जोल रखने से, एक-दूसरे के काम आने से, उसकी कीमत घटती तो नहीं?"

चम्पा पर इसका कोई असर नहीं हुआ। उसने उसी तरह फिर कहा—"आप बड़े घर की बहू हैं, हम गरीबों से मेल-जोल रखने का क्या मतलब?"

और वसुधा ने भी अपनी राह न छोड़ते हुए कहा—"ऐसी बातें कह कर मुझे लज्जित न करो, बहन!"

गौरी अब तक चुप थी। अब वह वसुधा की शान्ति सहन न कर सकी। बोल उठी—"लज्जित हो आपकी बला! आप तो दूसरों को लज्जित करने का आनन्द लूटिये।"

इससे वसुधा तिलमिला गई। वह उत्तेजित होकर कुछ कहना ही चाहती थी कि उसे अपने उद्देश्य का ध्यान हो आया और वह फिर अपने को संभालकर गंभीरतापूर्वक बोली—"मैं आपके पास इसलिए आई हूँ कि यदि मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा माँग लूँ।"

"माफ़ी माँगने योग्य तो कोई बात दिखलाई नहीं पड़ती"—चम्पा ने गौरी को बोलने से मना करते हुए कहा।

"बहन, हमारे आपसी व्यवहार को और सब बहनें उँगली उठाती हैं। कोई मेरा पक्ष लेती हैं, कोई आपका। सारे छात्रालय में अशान्ति और दलबन्दी की भावना फैल गई है। हमारे जैसे आदर्श आश्रम के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात है।"

गौरी—"ओ हो ! बड़ी हितैषी आश्रम की !"

वसुधा अपनी बात पूरी करती रही—"इससे आश्रम की बदनामी होगी और हमारे आदर्श शिक्षा प्राप्त करने के मंसूबे भी पूरे न होंगे। महात्माजी को भी इस विषैले वातावरण से दुःख होगा।

चंपा का दिल पिघलता हुआ मालूम पड़ा, परन्तु गौरी की भौंहें पूर्ववत् ही तनी हुई थीं। वह चंपा की ढील-पोल से अधीर हो रही थी। उसे परेशानी थी कि चम्पा दो-टूक उत्तर क्यों नहीं देती ! उसके वश में होता तो वह दो खरे शब्दों में उत्तर देकर वहां से चलती होती; परन्तु वह विवश थी। चम्पा के लिए उसके मन में आदर था। वह उसे हर बात में अपने से बड़ी मानती थी और उसीने उसे बोलने से मना कर दिया था। उसका धैर्य टूटने ही पर था कि चम्पा बोल उठी—"परन्तु इसकी सारी ज़िम्मेदारी तो तुम्हारे ही ऊपर है ?"

"मुझे समझा दीजिये; मैं प्रायश्चित्तकरने को तैयार हूँ"—वसुधा ने बेकली के साथ कहा।

एक बार चम्पा ने अपने मन को टटोला। उसे वसुधा के विरुद्ध कोई गम्भीर अभियोग न मिला। उसे अपने व्यवहार पर शंका होने लगी—तो क्या यह सब मैंने ही किया है ? परन्तु इतनी जल्दी किसी निर्णय पर कैसे पहुँचा जाता ? वह अपने नाखून कुरेदती हुई कुछ देर तक सोचती रही।

इस बीच गौरी के लिए सारा मामला असह्य हो उठा। वह तिनक कर बोली—"चुनाव के समय ही यह सब ज्ञान कैसे फूट पड़ा, वसुधादेवी ?"

यह आक्षेप अनपेक्षित नहीं था। परन्तु यदि इसका आघात आरम्भ में ही होता तो कदाचित् वसुधा उसे सरलता से झेल जाती। इधर जैसे-जैसे वर्तालाप बढ़ता गया था वैसे-वैसे उसकी अन्तरात्मा की वेदना उसके शब्दों में उतरती गई थी। अन्तिम बात तो उसने इतने सच्चे और साफ़ दिल से की थी कि उसके बाद कोई आघात सहन करना उसके लिए कठिन हो गया था। ऐसे विषम अवसर पर उसके उद्देश्य पर आक्रमण किया गया तो वह तिलमिला उठी। फिर भी उसने अपने-आपको रोककर शान्ति और दृढ़ता के साथ कहा—"मैं चुनाव के लिए खड़ी न हूँगी।"

चम्पा चुप थी। गौरी की बात सुनकर एक बार उसके मन में भी शंका उठी थी कि शायद यह सब नाटक चुनाव के लिए ही हो। परन्तु वसुधा की बात सुनकर वह शंका विलीन हो गई। उसके मन की द्विविधा समाप्त हुई

और वह बोल उठी—"नहीं, वसुधा ! यह नहीं हो सकता। तुम अवश्य नायिका बनोगी।"

इसके बाद वह सहसा उठकर चल दी। गौरी ने भी उसका अनुसरण किया।

· उसी दिन सब आवासी छात्राओं की एक सभा हुई और गौरी तथा चम्पा ने उसमें बड़े ज़ोरों से भाषण दिये। भाषण किस विषय पर हुए और उनमें क्या कहा गया, सो हमें नहीं मालूम; परन्तु उस दिन से गौरी और चम्पा के बीच में पर्दा-सा आ जाने के स्पष्ट चिह्न दिखलाई पड़ने लगे।

चुनाव के दिन नायिकाओं के पद के लिए चम्पा ने स्वयं निर्मला, वसुधा और चंचला के नाम प्रस्तुत किये। चंचला ने चम्पा और गौरी के नाम सुझाये और वसुधा ने उनका समर्थन किया। मत लिये जाने पर चम्पा का नंबर प्रथम रहा और गौरी का द्वितीय। निर्मला, वसुधा और चंचला ने अपने नाम वापस ले लिये थे, अतएव अन्य स्थानों पर विजया, कुसुम और मीरा का चुनाव हुआ। मोहिनी प्रधान नायिका चुनी गई।

वसुधा गौरी की टोली में आग्रह के साथ सम्मिलित हुई और चंचला ने चम्पा की टोली में अपना नाम बदला लिया।

परन्तु चंचला के लिए चम्पा की टोली में सम्मिलित होना उसकी दुहरी परीक्षा का कारण बन बैठा। विरोधी भावनाओं की नायिका की आज्ञा के अनुसार उसे चलना था और अपनी सचाई तथा सद्व्यवहार से उसके मन को जीतकर अपने वश में करना था। आरंभ में उसे एक भारी पराजय-सी प्रतीत हुई किन्तु शीघ्र ही वह संभल गई। उसने अपने मन को धिक्कारा और सोचा कि चम्पा का मन तो साफ है, मेरा मन ही मैला था। चम्पा का विरोध सच मुच ही उसके सच्चे विश्वास के कारण था। ज्यों ही वसुधा ने उसके विश्वास को गलत सिद्ध कर दिया, त्यों ही वह हमारी बन गई और हमारे चुनाव की उसने स्वयं कोशिश की। उस दिन से उसने हमारे विरुद्ध किसी प्रकार का प्रचार नहीं किया।

यह सब सोचकर यद्यपि चंचला के मन को बहुत-कुछ तसल्ली हुई, फिर भी एक दूसरी बात उसके सामने वैसे ही मुँह बाये हुए खड़ी थी। चम्पा की टोली को पाखाने और नालियों की सफाई का काम दिया गया था। सभी छात्राओं को बारी-बारी से यह काम करना पड़ता था, परन्तु चंचला के मन में इससे ग्लानि उत्पन्न हो रही थी। वह सोचती, यह काम भंगियों का है। जहाँ भंगी नहीं मिलते वहाँ यह दूसरे हरिजनों को करना पड़ता है। इसे करने

से मुझ पर तो हरिजन होने का सिक्का लग जायगा। मेरी जाति के लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे? और यहाँ की बहनें भी सोचेंगी कि इसकी तो जाति ही छोटी है, इसलिए इसे तो यह करना ही चाहिए। सवर्ण बहनें इसे करेंगी तो लोग उनकी प्रशंसा करेंगे—कहेंगे कि इनके मन में काम के प्रति आदर है, ये पाखाना-सफाई को भी ओछा काम नहीं समझतीं। परन्तु मेरे लिए इस प्रकार कहने वाला कौन होगा?

यह सब सोचकर चंचला काँप गई। आत्मग्लानि का प्याला लबालब भर गया। उसने चम्पा की टोली से निकल जाने का निश्चय किया।

निर्मला से उसने कहा—"मैं चम्पा की टोली में न रह सकूँगी।"

"क्यों?" निर्मला ने आश्चर्य से पूछा।

"मेरा मन नहीं होता।"

"इस में शामिल हुई तो कुछ दिन तो रहना ही चाहिए।"

"मैं एक दिन भी न रह सकूँगी।"

"आखिर कोई कारण भी हो? चम्पा क्या सोचेगी? बनी-बनाई बात बिगड़ जायगी न?"

"जो मुझसे हो ही नहीं सकता उसके लिए लाचार हूँ। जरूरत हो तो मैं गौरी की टोली में चली जाऊँगी।"

निर्मला ने कारण जानने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जब किसी तरह सफलता न मिली तो उसने वसुधा और चंचला की टोलियाँ आपस में बदलवा दीं। चम्पा और गौरी को यह परिवर्तन रहस्यमय मालूम हुआ और दोनों ही असन्तुष्ट हुईं।

परन्तु, क्या चंचला को संतोष हुआ?

गौरी की टोली को भोजन बनाने का काम दिया गया था। चंचला ने पहले ही दिन से अन्यमनस्कता दिखलानी शुरू की। वह अपने मन से कोई काम न करती और जब उसे कोई काम करने को कहा जाता तो उसे इतनी अरुचि के साथ करती कि न वह समय पर पूरा होता है न अच्छे ढंग से ही होता। रसोई के अन्दर का काम वह भरसक टालती रहती और परोसने के समय भी या तो इधर-उधर चली जाती या एक ओर खड़ी होकर किसी की आज्ञा की प्रतीक्षा करती रहती।

कई दिनों तक यही क्रम जारी रहा। चंचला का पूरा सहयोग न मिलने से टोली के काम में व्याघात पहुँचा। प्रधान नायिका और गृह-व्यव-

स्थापिका के पूछने पर गौरी ने साफ-साफ कह दिया कि चंचला का हार्दिक सहयोग उसे प्राप्त नहीं है।

एक दिन कुछ अतिथि आये हुए थे। टोली की सभी बालिकाएँ समय पर और अच्छा भोजन बनाने के लिए उत्सुक थीं। गौरी ने चंचला को दाल-भात पकाने की जिम्मेदारी सौंपी और शेष बालिकाएँ उत्साह से अपना-अपना काम करने में लग गईं।

चंचला ने दाल-भात चढ़ा दिया और शीघ्रता करने के विचार से खूब आग जला दी। बाद में वह एक ओर बैठकर विचारों में मग्न हो गई। वह कितनी देर तक विचारों में डूबती-उतराती रही, सो कहना कठिन है। भात और दाल दोनों में ही जब उफान आया और दोनों के ढक्कन बजने लगे और दोनों से ही पानी उफन-उफन कर आग को बुझाने लगा, तब उसने उठकर बर्तनों को देखा था।

परन्तु कैसे? वह चूल्हों के पास गई और उसने ढक्कनों को खोल देने के विचार से दो-तीन बार हाथ बढ़ाये और हटा लिये। बार-बार वह विचार करती, बार-बार हाथ बढ़ाती, बार-बार उसके हाथ बैरंग वापस आ जाते। पानी वैसे ही बहता गया, ढक्कन वैसे ही बजते गये, आग वैसे ही बुझती गई और चंचला भी अपनी किसी आन्तरिक ऊहापोह में पड़ी हुई वैसे ही करती गई। गौरी यह सब देख-देखकर क्षुब्ध हो रही थी। रहा न गया तो बोल उठी—"चंचला बहन, ढक्कनों को खोलती क्यों नहीं हो? कितना पानी गिर गया, और तुम खड़ी-खड़ी तमाशा देख रही हो।"

चंचला जैसे सोते से जाग पड़ी। उसने चूल्हों से दूर खड़ी होकर, हाथ लम्बे फैलाकर चिमटे से ढकने खोल दिये। भाप से उसका हाथ झुलस गया और साड़ी चूल्हे की लपट में आती-आती बची। परन्तु इस सबकी उसने विशेष परवाह नहीं की। वह फिर अपने कोने में जा बैठी।

बुझने पर भी आग अभी बहुत तेज थी। चंचला को इस आग की कोई परवाह न थी। कदाचित् उसके अन्दर कोई दूसरी आग धधक रही थी, जिसकी आँच इस बाहरी आग से बहुत अधिक तेज थी। परन्तु उसे बाहर से कौन देखता, कौन महसूस करता?

दुबारा जब उसका ध्यान टूटा तो गौरी के फटकारने पर। गौरी ने कहा—"दाल जल गई और तुम वहाँ बैठी-बैठी न मालूम क्या सोच रही हो। इसी तरह काम करना है तो मेरी टोली से निकल क्यों नहीं जातीं? मैं अब तुम्हारी शिकायत किये बिना न रहूँगी।"

गौरी खीझती हुई वहाँ से चली गई और मोहिनी तथा गृह-व्यवस्थापिका को बुला लाई। उन्होंने आकर देखा कि दाल और चावल दोनों का ही पानी सूख गया था। जली हुई दाल की बास रसोईघर के बाहर भी दूर तक फैल गई थी और चावल कच्चे रह गये थे।

गौरी ने नाराजी से कहा—"यह मेरा काम बिगाड़ने के लिए ही मेरी टोली में जबरन आ गई है।"

किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। चंचला के चेहरे से लज्जा और दुःख का भाव टपक रहा था। गृह-व्यवस्थापिका उसे अपने साथ लेकर वहाँ से चली गईं और मोहिनी से कहती गईं कि अतिथियों के लिए फिर से दाल और भात बना लो।

गृह-व्यवस्थापिका अत्यन्त स्नेहशीला महिला थीं, परन्तु वह उतना ही कठोर होना भी जानती थीं। चंचला जब उनके कमरे से निकली तो उसकी आँखें फूली हुई थीं। परन्तु गृह-व्यवस्थापिका ने स्नेह का प्रयोग किया या कठोरता का, यह किसी को मालूम नहीं हुआ।

६

प्रत्यावर्तन

महीनों-पर-महीने बीतते गये, परन्तु चंचला की मनःस्थिति में कोई सुधार न हुआ। काम से मानो वह डरती थी। छात्राओं का रुख भी उसकी ओर से बदलता गया और अन्ततः उन्होंने उससे बातें करना तथा उसकी परवाह करना भी छोड़ दिया। यदि कभी कोई बात निकल ही आती तो उसमें व्यंग्य और आरोपों के अतिरिक्त कुछ भी न होता। वह एकान्त पसन्द करने लगी और हँसी-खुशी उसके चेहरे से विलीन हो गई। पढ़ने में भी उसका मन न लगता। कक्षा में सबक तैयार करके वह शायद ही कभी जाती। प्रतिमा की जो दैवी देन उसे प्राप्त थी उसी के बल पर वह थोड़ी-बहुत उन्नति करती रही।

निर्मला, वसुधा और मीनाक्षी ने उसे समझाने और सँभालने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अपनी परम सखी की यह अवस्था देख-देखकर वे दुःखी होतीं; परन्तु जब उससे कोई बात पूछतीं तो उन्हें एक ही उत्तर मिलता—"मुझे अपने-आप पर छोड़ दो।"

परीक्षा का समय निकट आ गया। एक दिन इतिहास-शिक्षक ने उसे चेतावनी देते हुए कहा—"मेहनत कर लो, नहीं तो उत्तीर्ण न हो सकोगी।"

चंचला सारा समय पढ़ने में ही तो लगाती थी। बस, उसे याद कुछ नहीं रहता था। अब वह अपने-आपको लाचार मानने लगी थी। शिक्षक की बात सुनकर उसने चुपचाप सिर झुका लिया। अन्य शिक्षकों ने भी उसे वही चेतावनी दी और उनके सामने भी उसकी वही अवस्था हुई।

विद्यालय से लौटने पर वह उदास भाव से लेट रही। भोजन का समय हो गया, परन्तु वह उठ न सकी।

आज कई दिन बाद जया ने उसके पास आकर स्नेहपूर्वक कहा—"दीदी, लेटी क्यों हो? भोजन के लिए भी नहीं गई?"

चंचला सहसा उसे पाकर उलाहने के स्वर में प्यार से बोली—"तुम इतने दिनों तक मेरे पास क्यों नहीं आई ?"

जया ने लाड़ के साथ कहा "तुम तो नाराज रहती हो। हमेशा अकेली-अकेली बैठकर पढ़ती रहती हो। न किसी से बातचीत, न हँसना-खेलना। मुझे बुरा मालूम होता है और डर भी लगता है।"

चंचला मानो सोते से जाग उठी। जया की भोली बातों ने उसके मर्म-स्थल को छू दिया। उसकी विचार-सरणी जाग्रत हो गई—क्या? मेरे रुख के कारण जया मुझसे विलग हो गई थी? तो क्या और बहनें भी इसी कारण मुझसे उदासीन या अप्रसन्न हो गई हैं?

उसने एक बार अपने पिछले जीवन पर दृष्टि फेरी। आने के बाद के सुखमय जीवन का प्रसन्न चित्र और चुनाव के बाद से अब तक का उदासीन और विडंबनामय चित्र—दोनों एक के बाद एक उसके सामने आकर खड़े हुए। कोई निश्चय कर सकना उसकी शक्ति के परे था और समस्या को छोड़ देना भी सम्भव नहीं था।

वह फिर एकान्त चाहने लगी। उसने अपने हृदय का सारा बल एकत्र करके दीन और करुण स्वर में जया से कहा—"जयारानी, अभी मेरी तबीयत ठीक नहीं है। तुम थोड़ी देर बाद आओगी क्या?"

जया को अच्छा न लगा। वह लाड़-भरे रोष में उठ खड़ी हुई और बोली—"अब मैं कभी न आऊँगी। आती हूँ तो बात भी नहीं करतीं, नहीं आती तो उलाहना देती हो।" और वह रूठकर चल दी। चंचला ने मनाने की इच्छा से उसे बार-बार बुलाया, पर वह लौटी नहीं। एक बार उसके मन में आया कि जाकर पकड़ लाऊँ, परन्तु पैरों ने साथ न दिया। अपने विचारों की माला गूंथती रही—"आखिर यह परिवर्तन मुझमें क्यों हुआ? उस चुनाव के पूर्व मेरे मन में कितनी प्रसन्नता थी, कितना उत्साह था। उसके बाद कितने चुनाव हो चुके, एक बार भी वह प्रसन्नता पैदा न हुई। दिनों-दिन जीवन भार होता जाता है। ऐसे जीवन से क्या लाभ? इससे तो मर जाना ही अच्छा। थोड़ी देर में सब व्यथा मिट जायगी।........परन्तु क्या मैं मर सकती हूँ? और क्या मरने से सचमुच दुःख दूर हो जाते हैं? यह भी तो हो सकता है कि दुःख और बढ़ जायें? उस दिन आचार्य ने कहा था कि आत्महत्या महा पाप है। उसके बराबर कायरता दूसरी नहीं होती। क्या मैं कायरता की शिकार हो जाऊं? नहीं, यह कदापि नहीं हो सकता। सब-कुछ हो सकती हूँ, कायर नहीं। बापू भी तो कायरता की बुराइयाँ बतलाया करते थे। उन्होंने

अपना सारा जीवन संघर्ष में बिताया, सारी मुसीबतों का सामना बहादुरी के साथ किया। उनकी पुत्री होकर मैं दुनिया से भाग नहीं सकती। नहीं, मैं मरूंगी नहीं। परन्तु, फिर उपाय क्या है.......?"

इसी बीच उसे जया की याद हो आई—वह कहती थी, मुझे तुमसे डर लगता है। ओह! तो क्या मैं भयावनी हो गई हूँ? फिर क्या आश्चर्य कि दूसरी बहनें भी मुझसे इसी कारण दूर-दूर रहती हैं! गुरुकुल में तो कभी ऐसा नहीं हुआ! यहां भी उस चुनाव से पूर्व सब ठीक था! फिर अब क्या हो गया? काम से मुझे डर क्यों लगने लगा? पढाई में मैं पीछे क्यों पड़ गई?

इतनी माथा-पच्ची के बाद भी उसकी समझ में कुछ न आया। जितना अधिक मंथन करती उतने ही अधिक उसके विचार उलझते जाते। अन्त में उसकी उदात्त भावनाएं जाग्रत हुईं। वह अधीर हो उठी। परिणाम का विचार एकदम उसके मन से उड़ गया। उसने निश्चय किया—मुझे अपनी पुरानी हालत पर लौटना ही होगा। बहनों से मैं उसी तरह प्यार करूँगी, पढ़ाई में मेरा नम्बर फिर पहला होगा, काम में फिर मन लगाकर करूंगी!

उसने सामुदायिक जीवन के सम्बन्ध में महात्मा जी के उस दिन के उपदेश को स्मरण किया। उससे उसे साहस मिला। वह उठकर खड़ी हो गई। और सबसे पहले उसने जया के कमरे में जाकर उसे मनाया। तदुपरान्त वह उसे साथ लेकर निर्मला, वसुधा, मीनाक्षी आदि के कमरों में गई। उसके चेहरे पर आज मुसकान दिखलाई पड़ती थी, यद्यपि वह मुसकान विषाद की गहरी रेखा से मुक्त नहीं थी। कई दिन बाद—नहीं, महीनों बाद आज वह बहनों से मिलने गई थी। महीनों बाद बहनों ने एक बार फिर उसे हँसने का प्रयत्न करते देखा था। इस आकस्मिक परिवर्तन पर वे सहसा विश्वास न कर सकीं।

गौरी ने उसे देखा, तो मुँह फेर लिया। उसने अपने पास बैठी हुई एक बहन का हाथ दाब कर धीरे से कहा—अब कोई नई सनक सवार हुई है! परन्तु जब चंचला उसके पास जाकर बैठ गई तो उसे सभ्यता के नाते उससे कुछ बातें करनी ही पड़ीं। चम्पा के व्यवहार में कुछ आत्मीयता, कुछ सहानुभूति की आर्द्रता दिखलाई पड़ी।

और जब वह वसुधा के पास गई तो वसुधा को कुछ नवीनता का आभास अवश्य हुआ, परन्तु उसने अपने स्वाभाविक विनोद के स्वर में इठलाते हुए कहा—"अनबोला रानी एक बार बोलीं, दो डंके पर चोट!" और फिर जमीन तक झुककर, बार-बार उसे सलाम करते हुए और मुगल

दरबार में आये हुए बादशाह के स्वागत का अभिनय करते हुए, उसने उसे लाकर अपने 'तख्त' पर बैठाया और फिर हाथ जोड़ कर उसके सामने खड़ी होकर बोली—"बांदी क्या खिदमत कर सकती है ?"

चंचला ने भी उसका साथ देते हुए कहा—"मुझे मनसा-वाचा-कर्मणा अपने में लीन रखो—आज के लिए यही आदेश है।"

और वसुधा ने मानो इस 'आदेश' का अक्षरशः पालन किया।

१०

दयाविद्ध हरिणी

उस दिन से चंचला दृढ़तापूर्वक अपने नये परिवर्तन को स्थिर रखने का प्रयत्न करती रही। अब वह नियमपूर्वक बहनों से मिलती-जुलती और उनके हास-परिहास में हिस्सा बँटाती। खेल के मैदान पर वह कभी अनुपस्थित न रहती। स्वाध्याय के समय वह बराबर अपना पाठ तैयार कर लेती। मन में फिर शान्ति का प्रादुर्भाव हुआ और वह सुखी हुई। वार्षिकोत्सव में उसने उत्साहपूर्वक भाग लिया और परीक्षा में भी वह तीसरे नम्बर पर उत्तीर्ण हुई।

परीक्षा-फल प्रकट होते ही सारी बहनें घर जाने को आतुर हो उठीं। अनेक तो परीक्षा-फल प्रकट होने के पूर्व ही चली गई थीं और शेष शीघ्र-से-शीघ्र जाने के लिए तैयार बैठी थीं। अतएव दुपहर को ही बिदाई की सभा और सायंकाल बिदाई का सहभोज निबटा देना निश्चित किया गया।

सभा में आचार्य ने कुछ छात्राओं की प्रशंसा की और कुछ के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। अपने भाषण में उन्होंने कहा—"हमारे आश्रम में भिन्न-भिन्न धर्मों, वर्गों और जातियों की बालिकाएँ मौजूद हैं। हमें अभिमान है कि वे सब आपस में बहनों के समान मिल कर रहती हैं और उनमें किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं है। हमारे आश्रम ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि दलित सम्प्रदायों की बालिकाएँ भी उचित शिक्षा मिलने पर अधिक-से-अधिक उन्नति कर सकती हैं। चंचला इस सत्य का जीता-जागता उदाहरण है। हमें उस पर गौरव है। उसने जिस योग्यता और सांस्कारिकता का परिचय दिया है, उससे दूसरी बहनों को स्फूर्ति ग्रहण करनी चाहिए...."

जिन छात्राओं का मन अब तक चंचला के सम्बन्ध में साफ नहीं हुआ था, उन्हें उसकी प्रशंसा अच्छी नहीं लगी। किसी को उसके प्रति ईर्ष्या हुई, किसी को द्वेष हुआ, परन्तु उसकी सखियां प्रसन्नता से फूली न समाईं।

जया को तो ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उसकी ही प्रशंसा की गई हो। सभा समाप्त होते ही वह चंचला से लिपट गई और भावावेश में आकर बोली—"दीदी! मेरी दीदी!"

चंचला व्याख्यान सुनती-सुनती विचारों में निमग्न हो गई थी। उसके चेहरे पर फिर पहले जैसी गंभीरता छाई हुई दिखलाई पड़ने लगी थी। उसकी जो प्रशंसा आचार्य ने की उसके बाद स्वभावतः ही अनेक छात्राओं ने उसकी ओर देख कर उसकी प्रतिक्रिया समझने का प्रयत्न किया था। उसकी गंभीरता को देखकर एक छात्रा ने दूसरी छात्रा से कहा था—"अपनी प्रसन्नता को कैसे दबा लिया है!" दूसरी ने उत्तर दिया था—"वह है ही मनहूस!" तीसरी मुंह बिचका कर रह गई थी।

परन्तु उसकी सखियाँ उसकी ओर देखकर मुसकराईं। जब उसने मुसकान का उत्तर मुसकान से न दिया तो मीनाक्षी ने अपनी दो अंगुलियाँ सीधी करके उसे इस प्रकार दिखलाईं, मानो कह रही हो कि दोनों आँखें कोंच दूँगी। वसुधा ने मुँह में हवा भरकर और दोनों गाल फुलाकर उसकी नकल करते हुए उसकी ओर देखा। और क्या-क्या नहीं हुआ?

परन्तु क्या उन सब चेष्टाओं का चंचला के ऊपर कोई परिणाम हुआ था? क्या वह उनकी ओर आकृष्ट होकर अपने विचारों से विरत हो सकी थी?

और जया के शरीर से लिपट जाने पर उसे प्रतीत हुआ, मानो वह जान-बूझकर उसे तंग कर रही हो। परन्तु जया पर क्रोध करने की शक्ति उसमें नहीं थी। उसके प्रति उसके हृदय में एकात्म्य उत्पन्न हो गया था। फिर भी जया का यह अत्याचार वह सहन न कर सकी और रूखे स्वर में बोली—"कैसी नष्ट है, री! तू!" और वह उसे दूर हटाने लगी।

जया ने उसके रुख को बिना समझे ही उसे अपने बाहुपाश से छोड़ते-छोड़ते कहा—"दीदी, आज कैसी खुशी का दिन है!"

चंचला ने तीव्रता से कहा—"खुशी का दिन है या रोने का!"

जया ने समझा कि विदाई का दिन होने के कारण वह ऐसा कह रही है। उसे बात ठीक भी मालूम हुई और गलत भी। अतः उसने और भी मधुरता के साथ कहा—"दो महीने बाद ही तो फिर मिलना है, दीदी! रोने की क्या बात है!"

और अब तक इधर-उधर बहनों को चिढ़ाती-चमकाती वसुधा वहाँ आ पहुँची। उसने जया की बात सुन ली और बिना कोई बात किये ही यह

धारणा कर ली कि चंचला की उदासी का कारण विदाई ही है। उसने दोनों को छोड़कर और अभिनय करके गाना शुरू कर दिया—

"प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।"

और लोगों का ध्यान तो उसके गीत की ओर खिंच गया, परन्तु चंचला कुछ अधिक ही संतप्त दिखलाई पड़ी। वसुधा हार माननेवाली नहीं थी। उसने चंचला की ठुड्डी पर हाथ लगाकर, नृत्य-मुद्रा के साथ आगे गाया—

"प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपै प्रान दह्यो॥"

"प्रीति करि......"

फिर भी चंचला पर अनुकूल प्रभाव न पड़ा और वसुधा ने उसी प्रकार छेड़-छाड़ करते हुए अपना गीत समाप्त कर डाला—

"अलि सुत प्रीति करी जल सुत सों, संपति हाथ गह्यो।
"सारँग प्रीति करी जु नाद सों सनमुख बान लह्यो॥
"प्रीति करि......
"हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो।
"सूरदास प्रभु दिनु दुःख दूनो, नैननि नीर बह्यो॥
"प्रीति करि........"

गीत समाप्त करते-करते वसुधा ने जया को गुदगुदा दिया और जया किलकिला कर दूर भाग गई। इस पर चंचला ने भी मुसकराने की चेष्टा की, परन्तु इस बार दिखाई दे गया कि उसके हृदय में कोई गहरी पीड़ा छिपी हुई है। इसी बीच गृह-व्यवस्थापिका ने वहाँ आकर कहा कि रात को जानेवाली बहनों को अपनी-अपनी तैयारी कर लेनी चाहिए। बहनें हू-हा करती हुई वहाँ से भाग गईं।

चंचला ने कोई तैयारी नहीं की। वह जाती भी कहाँ? उज्जैन में उसका घर खाली हो गया था। उसके चाचा इन्दौर वापस चले गए थे और उन्होंने इतने दिनों में उसे एक पत्र भी न लिखा था। उनके पास जाने का उत्साह उसके दिल में न हुआ। थोड़ी देर के लिए जीवन की ओर उसका मन आकर्षित हुआ। जीवन बराबर उसे पत्र लिखता रहता था। अपने अन्तिम पत्र में उसने बहुत आग्रह के साथ उसे उज्जैन आने का आमंत्रण दिया था। इसे स्मरण करके उसे प्रसन्नता अवश्य हुई; परन्तु अब वह दुनिया की बातें समझने लगी थी, इसलिए उसका उत्साह बहुत देर तक कायम न रहा। वह विवश और शिथिल होकर अपने पाटे पर जा लेटी। उसका हृदय जैसे दुहरी मार से पीड़ित था।

सहभोज की तैयारी के लिए जब निर्मला, गिरिजा, मीनाक्षी, कान्ता और जया मिलकर उसे बुलाने आईं तो उन्होंने उसे लेटे हुए पाया। उसका चेहरा इतना उतर गया था, मानो महीनों से बीमार हो।

सब स्तब्ध रह गईं। निर्मला ने शांति भंग करते हुए पूछा—"क्या हो गया तुम्हें, चंचला ?"

"कुछ तो नहीं, यों ही पड़ी हुई हूँ"—चंचला ने प्रयत्नपूर्वक उठते हुए छिपे दर्द की आवाज में कहा।

"फिर तुम्हारा चेहरा इतना सूख क्यों गया ?"

इस पर जया बोल उठी—"जाने वाली जो हैं।"

चंचला ने कोई उत्तर न दिया। सहानुभूति और स्नेह की गलतफहमी से उसे और भी व्याकुलता हुई। हृदय उमड़ने लगा और बड़े प्रयत्न से उसने अपने-आपको सँभाला।

गिरिजा ने उसकी यह दशा बारीकी के साथ देखकर दर्द-भरे शब्दों में कहा—"अपने दुःख में तुम हमें कभी शामिल नहीं करतीं। हमें कितनी दूर मानती हो। इस प्रकार मन-ही-मन घुल-घुल कर हमारे प्रति अन्याय करती हो।"

"बताने योग्य कुछ हो तब तो बताऊँ, गिरिजा !" चंचला ने अपने-आपको और भी सँभालते हुए कहा।

"तुम्हारे पास तो कुछ भी बताने योग्य नहीं रहता"—जया ने उलाहना दिया।

और निर्मला ने भी छोड़ा नहीं—"ऐसी कौन-सी रहस्य की बातें तुम्हारे पास हैं, जो हम से भी नहीं बताई जा सकतीं ?"

अंतिम वार मीनाक्षी का था—"क्यों नहीं, प्रेम की.......शादी-ब्याह की......"

और यह वार खाली न गया। चंचला ने उसकी बात पूरी होने के पहले ही उसके दोनों हाथ पकड़कर, ढकेलते हुए कहा—"हट री !" और वह मुसकराई और फिर लजा गई। सब बहनें खिलखिला कर हँस पड़ीं।

सहभोज समाप्त होने पर प्रायः सभी छात्राएँ अपने जाने की दौड़-धूप में लग गईं। इधर निर्मला और चंचला के बीच बहुत देर तक बातें होती रहीं। छात्राओं को तो केवल इतना ही मालूम हुआ कि चंचला निर्मला के साथ इन्दौर जाकर अपनी गर्मी की छुट्टियाँ उसी के घर में बितायेगी। इस निश्चय से चंचला को प्रसन्नता हुई या नहीं, इसका पता नहीं चल सका।

जब वह निर्मला के घर पहुँची तो निर्मला की मा ने दोनों सखियों का बराबर प्यार के साथ स्वागत किया। परिचय के बाद मा ने कहा—"सिलावटों को तो अभी-अभी हरिजन माना जाने लगा है।"

चंचला को इस विषय का उठना ही कड़वा लगा, पर इसे रोक देना उसके हाथ की बात न थी। सिलावटों के घर में वह पैदा हुई थी, इससे तो इनकार किया ही नहीं जा सकता था। और यह भी सच था कि सिलावटों को अब अस्पृश्य माना जाता था। भाग निकलने की गुंजाइश ही कहाँ थी? परिस्थिति का सामना करने से ही काम चलेगा। उसने निर्मला की ओर भेद-भरी दृष्टि से देखा और निर्मला ने बात को उठा लिया—"स्पृश्य और अस्पृश्य तो हमने ही बनाया है, मा! अब तो हमें यह सब बिलकुल भूल जाना चाहिए। हम सब एक ही भगवान् के बनाये हुए हैं और सब बराबर हैं।"

"हाँ, बेटी! सो तो है ही"—मा ने कहा—"ये लोग तो मुसीबत के मारे हैं और इसलिए भगवान को और भी प्यारे हैं।"

दया और सहानुभूति के तीर से चंचला विद्ध होने लगी। निर्मला अपनी पैनी दृष्टि से उसके चेहरे का परिवर्तन देख रही थी। उसने बात को बदलने के इरादे से कहा—"मा, यह मेरी सबसे प्यारी सखी है।"

"और है भी तो बहुत अच्छी! तुम दोनों एक थाली में भी खाओ तो मुझे कोई आपत्ति न होगी, परन्तु मुझे जरा बचा देना। अब थोड़ी उम्र बाकी है। जैसे इतनी कटी, वैसे ही बाकी भी कट जाने दो, बेटी।"

मा के हृदय में कितना स्नेह था! और कितनी उदारता! परन्तु निर्मला जिस बात को टालना चाहती थी, उसमें वह सफल न हुई। यद्यपि चंचला ने आज तक स्पृश्यास्पृश्य के सम्बन्ध में उससे कोई बात नहीं कही थी, फिर भी वह उसके मनोगत भावों को महसूस करने लगी थी। मा के मुँह से अनपेक्षित रूप में यह बात सुनकर उसका मन आशंकाओं से भर गया।

भोजन के समय मा ने चौके के बाहर दो पटे डाल दिये। दोनों के बीच दो-तीन हाथ का अन्तर था। निर्मला की छोटी बहन सरला ने दो परोसी हुई थालियाँ लाकर दोनों सखियों के सामने रख दीं। भोजन करते समय दोनों के मुँह से एक शब्द भी न निकला। सरला यदि बीच-बीच में कुछ बातें करने का प्रयत्न करती तो उसे हां-नहीं में उत्तर देकर दोनों चुप हो जातीं। मा ने यह मौन देखा तो उन्हें शंका हुई कि शायद भोजन अच्छा नहीं बना। उन्होंने चौके से निकलकर और उनके पास आकर चंचला से

कहा—"आज जल्दी-जल्दी में मैं अच्छी तरह भोजन नहीं बना सकी, बेटी! तुम लोग अपने हाथों बनाती-खाती हो, यह भोजन अच्छा न लगा होगा।"

चंचला ने *यंत्रवत् कह दिया—"भोजन तो बहुत अच्छा बना है, मा!* हम लोग तो आश्रम में जैसा-तैसा बना लेती हैं।"

निर्मला ने भी मा को संतुष्ट करना जरूरी समझा, इसलिए कहा—"बिलकुल अच्छा नहीं बना, मा। शाक में घी-ही-घी है, दाल में नमक न कम है, न ज्यादा।"

मा हँस पड़ीं और बोलीं—शाम को अच्छी तरह बनाऊँगी।

दोनों सखियाँ यात्रा की थकी हुई थीं। मा के आग्रह से एक कमरे में आराम करने लगीं। मा को इससे अधिक सुख किस बात से मिलता है कि वह अपने बच्चों को सुखी और प्रसन्न देखे?

परन्तु क्या चंचला को आराम मिल सकता था? चारों ओर से छिदते हुए काँटों के बीच फूल की कली कितनी खिल सकती है? उसके हृदय में धू-धू करके भट्ठी जल रही थी। एक ओर समाज की दया और सहानुभूति थी, दूसरी ओर उसका व्यक्तित्व और उसकी महत्वाकांक्षाएँ। सिर से चादर ओढ़कर लेटी हुई वह करवटें बदलती रही। बीच-बीच में वह जोर से निश्वास छोड़ देती थी, मानो अन्तरात्मा की अग्नि प्रज्ज्वलित करने वाली आँधी को मुँह के मार्ग से निकालने का प्रयत्न करती हो।

वह मन-ही-मन तर्क कर रही थी—आखिर मैं दुनिया में दया और सहानुभूति की पात्र क्यों हूँ? क्यों लोग मेरे साथ बराबरी का सम्बन्ध नहीं रख सकते? आश्रम में जितनी छात्राएँ हैं उनमें यदि मैं कुछ से पीछे हूँ, तो कुछ से आगे भी हूँ। परन्तु समाज में तो मैं हर हालत में पीछे ही मानी जाती हूँ। यदि मैं ब्राह्मण-क्षत्रिय के घर में पैदा नहीं हुई तो इसमें मेरा क्या दोष? यदि मैं सांस्कारिकता और सभ्यता से अछूती होती, बुद्धि में सबसे पीछे होती, मेरे व्यवहार से दूसरों को कष्ट होता, तब तो भले ही लोगों को मुझे दूर-दूर रखने का अधिकार होता; परन्तु बात तो इसकी उलटी है।

लोग मुझे हरिजन कहते हैं, परन्तु मैं तो हरिजन नहीं हूँ? मेरे पिता अपने बचपन में हरिजन नहीं माने जाते थे। जैसे-जैसे वह उन्नति करते गये, बढ़ते गये, वैसे-वैसे समाज उन्हें हरिजन बनाता गया। तीस-चालीस वर्षों में ही एक जाति-की-जाति हरिजन बन गई। ऐसी कितनी ही अभागी जातियाँ इस भीषण अस्पृश्यता की शिकार हुई हैं। उनकी भावनाओं और महत्वा-कांक्षाओं को कुचल कर उन्हें अवनति के गर्त में जा गिरने के लिए बाध्य किया

गया है। यह सब क्यों किया गया ? इससे किसी का क्या लाभ हुआ ? समाज की व्यवस्था इससे छिन्न-भिन्न हुई। संगठन नष्ट हो गया। समाज ने अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के अतिरिक्त क्या किया ?

लोगों की सेवा और सहायता करने का महान कार्य हमारी-जैसी जातियों का रहा है। हमारी जातियों ने अपने कर्तव्य का पालन सदैव सचाई, दक्षता और धैर्य के साथ किया। इस सब का फल हमें यह मिला कि हम अछूत माने जाने लगे। किसी मनुष्य को किसी के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार करने का क्या अधिकार है ?

बहुत देर तक वह इसी प्रकार के विचारों में डूबती-उतराती रही। निर्मला की माता की सहानुभूति ने आज उसके आत्मभिमान को जोर से झकझोर कर जाग्रत कर दिया था। उसके स्नेह में उसे स्निग्धता अवश्य दिखलाई दी, परन्तु स्निग्धता के साथ भावनाओं का मेल ढूँढ़े न मिला। उस स्निग्धता में उसने अपना प्रतिबिंब देखा तो उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसका व्यक्तित्व टूटा-फूटा, विकृत और नष्टप्राय है। वह चौंक पड़ी और इस स्निग्धता से दूर भाग जाने के लिए व्याकुल हो उठी।

निर्मला लेटी-लेटी सो गई थी। जब वह जागी तो चंचला ने उससे कहा—"मुझे लगता है कि चाचा के घर में रहकर ही छुट्टियां बिताना अच्छा होगा।"

निर्मला के लिए चंचला का यह विचार आश्चर्यजनक नहीं था। इधर कुछ दिनों से वह उसकी मनोवृत्ति समझने लगी थी। मा के व्यवहार का यही परिणाम होगा इसकी अशंका उसे पहले ही हो चुकी थी। फिर भी बात को संभालने के उद्देश्य से उसने कहा—"क्यों? यह भी तो तुम्हारा ही घर है ?"

"नहीं निर्मला, मेरा घर एक ही है और वह हरिजनों की बस्ती में है।"

"ऐसा क्यों कहती हो ?"

"मुझ से समाज की दया और सहानुभूति सही नहीं जाती।"

"यह तो गलत तरीका है, चंचला। छुआछूत की प्रथा के कारण अब तक समाज ने अवश्य ही अपने एक अंग पर बहुत अत्याचार किया है, परन्तु अब वह अपनी भूल को समझ रहा है। उसके व्यवहार में परिवर्तन आरम्भ हो गया है। क्रान्ति एक दिन में नहीं होती। धीरे-धीरे सब ठीक हो जायेगा। इस बीच तुम्हें भी उदारता का परिचय देना चाहिए।"

बात बुद्धि को पटने योग्य थी, परन्तु चंचला तो भावनाओं के सरोवर में डुबकियाँ लगा रही थी। उसने कहा—"तुम्हारी बात ठीक है, परन्तु कटु

प्रसंगों और प्रतिकूल वातावरण में रहकर मैं अपने भावों पर नियंत्रण नहीं रख सकती। थोड़े दिनों की शान्ति के विचार से मेरा चला जाना ही अच्छा है।"

"तो क्या मैं यह समझूं कि हम लोग तुम्हारी अशांति के कारण हैं ?"

"ऐसी बात नहीं है, निर्मला। तुम्हारी जैसी सखी पाकर मैं सुखी और गौरवान्वित हुई हूँ। तुम्हारी माताजी ने भी मेरी भावनाओं का ख्याल रखा है। मेरा मन चोट खाया हुआ है, इसलिए छोटी-छोटी बातें भी मेरे लिए असह्य हो जाती हैं।"

"आखिर चाचाजी के साथ रहने पर भी तो समाज का सम्बन्ध आयेगा ही। वहां तुम सुखी कैसे हो सकोगी ?"

"मैं थोड़े दिन सवर्ण समाज से कोई सम्बन्ध न रखूँगी।"

"यह विरक्ति का मार्ग मेरी समझ में नहीं आता। जिस समाज के बीच सारा जीवन बिताना है उससे चार दिन के लिए अलग होने से क्या लाभ होगा ? क्यों न अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए बराबर उससे लड़ते रहा जाये ?"

"अभी तो मुझे बहुत थकान मालूम होती है। थोड़े दिनों के लिए जाना ही ठीक होगा।"

"जाना ही चाहती हो तो मैं तुम्हें रोकूँगी नहीं परन्तु एक वादा करना होगा।"

"क्या ?"

"अपने मन की स्थिति से मुझे सदा अवगत रखोगी; कोई बात छिपाओगी नहीं !"

"प्रयत्न करूँगी।"

"प्रयत्न नहीं, सब-कुछ बतलाना होगा। करो वादा।"

चंचला ने कुछ सोचने के बाद वादा कर दिया। और थोड़ी देर बाद ही निर्मला की मा से आदर के साथ विदा लेकर वह अपने चाचा के घर चली गई।

मा ने बेटी से कहा—"हरिजन होती हुई भी कैसी भली लड़की है ! परन्तु कुछ दुःखी मालूम होती है।"

निर्मला ने गद्गद् होकर उत्तर दिया—"मेरी सबसे प्यारी सखी है, मा ! ऐसा लगता है, मानो तुम्हारे ही पेट से पैदा हुई हो। परन्तु तुम उसे भोजन कराने में दूर-दूर क्यों रहीं ?"

"क्या करूं, बेटी ! जन्म-भर के संस्कार एक दिन में नहीं जाते। आगे मैं और भी ध्यान रखूँगी।"

"तुम कितनी भली हो, मा !"—कहते-कहते निर्मला ने मा की गोद में सिर रख लिया। दोनों का दिल भर आया।

"तुम्हारी जोड़ी सदा बना रहे, बेटी ! मुझे तो तुम्हारे सुख में ही सुख है"—मा ने अत्यन्त स्नेह के साथ निर्मला के सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया।

११

शिर ऊँचा उठा

उधर चंचला अपने चाचा के घर पहुँची तो उसका बड़े स्नेह के साथ स्वागत हुआ। चाची ने उसे हृदय से लगाया। चाचा ने प्यार के साथ उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"यह हमारे कुटुम्ब की रत्न है।" और जब प्रेम का प्रथम आवेग कुछ कम हुआ और चंचला को सोचने का अवसर मिला तो उसका ध्यान उसके माता-पिता पर जा पहुंचा। अवश्य ही यदि माता-पिता जीवित होते तो उसे आज से सौ-गुना संतोष हुआ होता। स्वजन-परिजनों में से प्रायः सभी लोग उससे मिलने आये, वह भी प्रायः सभी के घर गई परन्तु जो संतोष माता-पिता के पास होता, उसका अनुभव कहाँ हो सकता था?

कई दिन ऐसे ही बीत गये। जैसे-जैसे वह नई की पुरानी होती गई, वैसे-वैसे उसे थकान महसूस होती गई। अतः उसने आस-पास के छोटे-बड़े बच्चों को एकत्र करके उन्हें पढ़ाना शुरू किया। घर-घर घूमकर वह स्त्रियों को भी शिक्षा देने लगी। इस कार्य में उसे आनन्द मिलने लगा। जीवन को भी उसने पत्र लिखकर इंदौर बुलाया और उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा करने लगी।

और काम उसका बढ़ने लगा, और बढ़ता ही गया। चार-पांच दिनों में ही सारे मोहल्ले में बात फैल गई कि उसने बच्चों की पाठशाला खोली है और सारे मोहल्ले के 'अवर्ण' बच्चे उसे घेरे रहने लगे। सवर्ण परिवारों में से भी कुछ के बच्चे आये। ढाई-तीन वर्ष से लेकर सात-आठ वर्ष तक के बच्चों की शाला बनी। बड़े लड़के-लड़कियां भी मनोरंजन के लिए आने लगे। वह कहानियां सुनाती, उन्हें तकली कातना, लिखना-पढ़ना, चित्र बनाना, नाचना, गाना, बजाना, और खेलना आदि सिखाती। एक छोटे-से नाटक की तैयारी भी उसने शुरू कराई। बच्चों के साथ बड़े प्रेम का व्यवहार करती। बच्चे भी उसे छोड़ना न चाहते।

समय कितनी जल्दी बीत गया, उसे मालूम भी न पड़ा। जीवन आया और कुछ दिन रहकर चला गया। बच्चों की पढ़ाई और घर-घर जाकर स्त्रियों को पढ़ाना जारी रहा। इस सब से उसकी लोकप्रियता खूब बढ़ी। स्त्रियाँ उसका आदर करतीं और पुरुष प्रशंसा करते। चंचला को इस सब से बहुत सन्तोष हुआ। बार-बार वह महसूस करती कि जाति के ये लोग कितने प्रेमी हैं। बहुधा वह सभ्य कहलाने वाले समाज से इन दीन-हीन, प्रताड़ित और प्रवञ्चित लोगों की तुलना करने लगती और सफेदपोश संसार के प्रति उसकी विरक्ति बढ़ जाती। प्रेम, सहानुभूति और सहिष्णुता की इन जीवित-जाग्रत मूर्तियों के आसपास ही उसे अपना स्थान दिखलाई पड़ता। इनकी प्रत्येक बात उसे आकर्षित करने लगी!

वह बड़े-बड़े महल देखती, सुन्दर गृह-सज्जा देखती, नहरें देखती, बाग-बगीचे देखती, रेलें और मोटरें देखती, और उसका सिर गौरव से उन्नत हो जाता—ये सब तो हम लोगों के ही बनाये हुए हैं। यदि हम न होते तो इन्हें कौन बनाता? परन्तु विधि की विडंबना! जो लोग हमारी बनाई हुई वस्तुओं का उपयोग और उपभोग मात्र करते हैं, वे सभ्य कहलाते हैं, परन्तु उनके निर्माताओं को असभ्य, अस्पृश्य कहा जाता है!

उसकी दृष्टि जिधर जाती उधर ही उसे दलित समाज के हाथों और बुद्धि का चमत्कार दिखलाई पड़ता। अब तक हरिजन कहलाने में वह अपना अपमान समझती थी, परन्तु इधर वह सोचने लगी कि यदि मैं हरिजन हूँ तो मेरी स्थिति कितनी महान है। कितनी सेवा, कितने मूक बलिदान का श्रेय हरिजनों को है। आज भले ही समाज इसे स्वीकार न करे, परन्तु सदैव यह स्थिति कायम नहीं रह सकती।

हरिजन कहलाने का अनुताप उसे अब न रहा। उसे अब वह गौरव का तिलक मानने लगी। अब वह महसूस करती कि हरिजनों को अस्पृश्य माना जाता है तो उसका हृदय बैठता नहीं, वरन् विद्रोह करता।

सारा संसार—वह संसार जिसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपने परम्परागत अधिकार स्थापित कर रखे हैं और जो इन अधिकारों के बल पर दूसरों को पीड़ित करता रहता है—उसे शत्रु के समान प्रतीत होता। कभी-कभी वह सोचती कि जो कुछ भी है, उस सबको एक बार नष्ट कर दिया जाये और फिर से एक नये संसार का निर्माण हो—ऐसे संसार का, जिसमें कोई परम्परागत अधिकार न हों, सब मनुष्य बराबर हों और सबको उन्नति करने का बराबर अवसर मिले; जिसमें बालपन फूल-सा खिले, यौवन आंधी का वेग

धारण करके अदम्य गति से सत्पथ की ओर चले और जरा ज्ञान, अनुभव तथा साम्य का दंड लेकर दूसरों का मार्ग-प्रदर्शन करे।

इसी प्रकार के हृदय-मंथन में उसकी छुट्टियाँ समाप्त हो गईं। जिस दिन वह रवाना होने लगी, उस दिन जाति की सभी स्त्रियाँ उससे भेंट करने आईं। बच्चों ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। उस दिन का प्रेम उसके हृदय-पटल पर गहरा अंकित हो गया।

रेलगाड़ी पर निर्मला ने उससे विनोद किया—"तुम तो ऐसी उदास हो गई हो, जैसे मायके से ससुराल जा रही हो।"

"बात कुछ ऐसी ही है, निर्मला! मुझे सचमुच ही इन्दौर छोड़ना बहुत भारी पड़ रहा है"—चंचला ने निर्मला के विनोद को गंभीर रूप देते हुए कहा।

"इन्दौर में कौन-सा ऐसा आकर्षण तुम्हें मालूम हुआ? यहां तो तुम पहले आना ही नहीं चाहती थीं?"

"यहां मैंने क्या नहीं पाया, बहन? भाई-बहन, सखी-सखा, सभी तो मिले। उनके बीच में रहकर जो प्रेम और अपनापन मैंने महसूस किया, वह और कहां मिल सकता था? छोटे-छोटे बच्चे मुझे छोड़ना नहीं चाहते थे, बड़े लोगों की आंखों में मुझे विदा करते हुए आँसू आ गये।"

"बस तुम्हें तो एक ही वस्तु प्रिय है—आँसू! सोते-जागते, उठते-बैठते तुम आँसुओं से ही नहाती रहना चाहती हो। यदि तुम्हें आँसू न दिखलाई दें तो प्रेम का अनुभव होता ही नहीं।"

"तुम ठीक ही कहती हो, निर्मला! आँसू मेरे जीवन का सर्वस्व बन गये हैं। मेरा हृदय तुषाराक्रान्त है। रोष की उष्णता हो या प्रेम की, वह केवल द्रवित होता है। तुमने अनुभव नहीं किया, बहन, कि आँसुओं में कितनी करुणा और कितनी पवित्रता होती है।"

"रहने भी दो तुम अपना यह आँसू-पुराण। आँसुओं की प्रशंसा करके तुम न-मालूम कितने कर्तव्य-निष्ठ और कर्मठ वीरों का अपमान कर रही हो।"

"नहीं, तुम गलत समझीं। जिसे आँसू प्रिय हैं वह उदात्तता का अपमान कर ही नहीं सकता। आँसुओं से परे सच्ची वीरता हो ही नहीं सकती। आँसू करुणा के प्रतीक हैं। करुणा ही मनुष्य में उदात्त गुणों का विकास करती है। पुराणों में राम और कृष्ण से लेकर इतिहास में प्रताप, शिवाजी, आदि तक समस्त अप्रतिम वीरों के जीवन को छान डालो, और वे तुम्हें करुणा से ही ओतप्रोत मिलेंगे। आँसू उनके नेत्रों में कदाचित् न मिलें, परन्तु उनके हृदय की परीक्षा करके देखो, वहाँ तुम्हें आँसुओं की मंदाकिनी बहती मिलेगी।"

"तुम तो कविता करने लगीं। यह क्यों नहीं कहतीं कि आंसू दुर्बलता के, असहायता के चिह्न हैं। आँसू बहाकर मनुष्य अपने अंदर की सारी उष्णता, सारी वीरता धो डालता है। जब तक वह आंसुओं को रोकना नहीं सीखता, तब तक कर्मठता उसके पास फटक भी नहीं सकती। कर्मठता कठोरता की सहचरी है। उससे परित्यक्त होकर कर्मठता पंगु हो जाती है।"

"शायद तुम्हारा कहना भी ठीक है और मेरा भी।"

"अच्छा, जाने दो। परन्तु यह तो बताओ कि तुम तो समाज से ऊब कर चाचा के घर एकान्तवास करने गई थीं, फिर वहां भीड़ क्यों एकत्रित कर ली?"

"भीड़ मैंने किसी उद्देश्य से प्रयत्न करके एकत्रित नहीं की। किसी अप्रकट प्रेरणा से कुछ करती गई और उसका परिणाम होता गया। शायद यह उम्र का तकाजा था, शायद संस्कारों का परिणाम था। परन्तु कुछ भी हो, इस भीड़ ने मेरी आंखें खोल दी हैं।"

"कैसे?"

"तुम जानती हो, यह भीड़ विशेषतया मेरी जाति के बच्चों और स्त्रियों की थी?"

"हाँ।"

"इनका पूरा प्रेम—निष्कपट और उत्कट—मैंने प्राप्त किया।"

"सो तो स्पष्ट है।"

"इस प्रेम में अपने-आपको श्रेष्ठ माननेवालों की दया और सहानुभूति नहीं थी।"

"शायद अपने-आपको छोटा माननेवालों का आदर और भक्ति थी?"

"नहीं, केवल इतना ही कि वे मेरे और मैं उनकी थी। हम सब समदुःखी थे। दूसरी जगह हमें प्रेम मिलता ही नहीं था।"

"अच्छा, फिर?"

"उनके प्रेम में मैंने महसूस किया कि मैं संसार में अकेली नहीं हूँ।"

"और?"

"और मैंने महसूस किया कि समाज भले ही अस्पृश्य कह कर हमारा तिरस्कार करे, परन्तु हम इस तिरस्कार के योग्य नहीं हैं।"

"तुमने बहुत विलम्ब से यह अनुभव किया, परन्तु इसका आधार क्या था?"

"उनकी निष्कपट सरलता, उनका प्रेम, उनकी सहानुभूति, उनकी कर्मण्यता, उनकी क्षमाशीलता, उनका मूक बलिदान—सभी गुण पग-पग पर उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। मानवता के समस्त मौलिक गुण उनमें दूसरों से—सवर्ण और सभ्य कहलाने वाले समाज से—अधिक मात्रा में मौजूद हैं। मानवता के विकास और मानवों के सुख के लिए सहस्रों वर्षों से वे अपने-आपको मिटाकर कार्य करते चले आ रहे हैं। बदले में उन्हें केवल उपेक्षा, अपमान और बहिष्कार प्राप्त हुआ। मैंने बड़े-बड़े प्रासाद देखे, उत्कृष्ट कला-कृतियाँ देखीं—उन सबमें मुझे इन अस्पृश्यों और दलितों के मस्तिष्क, हृदय और हाथों के चमत्कार दिखलाई दिये। जड़ होकर भी वह पुकार-पुकार कर हमारी दुहाइयाँ दे रहे हैं; परन्तु सचेतन मनुष्य के कान बहरे हैं, या वह सुनना ही नहीं चाहता। खाद्य पदार्थों में, वस्त्रों और अलंकारों में, सभ्य समाज के दूसरे समस्त उपकरणों में हमारी ही आत्मा बोल रही है, मनुष्य का स्वास्थ्य हमारा ही दिया हुआ है; परन्तु हम स्वयं भूखे, नंगे और रोगों से ग्रस्त हैं। यह सब मैंने देखा और अनुभव किया। मेरा शिर ऊँचा हो गया और मैं गौरव का अनुभव करने लगी।"

"और?" निर्मला ने किंचित् चकित होकर पूछा।

"अब मैं महसूस करने लगी हूँ कि मजदूर और किसान, अस्पृश्य और दलित महान हैं। उन्हें उठना चाहिए, अपने अधिकारों और सामाजिक समानता के लिए झगड़ना चाहिए।"

"निःसन्देह! परन्तु तुम मानती हो न कि झगड़ने का तरीका दुराग्रहपूर्ण और समाज की और भी अधिक हानि करनेवाला न होना चाहिए?"

"तरीके की अच्छाई-बुराई समझना अभी मेरी योग्यता के परे है।"

"पर कुछ करने का निश्चय किया है?"

"शक्ति भर करूँगी।"

"मुझे भी अपने कामों और विचारों में साथ लोगी?"

"तुम्हारा साथ मिले तो मुझे और क्या चाहिए, निर्मला?"

१२

वैराग्य या जड़ता ?

काशी स्टेशन पर रेलगाड़ी से उतरते ही चंचला और निर्मला ने देखा कि वसुधा, गिरिजा और मीनाक्षी दौड़ती हुई प्लैटफार्म की ओर आ रहीं हैं। दोनों को बहुत हर्ष हुआ और दो महीनों से बिछुड़ी हुई बहनों से मिलने के लिए उनके हृदय उछल पड़े। दूर से ही सब ने अभिवादन किया। पास आने पर वसुधा ने हँसते हुए कहा—"स्वागत है, कन्या कुमारियों का !" और वे सब एक दूसरी से लिपटकर गले मिल ली होतीं, परन्तु शायद स्टेशन की भीड़ आड़े आ गई।

निर्मला ने वसुधा की बात का उत्तर तुरन्त दिया—"बिहार की रानी को कोटि-कोटि नमस्कार !"

"बिहार की रानी को कोटि-कोटि नमस्कार करने से काम न चलेगा, हम भी यहाँ उपस्थित हैं"—गिरिजा ने विनोद को आगे बढ़ाया।

"तुम लोगों के लिए तो एक पैसे की रेवड़ी बहुत होगी, और मैं तुम्हारे लिए इन्दौर से फुटाने-मुरमुरे ले आई हूँ"—चंचला ने हँसते हुए उत्तर दिया।

मीनाक्षी अब तक चुप थी। अब उसकी बारी आई। उसने कहा—"इन्दौर के आलीशान महलों के अन्दर, मालूम होता है, फुटाने ही फाँके जाते हैं ?"

और सब हँस पड़ीं। इतने ही में बूढ़ा कुली बोल उठा—"बेटी, मेरी सवारियाँ जा रही हैं। जल्दी करो, मैं सामान बाहर निकाल दूँ।"

वसुधा ने उत्तर दिया—"हमें कुली की क्या जरूरत है ? हम सब मिलकर सामान उठा लेंगी।" और उसने कुछ सामान हाथ में उठाकर कहा—"लो थोड़ा-थोड़ा सब लोग ले लो।" और पाँचों बहनें सामान उठाने लगीं।

वृद्ध कुली ने करुणा से उनकी ओर देखा और वह कुछ कहना ही

चाहता था कि मीनाक्षी बोल उठी—"इस कुली ने सामान उतारा है, इतना समय खराब किया है, इसे कुछ दे देना चाहिए।"

कुली अपने पक्ष की बात सुनकर प्रसन्न हुआ और बोला—"हाँ बेटी, आप तो पढ़ी-लिखी, होशियार हैं। मैं बूढ़ा........"

चंचला ने अपना बटुआ टटोलना शुरू किया। इसी बीच मीनाक्षी ने बूढ़े को कुछ देकर विदा कर दिया।

चंचला ने रूठकर मीनाक्षी से कहा—"तूने क्यों दिया ?"

वसुधा बोल उठी—"तुम हो बुद्धू ! चलो, उठाओ सामान।" और सब सामान उठाकर बाहर आ गईं। सामान एक तांगे पर लाद कर रवाना कर दिया गया और सब बहनें इतने दिनों की छूटी हुई बातें पूरी करती, हँसती-हँसाती पैदल चलीं।

आश्रम में पहुँचने पर एक बार फिर हर्ष का समाँ बँधा। प्रतिवर्ष के समान इस वर्ष भी भारत के प्रायः सभी प्रान्तों से अनेक नई बहनें आई थीं और अनेक पुरानी बहनें चली गई थीं। गौरी का विवाह हो गया, इस लिए वह लौट न सकी। मोहिनी शिक्षा समाप्त करके चली गई। जया अस्वस्थ हो हो जाने के कारण विलंब से आई और जब तक वह आ न गई, चंचला बहुत कातर रही।

आश्रम का कार्य नियमित रूप से शुरू हो गया और छात्राएँ आनन्द तथा उत्साह के साथ अपने अध्ययन में लग गईं। सदा के समान यात्रा के लिए एक दिन निश्चित किया गया। आचार्य मानवशंकर ने पूर्व-तैयारी के रूप में एक भाषण दिया और छात्राएँ उत्सुकता के साथ निर्दिष्ट दिन की प्रतीक्षा करने लगीं। आचार्य मानवशंकर बीच-बीच में उनकी तैयारी की जाँच करते जाते थे। वह अपने स्नेह और सहानुभूति से उन्हें प्रोत्साहित करते रहते थे। यात्रा में बालिकाओं को सेवा-कार्य के अतिरिक्त ग्राम की परिस्थिति का अध्ययन करके आँकड़े एकत्रित करने थे, अतएव छोटी और बड़ी कक्षाओं की बालिकाओं की अनेक मिली-जुली टोलियाँ बना दी गईं। उन्हें काम की कल्पना करा दी गई थी और नक्शे तथा आलेख तैयार करने का काम उन पर छोड़ दिया गया था। प्रत्यक्ष सेवा क्या-क्या और कैसे-कैसे की जाये, इसकी मोटी रूप-रेखा भी पहले से ही निश्चित हो गई थी।

यात्रा के एक दिन पूर्व जोरों की वर्षा हुई और वह दिन भर होती रही। वर्षा में यात्रा की कल्पना करके कुछ बालिकाओं को विशेष आनन्द हुआ, परन्तु रात्रि को सुषमादेवी ने सूचित किया कि यात्रा कदाचित् न हो

सकेगी—एक तो लगातार वर्षा के कारण और दूसरे आचार्य मानवशंकर के अकस्मात् बहुत अधिक अस्वस्थ हो जाने के कारण। आवश्यकता पड़ने पर आचार्य की शुश्रूषा के लिए छात्राओं को बुलाने का वचन देकर सुषमादेवी चली गईं।

इधर आचार्य की हालत बिगड़ती ही गई। रात-भर चिकित्सक महोदय उनकी सेवा में रहे, शिक्षक-निवास में खलबली रही, मित्रों और शुभ-चिन्तकों में चिन्ता रही। सभी लोग उनके स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रार्थनाएँ करते रहे। परन्तु प्रातःकाल बादलों से सूर्य ढँका हुआ ही था। पहले जैसा उज्ज्वल प्रकाश कहीं भी न था। चिकित्सक महोदय ने साहस बटोर कर, परन्तु शंकाजनक स्वर में दूसरे डाक्टरों की भी मदद ले लेने का परामर्श दिया।

आखिर पाँचवे दिन आचार्य चल बसे—सब के हृदय तोड़कर, सबकी प्रार्थनाएँ और सब का प्रेम अपने साथ लेकर।

अध्यापक उमापति को आचार्य का स्थान सौंपा गया और विह्वलता के वातावरण में आश्रम का कार्य पुनः नियमित करने का प्रयत्न किया गया। आचार्य उमापति अपना नया व्यक्तित्व, नई प्रतिभा और नये गुण लेकर आये थे। आचार्य मानवशंकर को खोकर छात्राएँ आशंकाकुल थीं, आचार्य उमापति को पाकर प्रसन्न थीं। इस आकुलता एवं प्रसन्नता के बीच आश्रम का कार्य कभी उत्साहपूर्वक और कभी नितान्त उत्साहहीनता से चलता रहा।

इस बीच चंचला ने अपने मन को स्थिर रखने की हर तरह से कोशिश की और वह सफल भी हुई। इतनी छोटी अवस्था में ही उसका जीवन अनेक घात-प्रतिघातों का केन्द्र बन चुका था और उसे इस गमनागमन ने न अतिशय हताश किया, न प्रसन्न। सब काम न्यूनाधिक अलिप्तता के साथ चलता रहा। परन्तु उसकी अवस्था में क्या इस संतुलन का स्थायी रहना संभव था? वह परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ वैराग्य था, या टूटे हुए हृदय का जड़त्व? या उसकी आत्मा की उन्नति का परिचय इससे मिलता था? जो काम जब आ पड़ता उसे वह यथोचित रूप से पूरा करती। सेवा के समय सेवा, उद्योग के समय उद्योग और अध्ययन के समय अध्ययन—यही उसका क्रम था। वह न तो उदास रहती और न प्रसन्न। एक विलक्षण गंभीरता की छाप उसके चेहरे पर दिखलाई पड़ती।

१३

काव्यमय जीवन

इस बीच जीवन के अनेक पत्र चंचला को मिले और चंचला ने प्रत्येक का उत्तर दिया। प्रत्येक बार पत्रों के बीच का अंतर घटता गया और अब पत्र और उत्तर के बीच समय के अधिक कम होने की गुंजाइश ही शेष नहीं रही।

मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद जीवन उच्च शिक्षा के लिए ग्वालियर के एक कालेज में चला गया था। वह स्वस्थ, सुन्दर, हृष्टपुष्ट युवक था। यद्यपि पढ़ने-लिखने में उसकी असाधारण प्रगति नहीं थी, तथापि मधुर और लच्छेदार भाषा पर अधिकार और अपने शिष्ट व्यवहार के कारण उसने अपने सहपाठियों और अध्यापकों के मन में घर कर लिया था। जिस समुदाय में वह न होता वह फीका मालूम होता और जहाँ वह होता वहाँ वह सब के आकर्षण का केन्द्र बन जाता।

परन्तु इस वर्ष घर से लौटने के बाद उसमें एकान्तवास का प्रेम बढ़ता जा रहा है। अब उसे बहुत-से साथियों के बीच रहना और समूह को प्रसन्न रखना अच्छा नहीं लगता। कालेज से छुट्टी पाते ही किसी एक मित्र को साथ लेकर वह अपने कमरे में जा बैठता या किसी बाग-बगीचे में एकान्त स्थान ढूँढ लेता। बहुधा उसके साथ उसका परम प्रिय मित्र विनायक होता था। मित्र से बातें करने में उसकी आवाज धीमी होती और उसका चेहरा हृदय की किसी उत्कटता का परिचय देता था। उन दोनों के बीच में जब कोई आ जाता तो जीवन चुप हो जाता और नये विषय में कोई अभिरुचि प्रकट न करता। उसमें उपन्यास और काव्य पढ़ने का शौक बढ़ने लगा था। विनायक के आग्रह से अब वह कभी-कभी चित्रपट देखने भी चला जाता था।

विनायक की बहन लीला और शहर की अन्य चार-पाँच बालिकाएँ उसकी सहपाठिनी थीं। उन सबके साथ उसका व्यवहार अत्यन्त भद्रतापूर्ण

था। किसी भी कठिनाई के समय यथासंभव उनकी सहायता करना वह अपना पवित्र कर्तव्य समझता था। परन्तु इन दिनों वह उनकी ओर से भी कुछ खिंच गया था।

एक दिन विनायक ने उसके इस परिवर्तन पर आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा—"आखिर बात क्या है?"

जीवन ने भावभरे स्वर में उत्तर दिया—"मुझे स्वयं पता नहीं। ऐसा लगता है कि संसार के समस्त सौन्दर्य को घोलकर पी जाऊं।"

"परन्तु एकान्तवास और सौन्दर्य की प्यास में परस्पर क्या सम्बन्ध है?"

"मैं जान-बूझकर एकाकी नहीं रहता। मुझे लगता है कि अन्दर से कोई शक्ति मुझे ढकेलती रहती है।"

"और तुम संभलने का प्रयत्न नहीं करते?"

"करता हूँ। इसीलिए बाग में आकर बैठता हूँ। यहां के हरे-भरे वृक्ष, पौधे और यह रंग-बिरंगे, कोमल फूल मुझे निरंतर आकर्षित करते रहते हैं। चिड़ियों का फुदकना, तरह-तरह के मीठे बोल बोलना, मुझे बहुत भाता है। यहां का मुक्त पवन मुझे उन्मुक्त होकर उड़ानें भरने और सैर करने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है।"

"परन्तु यह सब तो तुम्हें हम मनुष्यों के बीच भी मिल सकता है। उसका स्वरूप भले ही भिन्न हो परन्तु वह श्रेष्ठ है। उसमें रहकर दया, करुणा, प्रेम और सौन्दर्य, सभी का अनुभव किया जा सकता है। वहां इन भावों को प्रदर्शित करके प्रत्युत्तर की भी अपेक्षा की जा सकती है। तुम ही बताओ, जो वस्तु तुम्हारी पुकार का उत्तर देती है और जो तुम्हारे भावों को ग्रहण करती है वह श्रेष्ठ है, अथवा वह जो सराहना करने पर, हृदय भर प्रेम करने पर न तुम्हारे भावों को ग्रहण करे और न उनका प्रत्युत्तर दे?"

"तुम्हारी दृष्टि गलत है, विनायक!"

"कैसे?"

"तुम परमेश्वर की सुन्दरतम और सुकुमारतम कृतियों की निन्दा कर रहे हो।"

"नहीं, मैं केवल दो श्रेष्ठ कृतियों की तुलना कर रहा हूँ।"

"और गलत निष्कर्ष निकाल रहे हो।"

"सो तो समझाने से समझ सकूँगा।"

"अच्छा तो सुनो। मैंने कहा कि मैं अपने मन को समझता नहीं, और जब मैं स्वयं नहीं समझता तो तुम निश्चय ही नहीं समझते।"

"शायद ।"

"शायद नहीं निश्चय; क्योंकि तुम्हारे पास मेरे कहने के अतिरिक्त मुझे समझने का कोई साधन नहीं है ।"

"क्यों ? तुम्हारी आँखें बोलती हैं, तुम्हारी कृतियाँ बोलती हैं, तुम्हारा व्यवहार बोलता है......"

"और तुम्हारा सिर बोलता है ! शंख कहीं के !" जीवन ने बात काटकर, विनायक के गाल पर एक मीठा चपत लगाकर, हँसते हुए कहा ।

"देखो, दुष्टता मत करो," विनायक ने कहा, "इस प्रकार चपत लगाने और बात उड़ाने से काम न चलेगा । मैं तुम्हारी अपेक्षा भी तुम्हें ज्यादा जानता हूँ ।"

"खाक जानते हो !"

"अच्छा तो बोलो, आजकल रोज-रोज पत्र किसे लिखा करते हो ?"

"पत्र ! पत्र तो......" कहता-कहता जीवन कुछ रुक गया । उसकी पलकें कुछ भारी हो गईं । कुछ संकोच फूटा । परन्तु वह बोला और कुछ वेग के साथ, कुछ तपाक के साथ बोला—"पत्र तो मैं अपनी एक बहन को लिखता हूँ !" और उसके आनन पर एक मंद, संकोचपूर्ण मुसकान दौड़ गई ।

विनायक यों ही छोड़ देने वाला नहीं था । उसने जिरह शुरू की—"तुम तो कहते थे, मेरे कोई बहन है ही नहीं, फिर यह बहन कहाँ से कूद पड़ी ? जरा परिचय तो दो ।"

"दुनिया में भिन्न मात-पिता के बच्चे भी भाई-बहन हो सकते हैं, महाशय ! यह वही बहन है जिसके बारे में मैं आप से कोड़ियों बार चर्चा कर चुका हूँ, और जिससे मिलने के लिए मैं इन्दौर गया था । परन्तु तुम बात को कहाँ-से-कहाँ घसीट ले गये !"

"मैं बिलकुल ठिकाने और निशाने पर हूँ । आप भी इधर-उधर भागने का प्रयत्न न कीजिएगा । जरा बतलाइए तो, दिन-रात उन बहिनजी के बारे में चिन्ता करते रहने की कौनसी बात आ पड़ी है ?"

"मैं कब चिन्ता करता हूँ ?"

"और चार-चार दिन तक आप एक ही पत्र क्यों लिखते रहते हैं ?"

"यह भी सही नहीं ।"

"जरा सोचकर बोलिए ।"

"हाँ हाँ, मैं बिलकुल ठीक कह रहा हूँ ।"

"और उनके नाम से कविता लिखने की भी आप कोशिश नहीं करते ?"

जीवन जरा चौंका, फिर सँभलकर बोला—"नहीं तो !"

विनायक ने शायद अब बात को अधिक अटकाना ठीक न समझा। उसने कहा—"और उस लाल जिल्दवाली नोटबुक में आप क्या-क्या लिखते हैं?"

जीवन सहम गया और उसने धैर्य छोड़कर कहा—"तो क्या तुम मेरी निजी और गोपनीय चीजें भी ढूँढ़ा करते हो ?"

"नहीं, मैं विश्वासघाती नहीं हूँ। तुमने ही उस दिन निबन्धों की नोटबुक के धोखे वह नोटबुक मुझे दे दी थी। मैंने उस समय उसे नहीं देखा। घर जाकर देखा तो उसमें कविताएँ लिखी थीं। जिज्ञासावश, किन्तु निर्दोष मन से मैं एक-दो कविताएँ पढ़ गया। मुझे वह सब निजी मालूम हुईं, इसलिए मैंने आगे पढ़ना बन्द कर दिया। उसमें एक भारी-भरकम पत्र रखा था। उस पर चंचला का पता था, मैंने उसे पढ़ा नहीं। परन्तु लिफाफे पर प्रेषक का नाम लिखकर लेखक महाशय ने तारीख भी डाल दी थी। वह थी—"१३-१७ नवम्बर।" इससे मैंने समझा कि चार दिनों में वह पत्ररूपी पुस्तिका पूरी हुई होगी।"

"तुमने सचमुच नहीं पढ़ा ?"

"मैं झूठ नहीं बोलता।"

"अच्छा तो चलो, अभी वह नोटबुक मुझे वापस करो।"

"बातें तो पूरी होने दो।"

"बातें फिर होंगी।"

दोनों चल दिये। रास्ते भर जीवन व्यग्र रहा।

विनायक का घर न बहुत बड़ा था और न छोटा। बाहर की ओर का कमरा उसका पाठागार था, लीला के लिए अन्दर का एक कमरा निश्चित था। परन्तु जब कभी सखियाँ आ जातीं तो लीला का समाज विनायक के ही कमरे में जम जाता था।

जब दोनों मित्र वहाँ पहुँचे उस समय लीला अपनी दो सखियों के साथ वहाँ मौजूद थी। लीला ने दोनों को आते देख कोई चीज अपनी सखी सरस्वती के हाथ से झपटकर छीन ली और शीघ्रतापूर्वक जीवन की मेज के दराज में डाल दी। छीनते हुए लीला ने कहा—"देखो, वह आ ही गये।"

"आ गये तो क्या हुआ ? कोई भारी रहस्य है क्या ?" सरस्वती ने कहा।

"परन्तु तुम दूसरे की वस्तु उसकी अनुज्ञा के बिना देखो ही क्यों ?"

सरस्वती कुछ कहना ही चाहती थी कि जीवन और विनायक कमरे में प्रविष्ट हो गये और उसकी बात मुँह-की-मुँह में ही रह गई।

जीवन ने कमरे में आते ही इन तीनों को वहाँ मौजूद देखकर स्वामित्व का कृत्रिम भाव दिखलाते हुए कहा—"इस कमरे में लड़कियों का आना मना है। आप लोग अपनी अनधिकार-चेष्टा का उत्तर दीजिए।"

इसका उत्तर यमुना ने उसी प्रकार दिया—"जिस कमरे में लड़कियाँ मौजूद हों उसमें लड़कों का घुस आना अभद्रता है। आप यहाँ से तुरन्त जा सकते हैं।"

सब लोग हँस पड़े और कोई खाट पर, कोई कुर्सी पर और विनायक महाशय मेज पर आसीन होकर गपशप में लग गये।

जीवन ने सब बातों में हिस्सा तो लिया, किन्तु उसकी अन्यमनस्कता किसी से छिपी न रह सकी। आखिर लीला ने पूछ ही लिया—"आपकी तबीयत कुछ ठीक नहीं मालूम होती?"

जीवन ने अपने-आपको संभाल कर उत्तर दिया—"नहीं तो, ठीक तो है।" और बाद में वह कुछ झेंप-सा गया। अपनी सफाई देने के प्रयत्न में वह कुछ ऐसी अटपटी आवाज में बोल गया कि सब लोग हँस पड़े।

विनायक ने कहा—"आजकल यह प्रकृति-सौन्दर्य के पुजारी बन रहे हैं। हमारे साथ अब इन्हें अच्छा नहीं लगता।"

जीवन ने बनावटी रोष के साथ कहा—"ज्यादा शरारत न करो, विनायक!" परन्तु विनायक ने अपनी बात जारी रखी।

"और आजकल कवि बन रहे हैं। कविताएँ लिखते हैं, परन्तु वे निजी वस्तुएँ होती हैं; गुप्त रखी जाती हैं।"

जीवन ने फिर बात काटी—"तुम नहीं मनोगे?"

और विनायक फिर भी कहता गया—"परन्तु इनके दुर्भाग्य से कोई बात गुप्त नहीं रह पाती। अपनी गोपनीय नोटबुक और अपने गोपनीय पत्र दूसरों को धोखे से सौंप देते हैं और समझते हैं, दुनिया इनके समान ही ईमानदार है।"

जीवन सुन-सुन कर कुढ़ रहा था।

सरस्वती ने अपना सिर नीचे झुका लिया।

लीला ने उसकी ओर छिपी निगाह से देखा और फिर विनायक की ओर इस तरह से देखा कि उसके चेहरे से कोई नया भाव प्रकट न हुआ। मानो

विनायक कोई बहुत गंभीर बात कह रहा हो और वह उसे सुनकर विचार कर रही हो।

यमुना बारी-बारी से सब के चेहरों को देखकर मानो उनमें कोई गूढ़ रहस्य खोज रही थी।

जीवन उठकर खड़ा हो गया और बोला—"मैं जाता हूँ।" इस पर विनायक शरारत-भरी हँसी से बोल उठा—"अच्छा, तो आप नाराज हो गये! खैर, जाइए। परन्तु आपकी गोपनीय नोटबुक की गोपनीयता सुरक्षित रखने का दायित्व मुझ़पर न रहेगा।"

"वह मुझे दे दो"—जीवन ने कहा।

विनायक का भाव बदल गया। "अच्छा" कहकर उसने इधर-उधर नोटबुक को ढूंढना शुरू किया। परन्तु वह न मेज पर थी, न आलमारी में और न उसकी रोज पढ़ने की किताबों के ढेर में। वह कुछ उद्विग्न हुआ और उसने लीला से पूछा। उसने कोई उत्तर न दिया। उसकी सखियाँ भी लज्जित दिखाई पड़ने लगीं।

विनायक ने खीझकर लीला से फिर कहा—"बोलती क्यों नहीं? देखी है वह नोटबुक कहीं, या नहीं?"

लीला ने मुँह नीचा किये ही टेढ़ी निगाह से दोनों सखियों की ओर देखा, परन्तु कहा कुछ नहीं।

विनायक अधीर हो उठा और उसने संतप्त होकर जीवन से कहा—"तुम्हारी नोटबुक खो गई। अपनी असावधानी के लिए मैं दण्ड भोगने को तैयार हूँ।"

जीवन बिना कुछ बोले ही वहाँ से चल दिया। विनायक भी लीला की ओर रोष से देखकर वहाँ से उठ गया।

यमुना यह सब सहन न कर सकी। उसने लीला से कहा—बताती क्यों नहीं हो? और उसने जीवन को आवाज़ दी। लीला ने विनायक को बुलाया और दराज में से नोटबुक निकालकर दे दी।

"विनायक ने जीवन के सामने ही तीनों सखियों से पूछा—आपने इसे पढ़ा है?"

यमुना ने उत्तर दिया—"हाँ, लीला के मना करने पर भी हम दोनों ने सब कविताएँ पढ़ डाली हैं। इसमें रखा हुआ पत्र भी पढ़ लिया है।"

कोई कुछ न बोला। सब लोग चुपचाप वहाँ से विदा हो गये।

१४

प्रेम-सन्देश

क्यों किसी की गुप्त बातें जानने का मनुष्य को इतना कौतूहल होता है? जीवन चलता-चलता यही प्रश्न हल करने में निमग्न था।

चौराहे पर सदा के समान भीड़ थी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो भीड़ का प्रत्येक व्यक्ति उसका उपहास कर रहा है। शीघ्रता से आगे बढ़ गया।

सड़क के इधर-उधर उसने देखा। लोग अपने-अपने काम में व्यस्त थे। कोई इधर आता, कोई उधर जाता, कोई खड़ा था, कोई बातें कर रहा था। उसे प्रतीत हुआ मानो सब लोग उसकी ही ओर देख रहे हैं। वह सीधा चलने लगा, चलने की गति बढ़ गई।

एक जगह रास्ते पर ही कुछ लोग खड़े थे। वे आपस में बातें करके जोर से हँस पड़े। जीवन ने सहसा उनकी ओर देखा, उनमें से कुछ ने उसकी ओर देखा। उसने समझा कि ये मुझ पर ही हँस रहे हैं। उसकी त्योरियाँ चढ़ गईं—आखिर ये मुझे देखकर क्यों हँस रहे हैं? ये भी तो कभी उदास, संतप्त, गंभीर होते होंगे? और न भी होते हों तो मुझसे इन्हें क्या मतलब? मुझ पर हँसने का इन्हें क्या हक है?

और फिर उसने सोचा, क्या सचमुच ही ये मुझपर हँस रहे हैं? हो सकता है, अपने-आप ही हँस रहे हों! और.........मैं कितना मूर्ख हूँ! आज सभी बातें मुझपर ही घटित होती मालूम हो रही हैं!

और उसका चलने का वेग बढ़ता ही गया। वह बनिये की दूकान के पास पहुँचा। पहचान कर बनिये ने पुकारा—"जीवन बाबू!" क्या वह हँसी कर रहा था? व्यंग कर रहा था? हाँ, यही ठीक है। तभी तो जीवन ने उसकी ओर रोष से देखकर अपनी चाल और भी बढ़ा दी!

और वह पार्क के पास पहुँचा। चिड़ियां चहचहा रही थीं। उसने

अपने कान दोनों हाथों से मूँद लिये। और बच्चे खेल रहे थे, चिल्ला रहे थे, गा रहे थे, हँस रहे थे—उसने अपनी आँखें बंद कर लीं।

उसके पैर मानो जमीन पर पड़ते ही नहीं थे। किसी ने कहीं कहा—"देखो-देखो!" और वह भागने लगा, भाग चला! एक कुत्ता भोंकने लगा, एक बच्चा सामने आगया। वह रुका, फिर भागा। कुत्ते ने पीछा किया। आस-पास के लोग बोल उठे—"भाई, क्या बात है? दौड़ते क्यों हो?"

वह परेशान था। लोग इतनी-सी बात क्यों नहीं समझते? इन्हें मुझसे क्या मतलब? क्यों किसी की गुप्त बातें जानने का मनुष्य को इतना कौतूहल होता है?

उसने अपने कमरे के अन्दर जाकर साँस ली। दरवाजा बंद करके चारपाई पर लेट गया।

और अब? फिर वही नोटबुक, वही कविताएँ, वही पत्र! विनायक, लीला, सरस्वती, यमुना! सरस्वती ही सारी शरारत की जड़ है। क्रूर है! क्रूर है!

और फिर लीला—कितनी भोली है! कितनी निर्दोष!

और फिर यमुना—कितनी निर्भीक है! कितनी स्वच्छ!

और फिर सरस्वती—निःसंदेह क्रूर है!

और अब चंचला—आह! संसार से कितनी भिन्न! कितनी सुन्दर, कितनी सरल, कितनी सद्‌गुणी! प्रकृति की वह अन्यतम देन है। उसे कौन प्यार नहीं करता? फिर यदि मैंने उसे पत्र लिखा, उस पर कविताएँ रचीं तो क्या अपराध हो गया? परन्तु मैं यह सब क्या सोच रहा हूँ? किसने कहा—अपराध? उन्होंने मेरी चीजें पढ़ भर लीं। इससे क्या हुआ? उसमें गोपनीय था ही क्या?

उसने एक-एक करके सब चीजें पढ़नी शुरू कीं। पहले पत्र—

"इंदौर में तुमसे मिलकर मुझे कितना सुख हुआ था!...."

हाँ, निःसंदेह सुख हुआ था। और इसमें गोपनीय क्या है?

"जब कभी मेरा मन संसार की प्रवंचनाओं से व्याकुल हो उठता है, आस-पास के रुक्ष जीवन से ऊब कर स्निग्धता की खोज में इधर-उधर भटकने लगता है, कोलाहल जब मेरे कानों में शूल उत्पन्न करता है, एकान्त जब मुझे सूना मालूम होता है, फूलों और फलों में जब मुझे रस नहीं मिलता—तब, तब और सदैव तुम्हारी मधुर स्मृति मुझे राहत प्रदान करती है।........"

इसमें भी गोपनीय तो कुछ नहीं है। जो सच है वही तो मैंने लिखा है। सत्य यदि गोपनीय है तो प्रकाशनीय क्या रह जायेगा ?

"पिछले दिनों मैंने ट्यूशन करके कुछ रुपये जमा किये थे। उनसे तुम्हारे चित्र को चाँदी के फ्रेम में मढ़ा लिया है। तुम्हारी अनुपस्थिति में तुम्हारा वह चित्र देखकर ही मैं संतोष कर लिया करता हूँ। चित्र बोलता नहीं, हलचल नहीं करता, फिर भी कितना सजीव है! लीला इस पर ईर्ष्या करेगी। यमुना तो उठा ही ले जायगी।...आह! कहीं वे तुम्हें साक्षात् देख पातीं!........"

इसमें अवश्य लीला और यमुना का नाम आ गया है। पर इससे क्या ? मैंने किसी की निन्दा तो नहीं की।

"काश! मैं और तुम एक साथ ही होते! और तुम्हारे सान्निध्य में ही मेरे जीवन का प्रत्येक पल कटता! क्या तुम उस परिस्थिति की कल्पना कर सकती हो? शायद हाँ, शायद नहीं।...."

इसमें भी कौन-सी आपत्तिजनक बात है? जो लोग एक-दूसरे से प्रेम करते हैं उनकी एक साथ रहने की इच्छा होती ही है। हाँ, उसकी कल्पना-शक्ति पर अविश्वास करके अवश्य मैंने उस पर अत्याचार किया है। कल्पना-शक्ति केवल मेरे हिस्से में ही तो नहीं पड़ी। और यह भी निश्चित है कि वह मुझ से प्रेम करती है। फिर, वह कल्पनाएँ न करती होगी, यह मैं कैसे लिख रहा हूँ? परन्तु यह छोटी-सी बात है।

"परन्तु मैं आशावादी हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हम कभी-न-कभी अवश्य मिलेंगे। और फिर कभी विलग न होंगे। मेरी सूनी कुटिया प्रकाशित हो जायगी। मेरे जीवन में वसन्त आ जायगा। मेरे उपवन के फूल खिल जायँगे और तुम मालिन बन कर उन्हें संवारा करोगी। कोई फूल चुएगा नहीं, कोई फूल मुरझायेगा नहीं........"

यह भी ठीक है, हाँ ठीक ही है।

अब कविताएँ। उसने सब कविताएं पढ़ डालीं। किसी में कोई आपत्तिजनक बात उसे दिखलाई न पड़ी। एक शब्द भी ऐसा न मिला जिसमें उसकी चंचला का अपमान दिखलाई पड़ता। एक शब्द भी ऐसा नहीं था जिससे उसके हृदय के सच्चे भावों को छिपाने का प्रयत्न किया गया हो। जो कुछ वह लिखना चाहता था वही तो उसने लिखा है, और उसके सदुद्देश्य पर तो कोई शंका कर ही नहीं सकता!

फिर यदि सरस्वती आदि ने सब कुछ पढ़ लिया तो क्या हुआ?

परन्तु स्त्रियों को स्त्रियों से ईर्ष्या होती है। तभी तो पत्र और कविताएँ पढ़कर उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा। चंचला से ईर्ष्या! ओह! क्या वह ईर्ष्या के योग्य है! कितनी सरल, कितनी भोली, कितनी अच्छी! कहीं ये उसे देख पातीं! उसके पैरों के पास बैठने योग्य भी तो नहीं हैं, ये!

परन्तु मैं गलती कर रहा हूँ। मैंने उन्हें कुछ कहने का अवसर ही कहाँ दिया? सचमुच आदमी अनजाने दूसरों पर बड़ा अन्याय कर डालता है। लीला तो बहुत अच्छी लड़की है, यमुना भी कितनी सच्ची है! सरस्वती ने भी तो मेरी कभी कोई बुराई नहीं की। दूसरों के साथ भी इन सबका व्यवहार अच्छा है। मैं अवश्य गलती कर रहा हूँ।

और चंचला? तुम तो सब में रानी हो। मेरी सब कविताएँ तुम्हें ही समर्पित हैं। उन्हें पढ़कर तुम्हें संतोष होगा। मेरे हृदय का तार-तार उनमें उभरा हुआ है। उन्हें पढ़कर ही तुम सब कुछ समझ लोगी।

पत्र? वह तो तुम्हें शीघ्र ही मिल जायगा, चंचला! तुम उसके प्रत्येक शब्द का उत्तर दोगी। तुम्हारे उत्तर को मैं बार-बार पढ़ूँगा। उसका एक-एक शब्द मेरे हृदय के तारों को झंकृत करेगा। एक-एक शब्द मेरे हृदय पर अमिट छाप लगा देगा। उसके शब्दों में, उसकी स्याही में, उसके कागज में मैं तुम्हारे हृदय का चित्र देखूँगा। मेरे हृदय में तुम्हारी जो मूर्ति प्रतिष्ठित है वह कितनी प्राञ्जल, कितनी प्राणवान, कितनी मुखर हो उठेगी। मैं चुन-चुनकर सुन्दर, सौरभयुक्त पुष्प उस पर चढ़ाऊँगा। तुम पूछोगी—"यह क्यों?" मैं उत्तर दूँगा—"वसन्त की बहार, जीवन की रंगीन कोमलता, प्रेम की सुकुमार पावनता!"

तो आज ही यह पत्र चला जायगा, अभी।

उसने पत्र बन्द कर दिया और उसे डाल आया।

१५

धर्म-परिवर्तन का भूत

सो, चंचला का जीवन बहा चला जा रहा था—उस प्रवाह के समान जिसमें उत्थान और पतन होता ही नहीं। अपने उद्गम से निकल कर किसकी खोज में चला जा रहा था, सो किसी को मालूम नहीं। जब मार्ग में कुछ आड़े जाता तो वह जरा रुक जाता, बल संचित करता और फिर बाधाओं को पार करके आगे बढ़ता। परन्तु क्या ये बाधाएं नष्ट होती थीं? शायद कभी हो जायें! आज तो वे प्रवाह को सिर पर लेकर उस दिन की प्रतीक्षा कर रही हैं, जब कि वे उभर सकेंगी, अपना सिर फिर ऊपर उठा सकेंगी। और प्रवाह? चला जा रहा है, चला जा रहा है। जब तक उसमें बल है, टीले और गड्ढे उसका क्या करेंगे? पहाड़ी झरने से वह निकला है, उसे क्या चिन्ता? मौसम की उसे क्या खबर?

परन्तु मौसम तो बदलेगा ही। पृथ्वी की गति और सूर्य के ताप को कौन रोक सकता है? एक दिन प्रवाह का बल कम होगा, और मार्ग के अवरोध उसी दिन की तो प्रतीक्षा में हैं।

सभी का जीवन कभी इस तरह और कभी उस तरह चलता रहता है। और जब दोनों प्रकार के अवसर आते ही हैं तो पहले से चिन्ता क्यों की जाये? चंचला ठीक ही कर रही है। आज उसका जीवन सम और अविचलित है, प्रतिकूल समय आने पर जैसा होगा, भोग लेगी।

परन्तु "वह परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ वैराग्य था, अथवा टूटे हुए हृदय का जड़त्व? या उसकी आत्मा की उन्नति का परिचय उससे मिलता था?" इस प्रश्न को सुलझाना शेष है।

कक्षा में न वह बहुत आगे थी, न बहुत पीछे; न वह बहुत बोलती, न बहुत चुप रहती; न बहुत खेलती, न बहुत कमरे में बन्द रहती। और जब कभी विशेष व्याकुलता अथवा प्रसन्नता उसके मन पर छा जाती, तब तो

वह प्रयत्न करने पर भी उसके प्रतिबिम्ब को अपने आनन और व्यवहार पर पड़ने से रोक न सकती। फिर भी, ऐसे अवसर पिछले कुछ दिनों में क्वचित् ही उपस्थित हुए।

वसुधा अपने स्वाभाविक विनोद में उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहने लगी थी।

मीनाक्षी वसुधा की बात काटकर उसे 'गत-यौवना' कहती।

गिरिजा उसे देखते ही अपनी बनाई हुई कविता की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगती :

"सखि, कुछ तो कहो,
चुप-चुप क्यों रहो ?
क्या दिल में लगी ?
क्यों ठगी ठगी ?"

निर्मला इस सबके बीच उसके अन्तरात्मा की प्रहरी और उसकी संरक्षिका देवी थी।

और उसका जीवन बहा जा रहा था, बहा जा रहा था।

एक दिन एक व्याख्यान था। आश्रम की सब छात्राएँ सुनने के लिए गई थीं। व्याख्याता ने कहा—"अस्पृश्यता हमारे जीवन का कलंक है। जब तक हम अस्पृश्यता के भाव को दूर नहीं करते तब तक संसार के समक्ष हमें अपना शिर ऊँचा करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्य को अस्पृश्य मानकर और उसके साथ अहंकार, स्वार्थ तथा अमानुषिकता का व्यवहार करके हमने मानवता का अपमान किया है। सात करोड़ 'अस्पृश्यों' के बीच मानवता के कितने मुकुट-मणि पड़े हुए हैं, इसकी हम कल्पना ही नहीं कर सके। सदियाँ बीत गईं और हम उन्हें कुचल-कुचल कर केवल धूल में मिलाते रहे। परमेश्वर हमें इन अपराधों के लिए कदापि क्षमा नहीं कर सकता........।"

निर्मला ने कहा—"व्याख्यान तो दिल को हिला देने वाला रहा।"

"हाँ"—चंचला ने संक्षेप में उत्तर दे दिया।

"परन्तु जो लोग अस्पृश्यता मानते हैं, वे उसे मिटा नहीं सकते। उसके लिए स्वयं 'अस्पृश्यों' को जागना चाहिए।"

"हाँ।"

"उन्हें स्वयं आगे बढ़कर अपने अधिकारों के लिए लड़ना होगा।"

"हाँ।"

"दूसरे उन्हें उठाने का प्रयत्न करेंगे तो उपकार की भावना अवश्य रहेगी।"

"हाँ।"

"हाँ, हाँ क्या करती हो? मैं कोई कहानी कह रही हूँ?" निर्मला ने खीझकर कहा।

चंचला ने किंचित् उत्तेजना के साथ उत्तर दिया—"तुम इस समस्या को नहीं समझ सकतीं। इसे जाने दो।"

निर्मला जाने कैसे देती? वह अपने मन में समझती थी और महसूस करती थी कि चंचला मेरी अनन्य सखी है। वह दुर्भाग्यवश अस्पृश्य समाज में उत्पन्न हुई है। उसकी समस्याओं से मैं अनभिज्ञ नहीं हूँ और उसके द्वारा मैं उसके सारे समाज की समस्याओं से परिचित हूँ। चंचला की बात से उसे आश्चर्य हुआ और उसने आघात अनुभव करते हुए कहा—

"यदि मैं नहीं समझ सकती तब तो बहुत कम लोग समझ सकते हैं।"

"केवल इने-गिने लोग।"

"ऐसी छिपी हुई बातें क्या हैं, जरा सुनूँ तो?"

"प्रश्न केवल जानने का नहीं, जानकर महसूस करने का है।"

"इसमें तुमने नई बात क्या कही?"

"है। सबसे पहली बात यह है कि अस्पृश्यता है; दूसरी बात यह है कि अस्पृश्यता से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों और समस्याओं को अस्पृश्यों के बीच में रहे बिना और उनसे एकात्म्य महसूस किये बिना समझा नहीं जा सकता; तीसरी बात यह है कि जब समझा ही नहीं जा सकता तो महसूस कैसे किया जा सकता है?"

"यदि तुम्हारी बात मानी जाये तो अस्पृश्योद्धार कभी शुरू हो ही नहीं सकता?"

"यह 'उद्धार' शब्द ही परिचय देता है कि तुमने महसूस नहीं किया। कितना अहंकार, कितना दंभ भरा हुआ है, इस शब्द में! मनुष्य मनुष्य का 'उद्धार' कर सकता है! हमें पारस्परिक सहयोग और सहायता की भावना चाहिए। 'उद्धार' का ढोंग करके समाज न तो प्रायश्चित्त कर सकेगा और न हमारी हानि को ही पूरा कर सकेगा।"

"परन्तु मैंने भी तो यही कहा था कि दूसरों के प्रयत्न में उपकार की

भावना रहना स्वाभाविक है, अतः 'अस्पृश्यों' को अपनी उन्नति का प्रयत्न स्वयं ही करना चाहिए।"

"भला, कैसे वे उद्योग करें ?"

"वे बुद्धि, शरीर और आत्मा की सफाई सीखें। संगठन करें। उद्योग द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति सुधारें। शिक्षा प्राप्त करें। और यह सब करते हुए डटकर मैदान पर खड़े हों और घोषित करें कि हम अस्पृश्यता को सहन नहीं कर सकते।"

"अच्छा, एक-एक बात लो। क्या सब स्पृश्य लोगों की बुद्धि साफ है ?"

"नहीं।"

"शरीर ?"

"नहीं।"

"आत्मा ?"

"नहीं।"

"फिर हमारे लिए ही क्यों यह सफाई का उपदेश ?"

"इसलिए कि बहानाखोर समाज को यह बहाना मिलता है। दूसरे, हर प्रकार की सच्ची उन्नति के लिए यह आवश्यक है।"

"तुम्हारी दूसरी बात का समाज के व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं, वह हमारे खुद के लिए है। रही पहली बात, सो तुम स्वयं उसे बहाना कहती हो। अतएव यह तर्क व्यर्थ है।"

"इसका उत्तर मैं बाद में दूँगी, तुम आगे कहो।"

"अच्छा, समानता प्राप्त करने के लिए संगठन क्यों आवश्यक है ?"

"यह तो स्पष्ट है। संगठित समाज की माँग और उसके अधिकारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

"इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यता के मूल अधिकारों के लिए भी लड़ाई आवश्यक है ?"

"तुम अपना तर्क पूरा कर लो।"

"आर्थिक स्थिति सुधारना और शिक्षा प्राप्त करना परस्परावलम्बी हैं और दोनों मिलकर समाज तथा सरकार पर अवलम्बित हैं। फिर, तुम जानती हो, हम लोगों में शारीरिक बल और जीवन-शक्ति कितनी रह गई है ?"

"हाँ, दुर्भाग्य से, बहुत कम। तुम्हारे अभागे समाज की आयु का औसत शायद १० और १५ वर्ष के बीच में होगा।"

"और हमारे उद्योगों का आर्थिक मूल्य ?"

"सब जगह और हमेशा तो होता ही नहीं। जब होता है तब इस युद्धोत्तर काल में तीन-चार आने से लेकर दो-तीन रुपये रोज तक। पहले तो एक आने से लेकर पाँच-छः आने दिन ही था।"

"हमारे उद्योग का प्रमाण क्या होगा?"

"तुम्हारे समाज के लोग परिश्रम बहुत करते हैं, परन्तु उसमें कला-कौशल की आवश्यकता है।"

"और तुम समझती हो कि मशीनों के काम के आगे हम टिक सकेंगे?"

"यह कठिन है। इसके लिए समाज की भावनाएँ विकसित करना आवश्यक होगा। इस कार्य में दूसरे लोगों को अपनी शक्ति लगानी होगी।"

"अर्थात् हमारा उत्थान पूर्ण रूप से हमारे हाथ में नहीं है। उधर, संस्कार और कला-कौशल भी सम्भव नहीं। शिक्षा हमारे अनुकूल नहीं है, न वह हमारे लिए संभव है। हमारा सबसे पहला सवाल है रोटी का। उसे हल करते हुए हमें शिक्षा लेने का अवकाश ही नहीं रहता।"

"और?"

"अब रही बात मैदान में डटकर खड़े होने की। आज हमारी समस्या एक होने की है, या आपस में झगड़ने की?"

"एक होना बहुत आवश्यक है। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि बिना अपने-आप में शक्ति उत्पन्न किये और बिना उस शक्ति को व्यक्त किये, हम किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित न कर सकेंगे। कोई हमारी पुकार न सुनेगा।"

"इसका अर्थ हुआ संघर्ष, और सो भी ऐसे समय पर जब वह हमारे हितों के लिए सबसे घातक सिद्ध हो सकता है।"

"तुम्हारी दृष्टि में पराजय की भावना झलकती है। फिर भी वह जहाँ तक जाती है, असंगत नहीं है। परन्तु इसका उपाय क्या है? अस्पृश्यता को मिटाना आवश्यक है। किस तरह उसे मिटाया जाये?"

"महात्मा गांधी का बताया हुआ मार्ग तो सभी जानते हैं। तुमने भी वही समझाने का प्रयत्न किया है। परन्तु मुझे उसके द्वारा विकास की गति बहुत मंद दिखलाई पड़ती है। उससे स्पृश्यों के दंभ का भी अंत होता दिखाई नहीं देता। इधर कुछ दिनों से मेरे मन का झुकाव एक नये तरीके की ओर होने लगा है।"

"वह कौनसा तरीका है?"

"हरिजनों का सामूहिक धर्म-परिवर्तन।"

निर्मला स्तब्ध हो गई। क्षण-भर बाद उसने पूछा—"इससे समस्या हल हो जायेगी?"

"मुझे तो ऐसा ही लगता है।"

"तुम्हारा विचार अभी पक्का तो नहीं हुआ?"

"नहीं।"

"तो क्यों न इतिहास-शिक्षक से बात की जाये? उन्हें तो हरिजन-कार्य में बहुत रुचि है।"

"किसी दिन अवश्य करूँगी।"

१६

'क्या तुम मेरी हो ?'

मनुष्य अनेक मनोरथ बाँधता है, और परिस्थितियाँ उन्हें बिलकुल उलट देती हैं। यदि सोचनेवाले की निष्ठा में बल न हुआ, स्थिरता न हुई, तब तो उसके विचार स्वयं ही बदलते रहते हैं। परिस्थितियों का किंचिन्मात्र परिवर्तन भी उसे विचलित कर देता है और वह पुराने प्रश्नों को छोड़-छोड़कर नयों में उलझता रहता है। उसके जीवन में एक के बाद दूसरी समस्या आती है और वह एक को भी पूरी तरह से सुलझा नहीं पाता। मनोविकारों की प्रबलता उसे कभी भी शान्त रहने नहीं देती। मन की अस्थिरते ! तू मनुष्य-जीवन की कितनी बड़ी शत्रु है !

उस दिन से चंचला फिर विचार-मग्न दीखने लगी। उसने इन्दौर के बच्चों की याद की और सोचने लगी कि क्या कभी वह दिन आयेगा, जब उन-जैसे समस्त बच्चों को भी मनुष्य के समान जीने के अधिकार प्राप्त होंगे ?

उसने स्वयं अपने भविष्य की कल्पना की और आज प्रथम बार उसे सारा जगत अंधकारमय प्रतीत हुआ। उसने सोचा, किस हस्ती को लेकर मैं संसार में आदर के साथ जीवन बिता सकूँगी ! मैं कितना भी पढ़-लिख लूँ, कितनी भी निःस्वार्थ सेवा करूँ, फिर भी अस्पृश्य होने का जो भयानक काला टीका मेरे माथे पर लगा है, वह कैसे मिटेगा ? मेरी सद्भावनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का क्या मूल्य होगा ?

उसने अपने पिता की याद की। कितने कष्टों और दुःखों के बीच उन्होंने अपना जीवन बिताया। वह दूसरों के लिए ही जिये और दूसरों के लिए ही मरे। परन्तु संसार ने उनकी क्या क़द्र की ? आज उनका नाम लेने वाला भी कोई नहीं है !

मा की याद करके उसका गला भर आया। ओह ! कितनी महान थीं, वह ! फिर भी एक दिन के लिए भी उन्हें दूसरे समाज की स्त्रियों की बराबरी

पर बैठने का अवसर नहीं मिला। वह नारी थीं, इसलिए उनका अपराध दुहरा था !

और मैं भी तो नारी ही हूँ। मौका पड़ने पर नारी के सम्मान की बड़ी-बड़ी बातें समाज कर जाता है। लोग दुहाई देते हैं—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"—परन्तु समाज में जो जितना ऊँचा है वह नारियों पर उतना ही अधिक अत्याचार करता है। हम नारियाँ ही तो माताएँ होती हैं। समस्त विश्व माताओं का ही तो प्रसाद है, परन्तु हमें अधिकार क्या है ? हमारी सुनता कौन है ? न्याय और सद्भाव हम पर बरसने के लिए पैदा नहीं हुए। फिर भी हमारा व्यवहार उससे ओतप्रोत रहता है।

विचार करते-करते उसका मन गिर गया। वह अकेलापन महसूस करने लगी। इच्छा हुई कि निर्मला के पास जाकर अपनी हृदय की वेदना निकाल दे, परन्तु जा न सकी। आखिर निर्मला भी तो नारी ही है। सहानुभूति प्रकट करने के सिवा वह और कह ही क्या सकती है !

तो क्या पुरुष का साहचर्य मुझे चाहिए ? क्या उसी पुरुष-जाति पर मुझे भी आश्रित रहना पड़ेगा, जो स्त्रियों के प्रति न्याय करना जानती ही नहीं ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। पुरुष जाति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।

कोई सम्बन्ध नहीं ? मेरे पिता भी तो पुरुष ही थे ! दादा, काकाजी भाईजी– सभी तो पुरुष हैं, वे तो वैसे नहीं है ! नहीं, सारी पुरुष-जाति निन्दनीय नहीं है। उसमें भी कुछ रत्न अवश्य हैं।

और उसे जीवन की याद आई। कितना सुशील, कितना सहृदय ! मेरी समस्त भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं का प्रशंसक है वह। कहीं यहाँ होता ! मैं अपने दिल को खोलकर उसके सामने रख देती और उससे पूछती —"तुम कितनी दूर तक मेरे साथ चलने को तैयार हो ?"

पुरुष ! नारी ! पुरुष ! नारी !

स्पृश्य ! स्पृश्य ! अस्पृश्य ! अस्पृश्य !

उसका सिर चकरा गया। थककर बिस्तर पर लेट गई और उसे नींद आ गई। उसने स्वप्न देखा—

पहला दृश्य—"वह मार्ग भूल गई है। भटकती-भटकती एक गहन वन में जा पहुँची। बड़े-बड़े विकराल सर्प उसे काटने को दौड़ते हैं। वह भागती है। प्यास और भूख से बेचैन है। एक नदी के तट पर पहुँचती है। पानी पीने के लिए झुकती है तो पास ही एक शेर दहाड़ता

है। काँपने लगती है। पानी हाथ का हाथ में रह जाता है और वह नदी में गिरकर बह चलती है।"

दूसरा दृश्य—"वह एक उपवन में जा पहुँचती है। संध्या का समय है। ठंडी-ठंडी हवा चल रही है। चारों ओर सुन्दर फूल खिले हुए हैं। कुछ फूल तोड़ने को हाथ बढ़ाती है। पौधे से बहुत-से भौंरे निकलकर उस पर मँडलाने लगते हैं। वह उन्हें दोनों हाथों से भगाने का प्रयत्न करती है, परन्तु वे लौट-लौटकर आ जाते हैं। उनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। देखते-देखते सब ओर भौंरे छा जाते हैं। सब ओर काला-ही-काला दिखलाई पड़ता है। वह घबड़ाकर भागने लगती है। भौंरे उसका पीछा करते हैं। वह मदद के लिए माली को पुकारती है। माली अपनी जगह पर खड़ा हुआ पुकार उठता है—'चोर! चोर! चोर!' वह और भी ज़ोर से भागती है। परन्तु भौंरे मनुष्य—पुरुष—बनकर उसे घेर लेते हैं। वह पकड़ी जाती है।"

तीसरा दृश्य—"वह नगर में है। ऊँचे-ऊँचे भव्य प्रासाद आसपास हैं। धनिकों की मोटरें इधर-उधर दौड़ रही हैं। एक मोटर के सामने एक बूढ़ी भिखारिन आ जाती है और वह धक्का खाकर कई हाथ दूर जा गिरती है। उसका शरीर खून से लथपथ हो जाता है। वह बेहोश हो जाती है। मोटर जरा रुकती है। उससे एक धनिक उतरता है। बूढ़ी के पास जाकर उसे डाँटता है, गालियाँ देता है और उसे वहीं छोड़, मोटर में बैठकर चल देता है। चंचला उसके पास जाती है। उसे देखती और सहायता करना चाहती है। इतने ही में पुलिस आती है। सब पुरुष-ही-पुरुष हैं। चंचला को बूढ़ी की हत्या के अपराध में गिरफ्तार कर लेते हैं।"

चौथा दृश्य—"अदालत में खूब भीड़ है। सब पुरुष-ही-पुरुष हैं। माली, भौंरों से बने हुए आदमी, गिरफ्तार करनेवाले पुलिस के आदमी—सब उपस्थित हैं। न्यायाधीश आता है। चंचला चौंकती है। न्यायाधीश तो उसका बालसखा जीवन है। न्यायाधीश उसे अपराध-मुक्त करता है। दोनों साथ ही चले जाते हैं।"

पाँचवाँ दृश्य—"एक सुन्दर पहाड़ी। पास में झरना। वह और जीवन। जीवन पूछता है—चंचला, तुम मेरी हो? वह उत्तर देना चाहती है, किन्तु शब्द मुँह से नहीं निकलते। आनन्द और भावनाओं से उसका कंठ अवरुद्ध हो जाता है।................"

और आश्रम-घंटा ने प्रातःकालीन प्रार्थना की सूचना दी। उसकी नींद खुल गई। उसने आँखें खोलकर इधर-उधर देखा, पर वहाँ कौन था, जो दिखलाई पड़ता? कुछ समय तक वह भ्रांत-सी, खोई हुई-सी पड़ी रही। शायद भयभीत थी, शायद मन-ही-मन पुरुषों की भर्त्सना कर रही थी, शायद जीवन के सान्निध्य का अनुभव कर रही थी।

स्वप्न एक सजीव चित्र बनकर उसकी आँखों के सामने झूलने लगा। उसने उसके विचारों को उत्तेजित कर दिया। वह सोचने लगी कि दुर्बलों के लिए संसार में कोई स्थान नहीं है। जो अपनी शक्ति का जितना भयंकर परिचय देता है, वह उतना ही निधड़क रहता है। समाज मनुष्य पर और छोटे समाजों पर कितना अत्याचार करता है, परन्तु क्या सामर्थ्य कि कोई उसके विरुद्ध अँगुली तक उठा दे। राजसत्ता और धर्म भी सबल के ही पक्षपाती हैं। निर्बल चीखता रहे, ईश्वर भी उसकी पुकार सुनने को तैयार नहीं होता।

नारी? वह तो निर्बलों से भी निर्बल है। उसके पास शारीरिक बल कम है, अतः पुरुष ने उसे सदैव कुचल कर रखा है। अब वह अपनी इसी अवस्था में समाधान मानने लगी है। उसने अपनी आत्मशक्ति भी खो दी है। उसे पुरुष की व्यक्तिगत सम्पत्ति बनकर उसके हाथों में नाचना पड़ता है। वह अपनी रक्षा नहीं कर सकती, और कोई स्थान उसके लिए सुरक्षित नहीं। पुरुष हिंस्र पशु के समान उस पर झपटने के लिए, उसे प्रवंचित करने के लिए सदा घात लगाये रहता है। नारियां माता होती हैं, सृष्टि की अन्यतम कोमलता उनसे ही प्रस्रवित होती है, संसार का सर्जन और पोषण वे ही करती हैं और बदले में उन्हें मिलती है—दासता! प्रेम नारी का ही संवेदन है, परन्तु इसका उपभोग करने का उसे कोई अधिकार नहीं। नारी उसके लिए तड़पती है और पुरुष उसका खिलवाड़ करता है। नारी के उस पुनीत प्रेम में ईर्ष्या और स्वार्थ का मिश्रण करके पुरुष ने उसे विकृत कर दिया है। उसमें उसने क्या-क्या नहीं मिलाया?

और स्वप्न का अन्तिम दृश्य उसके मानस-चक्षुओं के सम्मुख आया। वह रोमांचित हो उठी। एक अभूतपूर्व अनुभूति और आन्तरिक उत्तेजना से उसका शरीर पसीना-पसीना हो उठा। यह क्या था, वह समझ न पाई। केवल उसका अनुभव उसने किया और उसने महसूस किया कि उस अनुभूति में एक विलक्षण वेग है, अभूतपूर्व आकर्षण है। रोमांच और पसीना उसे प्रिय मालूम हुआ। उसका सतत अनुभव करते रहने की इच्छा उसके मन में जाग्रत

हो उठी। उस अनुभूति में एक वेदना, एक फुहरन, एक सिहरन थी। वह सब उसे मधुर मालूम हुई।

उसका शरीर यद्यपि प्रार्थना के लिए चला, तथापि उसका मन उसे किसी दूसरी ही ओर खींच रहा था।

उसने प्रार्थना शुरू की—"प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वम्...." और उसके हृदय के अन्दर से किसी ने पुकार कर पूछा—"चंचला, तुम मेरी हो ?" वह आगे बढ़ती गई, परन्तु उसका यह प्रश्न बंद न हुआ। भजन आरंभ हुआ—

"माई मैंने गोविन्द लीनो मोल !"
"गोविन्द लीनो मोल।"

उसे अच्छा लगा। उसकी भावनाओं में अधिक उत्कटता आ गई। भजन आगे बढ़ा—

"कोई कहे सस्ता, कोई कहे महँगा,
"लीनो तराजू तोल।"
"कोई कहे घर में, कोई कहे वन में,
"राधा के संग खिलोल।"

उसका शरीर स्फुरित होने लगा। भजन और आगे बढ़ा—

"मीरा के प्रभु गिरिधर नागर,
"आवत प्रेम के डोल।"

वह लज्जित हो गई। क्यों ? वह स्वयं नहीं जानती। प्रार्थना समाप्त होने पर सब छात्राएं अपने-अपने काम में लग गईं, परन्तु चंचला शिथिल रही। उसके मन पर या तो बोझ था, या उसका मन उसके पास था ही नहीं।

वह सोचने लगी—आखिर इसका क्या अर्थ है ? एक स्वप्न ने मुझे इतना प्रभावित क्यों कर दिया ? "चंचला, तुम मेरी हो ?"—यह कैसी बात ? परन्तु इसमें नवीनता क्या है ? जीवन मेरा बालसखा है। उसने अम्मा और बापू की शुश्रूषा में प्राणों को हथेली पर रख कर मेरी सहायता की थी। आज भी वह मेरे लिए व्याकुल रहता है। फिर क्या आश्चर्य कि मैं उसकी हूँ ? उसके गाढ़े समय में मैं अवश्य ही उसकी मदद करूँगी। निःसंदेह वह मेरा है और मैं उसकी हूँ।

परन्तु क्या इस प्रश्न का यही अर्थ है ? यदि यही अर्थ हो तो प्रश्न का प्रयोजन क्या ? परन्तु मैं कैसी हूँ ! स्वप्न की बात पर इतनी ऊहापोह में पड़ गई !

वह पुस्तक खोलकर पढ़ने बैठ गई। पुस्तक पढ़ती थी, परन्तु उसका मन स्वप्न की उधेड़-बुन में लगा था। पुस्तक का एक शब्द भी उसकी समझ में न आया। कभी उसके नेत्रों के सामने वे बड़े-बड़े भौंरे आते, कभी बूढ़ी और कभी पुलिसवाले। और उन सबके बीच जीवन बराबर आता—कभी न्यायाधीश के रूप में और कभी झरने के पास खड़ा पूछता हुआ—"चंचला, तुम मेरी हो?" और उसकी विचार-सरणी इसी अंतिम समस्या को सुलझाने में फिर उलझ गई।

यदि वह मुझसे पूछ ही ले तो मैं क्या उत्तर दूँगी? स्वप्न में मैं कुछ उत्तर देना चाहती थी—वह क्या था?.......वह क्या था? याद नहीं आता। परन्तु मेरे हृदय में इस प्रश्न को सुनकर गुदगुदी पैदा हुई थी। मेरा हृदय उमड़ने लगा था। शायद मैं कहना चाहती थी—"हाँ!" क्या मैं "नहीं" कह सकती थी? यदि वह प्रत्यक्ष पूछे तो क्या मैं "नहीं" कह सकती हूँ? पता नहीं। पहले मुझे उसके प्रश्न का अर्थ समझना होगा। "तुम मेरी हो?" हाँ-हाँ, मैं तुम्हारी अवश्य हूँ, जीवन! तुम्हें शंका क्यों है? "परन्तु फिर तुम्हें सदैव मेरे साथ रहना होगा।" साथ रहना होगा? मैं तो स्त्री हूँ, समाज क्या कहेगा? "हम विवाह कर लेंगे।" विवाह? विवाह? क्या यह सच है? क्या विवाह किये बिना मैं तुम्हारे साथ नहीं रह सकती, तुम्हारी नहीं हो सकती?

विवाह तो मैं करना ही नहीं चाहती। विवाह मुझे दासी बना देगा। आज मैं तुम्हारी सखी हूँ, तुम्हारे साथ मेरा बराबरी का सम्बन्ध है। विवाह करने के बाद तुम मेरे "पूज्य" बन जाओगे। मैं कैसे निभा सकूँगी? मुझे तो बराबरी में ही आनन्द है।

मैं नारी हूँ। नारी तो विवाह के पूर्व और विवाह के पश्चात् भी पुरुष से हीन मानी जाती है। विवाह उसे बन्धनों और उत्तरदायित्वों में जकड़ अवश्य देता है। फिर वह चाहे भी तो सिर ऊँचा न कर सके। उसे फ़ुरसत ही कहां? स्वेच्छा से नारी हीन क्यों बने? जब तक पुरुष स्वयं चेतता नहीं, नारी को मानवोचित अधिकार नहीं देता, तब तक नारी उसके साथ सहयोग क्यों करे?

और बापू का कार्य? विवाह करके शायद मैं बापू का कार्य भी पूरा न कर सकूँगी। मुझे उनकी बची हुई सेवा पूरी करनी है। मैं देश में किसी को अस्पृश्य न रहने दूँगी। और नारियों की उन्नति के कार्य में मैं अपना सारा जीवन लगा दूँगी। विवाह के बाद क्या यह सब हो सकेगा?

नहीं, मैं विवाह नहीं करूँगी।

फिर क्या मैं जीवन की हो सकूँगी ? हो सकूँ तो अच्छा, नहीं तो नहीं सही ।

विवाह में आत्मत्याग है ? नहीं, आत्मघात है। मैं विवाह नहीं करूँगी, नहीं करूँगी ।

इस निश्चय से चंचला का मन कुछ हलका अवश्य हुआ और यद्यपि पढ़ने के योग्य मनःस्थिति उसकी अब भी नहीं थी, वह चरखा कात सकती थी और वह उसी में लग गई ।

थोड़ी ही देर में आचार्य उमापति ने उसे बुलवा भेजा । वह गम्भीर थे । प्रकट स्नेह के साथ बोले—"जीवनचन्द्र नाम के किसी युवक का एक पत्र तुम्हारे नाम आया है। यह युवक कौन है ?"

चंचला ने संक्षेप में परिचय दे दिया ।

आचार्य ने कहा—"पत्र कुछ विचित्र-सा है, कल्याणकारी नहीं जान पड़ता । गृह-व्यवस्थापिका का कहना है कि इस प्रकार के पत्र उसके पास से बहुधा आया करते हैं ?"

"पत्र तो आते हैं, परन्तु यह कैसा है, मैं क्या जानू ?" चंचला ने उत्तर दिया ।

"चंचला, हमारी नीति तुम लोगों पर पूर्ण विश्वास करने की है। मुझे यह भी विश्वास है कि तुम लोगों का व्यवहार भी हमारे साथ विश्वास का होगा ।"

"जी ।"

"और मुझे बड़े भाई का स्थान प्राप्त है न ?"

"जी ।"

"तो यह पत्र ले जाओ। इसे पढ़ लो और सायंकाल इसे लेकर मुझसे मिलो ।"

चंचला पत्र लेकर चली गई ।

१७

जया की चित्रकारी

सेठ गंगाप्रसाद् प्रायः प्रतिदिन ही आश्रम का एक चक्कर लगा लिया करते थे। कार्यकर्ताओं और छात्राओं के साथ उनका व्यवहार इतना आत्मीयतापूर्ण था कि लोग उनके आने की बाट जोहा करते। और जब वह आ जाते तो उनकी चारों ओर भीड़ लग जाती। शिक्षकालय के छोटे-छोटे बच्चे भी 'काकाजी काकाजी' पुकारते हुए उनके पास दौड़ पड़ते थे। कोई उनकी धोती पकड़ता, कोई हाथ और कोई उनके पैरों को अपने लघु बाहुपाश में भरकर उनसे झूलने का प्रयत्न करता। वह स्वयं बच्चों के साथ बच्चा बन जाते और उनसे प्यार की, बच्चों की सी, मीठी-मीठी बातें करते रहते।

बड़े लड़के-लड़कियाँ भी उनके आसपास एकत्र हो जाते थे। कोई उनसे अपने विद्यालय की बात करता, कोई घर-बार की। वह सबकी सुनते, उचित परामर्श देते और आवश्यकता पड़ने पर उपयुक्त आश्वासन देकर उनका समाधान करते।

शिक्षक-शिक्षिकाओं से जब वह बातें करते तो उनके और उनके परिवार के लोगों के स्वास्थ्य, सुख-दुःख, आकांक्षाओं-आवश्यकताओं से लेकर आश्रम के दैनिक कार्यक्रम एवं देश तथा संसार की समस्याओं तक सभी विषयों का पर्यालोचन हो जाता।

अंत में वह छात्रावास में पहुँच जाते। वहां सब छात्राओं से मिलते और उनके सुख-दुःख, सुविधा-असुविधाओं को जानकर आवश्यक उपाय करते।

इधर कई महीनों से सरकार ने उन्हें सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा के लिए भयानक कहकर कारागृह में डाल रखा था। चंचला को अनेक बार उनसे उपदेश और दिशा-दर्शन प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु यह हो ही कैसे सकता था! उसे मन मार कर रह जाना पड़ा।

जीवन का जो पत्र चंचला के नाम आया था उससे आचार्य भी विचार

में पड़ गये थे और उन्हें भी सेठजी से भेंट करने की आवश्यकता महसूस होती थी।

आचार्य से पत्र ले जाकर चंचला ने उसे एक ही साँस में पढ़ डाला। जैसे-जैसे वह एक-एक पंक्ति और एक-एक अनुच्छेद से गुजरती थी, उसके हृदय की धड़कन बढ़ती जाती थी। पत्र पढ़कर उसने रख दिया और उस पर विचार करने लगी। परन्तु उसे कुछ सूझ न पड़ा। मानो, पत्र के शब्द उसके अंतस्थल के भावों पर से बिछलते चले जाते थे।

उसने दुबारा उसे पढ़ा और इस बार उसके प्रत्येक शब्द को हृदयंगम ही नहीं कण्ठ कर लेने की धुन से पढ़ा। उसे कुछ सफलता मिली। परन्तु विचार करने पर उसे मालूम हुआ कि पत्र के कुछ इने-गिने शब्द ही उसके हाथ लगे हैं।

अब उसने पत्र को खोल अपने सामने रख लिया और एक-एक वाक्य का विश्लेषण प्रारम्भ किया। तब वह भावनाओं में बह गई। जीवन का चित्र उसके सामने आकर झूलने लगा और वह सोचने लगी कि कितना अच्छा है वह !

उसे उस दिन का स्वप्न याद आया। स्वप्न के मुकदमे का निर्णय और झरने का किनारा भी उसके मन के सामने झूलने लगा। फिर उसे पुकार सुनाई दी—"चंचला, तुम मेरी हो ?" और वह आत्म-विस्मृति में लीन हो गई।

तो क्या सचमुच जीवन उससे विवाह का प्रस्ताव कर रहा था ? वह इसे नहीं मान सकती। इन्दौर में, आमने-सामने कहाँ उसने विवाह की बात की थी ? परन्तु यदि उसका यही आशय हो ? यदि उसके हृदय में यह भावना नई पैदा हुई हो ? परन्तु पत्र से यह बात कहाँ प्रकट होती है ? वह तो इस प्रकार के पत्र सदैव लिखा करता है। भला, 'काश' से आरम्भ होने वाले अनुच्छेद में तो कोई ऐसा भाव नहीं है ?

उसने अनुच्छेद फिर पढ़ डाला। इसका अर्थ वैसा हो भी सकता है और नहीं भी। उसका यह आशय होता तो मुझसे साफ-साफ क्यों न कहता ? और क्या वह इतना भी नहीं समझता कि पत्र में इस प्रकार की बात नहीं लिखनी चाहिए ? क्या वह मेरी बदनामी की जोखिम उठायेगा ?

जीवन स्पष्टवादी है और उसने प्रत्यक्ष मुझसे कुछ नहीं कहा, अतएव यह निष्कर्ष सही नहीं है।

जीवन बुद्धिमान है और वह मेरी बदनामी की जोखिम नहीं उठा सकता, अतएव यह निष्कर्ष सही नहीं है।

जीवन मेरा स्नेही है और भावुक भी है और उसके पत्रों में स्नेह तथा भावुकता का पुट होना स्वाभाविक है, अतएव यह निष्कर्ष सही नहीं है।

उसने मान लिया कि पत्र की समस्या हल हो गई। परन्तु क्या सच-मुच वह हल हो गई थी? तो वह अब किस समस्या को सुलझाने में व्यस्त थी? उसने उस पत्र को उठाकर रख क्यों नहीं दिया? उसे दूसरों से छिपाने की इच्छा क्यों होती है?

उसने अपनी दैनंदिनी में पत्र की प्रतिलिपि कर ली और उसके नीचे लिखा :

"यह मेरा निजी पत्र है। अच्छा हो या बुरा, किसी को इस पर आपत्ति करने का क्या अधिकार? मेरा विश्वास है कि इसमें भावप्रवण हृदय के स्नेह सिक्त उद्‌गार-मात्र अंकित हैं, जिन्हें उत्कटता के साथ व्यक्त किया गया है। इसमें वेदना प्रकट है, वेदना प्रच्छन्न है। वेदना अपने आत्मीय पर ही प्रकट की जाती है। मैं उसकी आत्मीय हूँ। वह मेरा आत्मीय है। उसने आत्मीयता की माँग पूरी की है। उसका पत्र उसकी और मेरी दृष्टि से सर्वथा उचित और आपत्तिरहित है। समाज कदाचित् उसमें दोषान्वेषण करे, परन्तु क्या समाज सदैव सही मार्ग पर रहता है? हम व्यक्ति ही समाज का निर्माण करते हैं। हमारी ही सचाई पर समाज की सचाई का दुर्ग खड़ा है। हमारी आत्मा ही तो हमारी सचाई का निर्णय कर सकती है? मैं सच्ची हूँ। मेरा विश्वास है कि जीवन भी सच्चा है।......"

दुपहर को जया दौड़ती हुई चंचला के पास आई। उस समय चंचला वाचनालय में बैठी हुई एक मासिकपत्रिका के पन्ने उलट रही थी। 'उलट रही थी' इसलिए कि किसी विषय में गंभीरतापूर्वक ध्यान लगाने की उसकी मनःस्थिति नहीं थी।

जया ने अत्यन्त प्रफुल्लता के साथ कहा—"दीदी, मैंने एक बहुत अच्छा चित्र बनाया है।" और उसने अपनी चित्र-पुस्तिका उसके सामने रख-कर पन्ने खोलना शुरू कर दिया। उसे क्या परवाह थी कि चंचला का ध्यान कहाँ है और वह उसका चित्र देखना चाहती है या नहीं!

चित्र निकालकर जया ने उसे दिखलाया। दोनों आमने-सामने बैठी थीं। जया ने समझा, उलटी ओर बैठकर चित्र समझाया नहीं जा सकता, इस-लिए वह शीघ्रता से चंचला की बगल में आ गई। जल्दी में उसके पैर से चंचला के हाथ की अँगुली कुचल गई और उसके मुँह से सहसा वेदना की एक दबी हुई आवाज निकल पड़ी। चंचला ने अपनी अँगुली को सहलाते हुए

झिड़की तथा उलाहने के स्वर में कहा—"कैसी फूहड़ है!"

जया लजा गई। उसका उत्साह गिर गया और उसने खिन्नता के साथ कहा—"मैंने जान-बूझकर थोड़े ही तुम्हारी अंगुली कुचल दी है।"

अब तक चंचला सावधान हो चुकी थी। उसके हाथ का दर्द भी मिट गया था। वह जो अब तक अपनी अँगुली पकड़े देख रही थी उसे छोड़कर और प्यार के साथ जया के गाल पर एक मीठा चपत लगाकर बोली—"जान-बूझकर न करने पर ही 'फूहड़' की उपाधि मिलती है। अच्छा, बता अपना चित्र।"

जया प्रसन्न हो गई। उसमें फिर उत्साह आया। चित्र दिखलाया और देखा जाने लगा।

अनेक रंगों का मिश्रण! सुन्दर असुन्दरता! देखते ही चंचला हँस पड़ी। जया भी हँस पड़ी।

मोटा-सा-धड़, पतले-पतले पैर, दोनों पंजे समानान्तर आग्नेय दिशा की ओर, छाती झुकी हुई, एक हाथ का रुख डंडा मारने का, दूसरा हाथ पीछे खिंचा हुआ—मानो भागने की तैयारी में हो, सिर बड़ा, आँखें बड़ी-छोटी, कान बहुत लम्बे, नाक टेढ़ी, मुँह बहुत छोटा और विकृत, सिर पर सींकों के समान खड़े बाल, माथे पर त्रिपुण्ड—ऐसा एक पुरुष!

सामने एक बहुत छोटा बच्चा—निर्दोष और सुन्दर!

बच्चे के सामने लिखा है—"बाबा, तुम कोन?"

त्रिपुण्डधारी से कहलाया गया है—"दूर हट, नहीं मार दूँगा।"

बच्चे के सामने दूसरा प्रश्न लिखा है—"तुमाए छींग काँ एँ?"

चंचला हँसती-हँसती लोट-पोट हो गई। जया ने भी निर्माता के गौरव का पालन करते हुए उसका साथ दिया।

इतने ही में छुट्टी की घंटी हुई और बहुत-सी छात्राएँ वहाँ एकत्र हो गईं। गिरिजा, वसुधा, मीनाक्षी, सभी आईं। सब ने चित्र देखा और सब हँसीं।

मीनाक्षी ने कहा—"पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध में यह चित्र बिलकुल उपयुक्त है।" कुछ बालिकाओं ने इसका समर्थन किया। एक ने कहा—"चित्र में पुरुष का रूप यही होना चाहिए।" कुछ इस मत के विरुद्ध रहीं, उन्होंने नाक-मुँह सिकोड़ लिया।

विनोद का रंग गहरा हो रहा था और इसी बीच गिरिजा बोल उठी—"इस लड़के की जगह लड़की बनानी थी, फिर यह चित्र पूर्ण हो जाता।"

अन्य बालिकाओं ने इसका अनुमोदन किया और हास-परिहास की मात्रा कायम रही।

चंचला भी बराबर हास्य में योग दे रही थी, परन्तु उसके चेहरे पर उन्मुक्तता की झलक दिखाई नहीं पड़ती थी। एक बालिका ने दूसरी का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करते हुए कहा—"अभिमान की कोई सीमा ही नहीं दीखती!"

दूसरी ने व्यंग्य से उत्तर दिया—"दीदी जो है।"

तीसरी छोटी बालिका तिनककर बोली—"इस तरह की विषैली बातें क्यों करती हो? वह तो किसी से बोलतीं भी नहीं, फिर भी उनके प्राण नहीं बचने देतीं।"

"तुमको हमारी बातों से क्या? तुम्हें क्यों बुरा लगता है?" एक ने आवेश में आकर उत्तर दिया।

वह बालिका चुप होकर वहाँ से हट गई।

चंचला के रुख में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उसने इन बातों को सुना ही नहीं। और बहुत-सी बालिकाओं ने भी इनमें कोई रस नहीं लिया।

इधर चित्र की मीमांसा जारी थी।

गिरिजा की बात सुनकर मानो वसुधा ने विरोध किया। उसने कहा—"नहीं, यह अर्थ बिलकुल ठीक नहीं है। इससे स्त्रियों की हीनता सिद्ध होती है।"

कांता ने उत्तर दिया—"अच्छा, तो अब आप अपना भाष्य कीजिए।"

और वसुधा ने आरम्भ कर दिया—"चित्र बिलकुल स्पष्ट है। यह जो आधा मनुष्य और आधा बैल बनाया गया है, वह अपना परिचय आप दे रहा है। ढीली धोती, उघारा वदन, माथे पर त्रिपुण्ड, इसका 'पोंगा-पंडित' होना दिखाता है। सामने जो बच्चा है वह अस्पृश्यों का प्रतीक है। अस्पृश्य सीधा-सादा, भोला-भाला, गरीब, दुर्बल होता ही है। कष्टों से उसकी बाढ़ मारी गई है। पोंगा-पंडित मालपुए उड़ा-उड़ाकर, दूसरों से बड़ा कहलाकर, दिन-भर बेकार पड़ा-पड़ा फूल गया है। उसके कान—लम्ब कर्ण—उसकी मूर्खता का परिचय देते हैं......."

कानों की व्याख्या ने फिर हँसी का समाँ बाँध दिया।

जुबेदा बिना स्पष्ट किये न रह सकी। बोली—"मगर बड़े कान तो गधे के मशहूर हैं?"

वसुधा को कहना पड़ा—"हाँ, इसके कान गधे के ही हैं। परन्तु आवेश इसमें छुट्टे बैल का है। गधा सबको मारने थोड़े ही दौड़ता है।

कुछ बालिकाओं को यह व्याख्या पसन्द आई; कुछ को नहीं। वसुधा ने देखा, चंचला के हृदय में कुछ अधिक गुदगुदी नहीं हो रही है, इसलिए उसने उसे हाथ से ही गुदगुदा दिया और जब वह भी खिल पड़ी तो व्याख्या आगे बढ़ी—

"यह अस्पृश्य बच्चा इस गर्दभ-वृषभ पंडित के पास आ गया और कौतूहल-वश अपना भोला प्रश्न कर बैठा—"बाबा, तुम कौन ?" बेचारे की इतनी बात भी पोंगा-पंडित सह न सका। मारने को तैयार हो गया। बच्चे के घर में बैल हैं। वे उसे बहुधा सींग मारने दौड़ते हैं, इसलिए जो भी मारने दौड़ता उसे बच्चा बैल ही समझता है। उसने इसे भी बैल समझा...."

बालिकाएँ फिर हँस पड़ीं।

वसुधा गम्भीर भाव धारण किये आगे बढ़ती गई—

"परन्तु बच्चे को स्मरण हुआ कि बैल के तो सींग होते हैं और इसके हैं ही नहीं। इसलिए उसने अपना दूसरा प्रश्न किया—"तुमाए छींग काँ एँ ?"

सब बालिकाएँ वसुधा के पक्ष में हो गई। कुछ ने तो तालियाँ भी पीट दीं। केवल चंचला ऊबने लगी थी। वसुधा कुछ रुकी और फिर बोली—
"इस चित्र में एक कविता की कमी है, उसे मैं पूरा किये देती हूँ। जया, लिखो इसके नीचे—

"तबीयत बुरी सही पै किस्मत बुरी नहीं।
"है लट्ठ हाथ में कि फोड़ दूँगा सर तेरा ॥"

और अब सभी का बाँध टूट पड़ा। एक बार तो 'बे-हँसी रानी' चंचला भी दिल खोलकर हँसे बिना न रह सकीं।

उधर नाश्ता लाने वाली बालिकाओं ने पुकार लगाई तो सभा विसर्जित हो गई, परन्तु वसुधा की कविता सब लोगों के होठों पर बस गई।

चंचला का नाश्ता जया ने झपट लिया और बोली—"इनाम नहीं दोगी ?"

चंचला ने प्रकट प्रसन्नता और स्नेह से कहा—"मैं सचमुच ही तुझे इनाम देना चाहती थी, जया।"

"तब तो तुम्हें खाना ही होगा"—जया ने साग्रह कहते हुए नाश्ते का बर्तन उसके सामने सरका दिया।

चंचला को खाना पड़ा, परन्तु इतनी अरुचि के साथ शायद ही कभी उसने नाश्ता किया हो। तिसपर आज नाश्ते का पदार्थ विशेष स्वादिष्ट था।

ऐसा क्यों हुआ ?

जब चंचला ने पहले-पहल चित्र को देखा तो अपनी प्यारी जया के नटखट स्वभाव के व्यक्त परिचय के रूप में उसने उसे बहुत पसन्द किया। परन्तु बाद में चित्र की जो व्याख्याएँ हुईं उनसे उसका दिल हिल उठा।

चित्र में जब नारी और पुरुष का सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा था उस समय वह अपने भावी जीवन और समाज की विषमता पर विचार कर रही थी। प्रस्तुत चित्र से भी एक भयंकर चित्र उसके सामने आकर खड़ा हो गया था। एक ही झलक में वह नारी के प्रति आततायी पुरुष के समस्त अत्याचारों को देख गई। नारी की अशिक्षा, उसकी शारीरिक और मानसिक दुर्बलता, उसकी सामाजिक दुरवस्था और उसकी सम्यक दासता का 'एकमात्र कारण पुरुष को समझकर वह सिहर उठी। उसने अपनी निस्सहायता का अनुभव किया और उसका हृदय एक बार जोर से उछलकर बैठ गया।

वसुधा की व्याख्या शुरू हुई तो उसे वह भी ठीक लगी। किसी बात को हलके मन से ग्रहण करना मानो वह भूल ही गई थी। प्रत्येक बात में उसे गम्भीरता मालूम होती, प्रत्येक बात वह अपने पर उतार लेती और प्रत्येक बात उसके हृदय पर प्रभाव डालती। वसुधा का विनोद समस्त श्रोतामंडली को गुदगुदा रहा था, परन्तु अकेली चंचला उससे दूर भागना चाहती थी। यद्यपि उस समय उसने अपनी आन्तरिक व्याकुलता को छिपाने और प्रकाश्य रूप में हँसी-खुशी में सम्मिलित रहने का भरसक प्रयत्न किया, तथापि यदि कोई मनोवैज्ञानिक वहाँ पर उपस्थित होता तो वह स्पष्ट देख सकता कि उसकी मनोदशा साधारण नहीं थी।

और, क्या किसीने उसकी मनोदशा पहचानी नहीं ? छोटे बच्चे और साथी-संगी अपने निकट रहनेवाले लोगों के लिए बड़े-से-बड़े मनोवैज्ञानिक होते हैं। एक दृष्टि में वे अपने निकटस्थ की स्थिति हृदयंगम कर लेते हैं। अंतर केवल इतना होता है कि वे वैज्ञानिक ढंग से और वैज्ञानिक भाषा में बोल नहीं सकते। सो, उसके साथ की बालिकाओं ने भी तो उसकी मानसिक स्थिति को समझकर किसी-न-किसी रूप में व्यक्त कर दिया था।

परन्तु चंचला में व्यवहार की सांस्कारिकता थी। गुरुकुल और वनिता आश्रम में रहकर उसने अपने माता-पिता से प्राप्त संस्कारों को यथेष्ट विकसित किया था। अतएव वह अपने मानसिक कष्ट को यथासम्भव दूसरों पर प्रकट न होने देती थी। जया के आग्रह से नाश्ता करके उसने अपने इसी संस्कार का परिचय दिया था।

जब से उसने वसुधा की बनाई हुई कविता सुनी, तब से वह बराबर उसके मन में घूमती रही। समाज की अवस्था का सच्चा चित्रण उसे उन दो छोटी-छोटी विनोद-पूर्ण पंक्तियों मे प्राप्त होता था। धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में वे दो पंक्तियाँ उसे सत्य प्रतीत होती थीं। उसे दिखलाई देता कि सभी जगह कुछ भाग्यवान लोग अपना ठेका कायम किये बैठे हैं। साधन-सम्पन्न अपने साधन के मद में साधनहीनों को संत्रस्त करते रहते हैं।

उसका ध्यान व्यापक विश्व की ओर गया। सर्वत्र सबल-निर्बल, सम्पन्न-विपन्न का संघर्ष उसे दिखलाई पड़ा। क्षण-भर के लिए उसने सोचा कि यह सृष्टि का नियम है, अतः इसे स्वीकार कर लेने में ही कल्याण है। परन्तु तुरंत ही उसके अन्तरात्मा ने विद्रोह किया। इस स्थिति को क्यों स्वीकार किया जाये? इसे नैसर्गिक भी तो वही बताते हैं, जिन्हें इससे लाभ है। कितनी नैसर्गिक बातों को वे मानते हैं? क्या प्रत्येक व्यक्ति का सुख और उन्नति की आकांक्षा करना नैसर्गिक नहीं है? उस आकांक्षा का आदर क्यों नहीं किया जाता? उन्हें उनकी आकांक्षा-पूर्ति में सहायता क्यों नही दी जाती? जब वे विद्रोह करते है तो उनके दमन का प्रयत्न क्यों किया जाता है? यह सब अन्याय है, असत्य है, स्वार्थ है, अत्याचार है। इसके विरुद्ध संग्राम छेड़ना ही होगा।

परन्तु संग्राम? संग्राम कैसा? संग्राम कैसे? संग्राम किससे? उस दिन तो मैंने निर्मला से कहा था कि यह समय संग्राम छेड़ने का नहीं, एकता करने का है। फिर, संग्राम या एकता? संग्राम पहले, एकता बाद में? एकता पहले, संग्राम बाद में? तो क्या सचमुच संग्राम अनिवार्य है? 'भय बिन होइ न प्रीति'—क्या यह उक्ति सही है? 'वक्र चन्द्रमहिं ग्रसै न राहू'—क्या यह भी ठीक है? नहीं, भय से प्रीति कैसे होगी? उससे तो मनुष्य कपटाचार में, कुटिलता में प्रवृत्त हो जायगा। फिर क्या?

उसके मन में इतिहास-शिक्षक से बातें करने की बात और भी पक्की हो गई।

१८

प्रणयी नहीं सखा

संध्या हुई और चंचला के आचार्य के पास जाने का समय आया। उसने जीवन का पत्र ले लिया और तरह-तरह के विचार करती हुई चली। अपनी कोठरी से आचार्य के कमरे में पहुँचने तक न जाने कितने विचार उसके मस्तिष्क में आये और चले गये। उसने जीवन के सम्बन्ध में मनोरम कल्पनाएँ कीं और उनमें विभोर हो उठी। उसने अपने और उसके साथ का एक भयंकर चित्र भी देखा और वह काँप उठी। परन्तु यह सब उतनी ही देर के लिए था। जब वह आचार्य के कमरे में पहुँची तब तक उसका मन शांत हो चुका था।

आचार्य ने किंचित् मुसकराकर सौम्यता के साथ उसका स्वागत किया और उसे प्यार के साथ अपने पास बैठाकर, कुछ इधर-उधर की बातें करने के बाद मूल विषय आरम्भ किया। चंचला ने पत्र उनके हाथ में दे दिया और उन्होंने एक बार फिर से उस पर दृष्टि फेरने के बाद पूछा—"क्या ख्याल है इस पत्र के बारे में, चंचला ?"

"पत्र तो अच्छा है।"

आचार्य कदाचित् यह उत्तर सुनने की अपेक्षा न करते थे। पत्र को 'विचित्र' जानकर उन्होंने उसके विषय में अपनी धारणा बनाई थी और उनके मन में तर्क की जो दिशा बैठ गई थी, वह इसी आधार पर थी। दूसरी दिशा में उनकी तैयारी थी ही नहीं, अतः वह कुछ क्षणों के लिए विचार में पड़ गए। फिर उन्होंने दूसरा प्रश्न किया—"उसमें खटकनेवाली कोई बात नहीं है ?"

चंचला ने पूर्ववत् गंभीरता से उत्तर दिया—"मुझे तो नहीं मालूम हुई',—और स्पष्ट था कि उसने यह बात निष्कपट भाव से कही।

"ऐसे पत्र तो समझदार युवक-युवती एक-दूसरे को नहीं लिखते ?"

"मैंने कभी किसी दूसरे के पत्र नहीं पढ़े।"

अब आचार्य को कुछ उलझन हुई—यह लड़की यही महसूस करती है या मुझसे केवल तर्क करना चाहती है ? पहली बात ही उन्हें अधिक जँची, किन्तु उससे उनकी कठिनता हल नहीं होती थी । उन्हें पत्र का एक-एक शब्द प्रेम-संदेश से ओतप्रोत मालूम होता था । उसपर चर्चा करने का अर्थ था प्रेम के जैसे सुकुमार विषय पर चर्चा करना । उससे क्या कहें ? वह कुछ गलती-सी महसूस करने लगे । कोई महिला बातें करती तो अधिक अच्छा होता । परन्तु गृह-व्यवस्थापिका के अनुरोध से उन्होंने यह कार्य अपने ऊपर ले लिया था, अब छोड़ कैसे दें ? अन्ततोगत्वा उन्होंने अपना सारा बल इकट्ठा करके बात को आगे बढ़ाया ।

"क्या तुम यह भी महसूस नहीं करतीं कि पत्र अनावश्यक भावनाओं और खुशामद से भरा हुआ है ?"

"जीवन सच्चा और साफ है । वह खुशामद नहीं करता । रही भावनाओं की बात, सो आप तो कहते थे कि अपनी भावनाओं को सुन्दर-से-सुन्दर रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करने से मनुष्य का आन्तरिक विकास होता है । फिर इसमें क्या दोष है ?"

"तो तुम्हारा विश्वास है कि उसने अपनी सच्ची भावनाओं को ही काव्यात्मक भाषा में व्यक्त किया है ?"

"जी !"

"तुम्हें ये भाव अच्छे मालूम हुए ? इनसे प्रसन्नता हुई ?"

"वह मेरा बहुत प्यारा सखा है । उसके साधारण पत्र से भी मुझे हर्ष होता है ।"

आचार्य को जिस बात पर विश्वास नहीं हो रहा था, अब वही उनके मन में जमने लगी । क्या वही ठीक है ? परन्तु पूछें कैसे ? संकोच ने एक बार फिर धर दबाया और उन्होंने फिर साहस किया । आखिर भूमिका बांधने लगे । पहले उन्होंने उसे विश्वास में लेने के लिए कुछ बातें कहीं, कुछ अपनापन जताया, कुछ उसका भ्रातृभाव जाग्रत करने का प्रयत्न किया और जब उससे गलत न समझने का पूरा आश्वासन मिल गया तब उन्होंने पूछा—

"तुम लोगों के बीच विवाह की कोई बात तो नहीं है ?"

चंचला के लिए यह प्रश्न अपेक्षित था भी और नहीं भी । उसे सुनकर वह लजा गई । उसका चेहरा आरक्त हो उठा, हृदय धड़कने लगा । शायद वह उत्तर देने योग्य अवस्था में रही ही नहीं । परन्तु उत्तर तो देना ही था और उसने कहा—

"जी नहीं ।"

"बिलकुल सच कहती हो ?" आचार्य ने पूरी बात खुलवा लेने के ख़्याल से कहा ।

"जी हाँ" संक्षेप में उत्तर मिल गया ।

आचार्य अब पूरी उलझन में पड़ गये । उन्होंने मानसशास्त्र के समस्त ज्ञान का आकलन करके परिस्थति को यथार्थ रूप में समझने का प्रयत्न किया । परन्तु जैसे-जैसे उन्होंने गहरा खोदा, वैसे-वैसे अधिक घने जाल में फंसते गये । आखिर बात को समाप्त करना ही उचित समझकर उन्होंने कहा—

"देखो चंचला, मुझे दुनिया का थोड़ा-बहुत अनुभव है । वह पक्का और त्रुटिहीन ही है, ऐसा तो मैं नहीं कह सकता, फिर भी आयु और उत्तर-दायित्व के कारण वह तुम्हारे अनुभव से अधिक हो सकता है । तुम मानती हो ?"

"जी हाँ"

"तो, मुझे इस पत्र में विवाह की भावना छिपी हुई दिखलाई पड़ती है ।"

"हो सकती है ।"

"और तुम तो विवाह करना ही नहीं चाहतीं ?"

"नहीं, मैं उसे केवल बालसखा मानती हूँ ।"

"तो, यदि यह बात एकांगी है, तो इसका अंत अत्यन्त दुःखद हो सकता है ।"

"मुझे क्या करना चाहिये ?"

"मैं तुम पर विश्वास करता हूँ, अतः इस समय अधिक न कहूँगा । तुम स्वयं ठंडे दिल से विचार करो । मेरी सहायता तुम्हें सदा सुलभ है । जब आवश्यकता हो मेरे पास आना ।"

"जी ।"

"और सुनो, मुझे गलत न समझना । मैं विवाह का विरोधी नहीं हूँ । केवल किसी काम को छिपाकर करने के विरुद्ध हूँ । यदि तुम्हारे हृदय के किसी कोने में भी विवाह की भावना छिपी हुई हो तो मुझे अपना सहायक भाई समझना । कोई बात छिपाना मत ।"

"जी हाँ"—कहकर चंचला चली गई ।

आचार्य को उससे बात करके कुछ विशेष संतोष नहीं हुआ । उसके और जीवन के बीच में जिस प्रकार का पत्र-व्यवहार हो रहा था, उसे वह कितना भी प्रयत्न करने पर विवाह की भावना से अलग न कर पाये । किन्तु चंचला

पर अविश्वास करने का उनके पास कोई कारण नहीं था। वह झूठ नहीं बोल सकती थी। परन्तु वह सोचने लगे कि लज्जा और संकोच तो भारतीय नारियों की नस-नस में भिदा होता है, फिर क्या यह संभव नहीं कि वह इसी कारण अपने सच्चे मनोभावों को प्रकट न कर सकी हो ?

इस तर्क के समर्थन में उन्हें एक अन्य कारण भी मिल गया। उन्होंने चंचला के साथ की अपनी बातों पर पुनर्विचार किया, अपने प्रश्नों और उसके उत्तरों को अपने मन में दुहराया, चंचला के सूक्ष्म उत्तरों पर विचार किया। चंचला ने अधिकांश प्रश्नों का उत्तर 'हाँ-नहीं' की भाषा में दिया था। वह सोचने लगे कि यदि उसे संकोच न होता तो वह विस्तार से बातें करती, कुछ मेरी सुनती और कुछ अपनी कहती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। फिर उन्होंने उसके चेहरे और चेहरे पर प्रतिबिम्बित भावों को स्मरण किया। वह निश्चय ही सिर नीचा किये हुए बातें करती थी। एक बार भी तो उसने मेरे चेहरे की ओर देखकर बात नहीं की।

बहुत ऊहापोह के पश्चात् उनके मन में यह बात जम गई कि उसने अवश्य ही अपने मन में छिपी हुई बातें मुझसे नहीं कहीं। इसमें वह उसे दोषी नहीं मानते थे। यह तो संस्कारों का परिणाम है और आवश्यक नहीं कि ये संस्कार बुरे हों। फिर, यह भी तो हो सकता है कि विवाह की भावना अब तक उसके अन्दर जाग्रत ही न हुई हो। परन्तु यदि भावना के सुप्त होने का प्रश्न हो तो, आज नहीं कल, वह जाग्रत होगी ही। इस प्रकार के पत्र उस भावना को जाग्रत करने में सहायक होंगे। और यदि इस प्रकार के पत्र चलते रहे, दोनों का प्रेम इसी रूप में बढ़ता गया, परन्तु परिस्थितियों ने दोनों को मिलने न दिया, तो दोनों का ही जीवन नष्ट हो जायेगा।

कुछ करना अवश्य होगा, परन्तु क्या ? जबरन पत्र रोक दिये जायें ? इसका परिणाम तो उलटा भी हो सकता है। समझाकर रोका जाय ? परन्तु, यदि ये दोनों विवाह करना चाहते हों तब तो क्या यही अच्छा न होगा कि इनमें पत्र-व्यवहार जारी रहे, ये एक-दूसरे को जानते रहें, पारस्परिक प्रेम बढ़ता रहे ? पत्र-व्यवहार रोक देने से भी तो अनर्थ हो सकता है ? दोनों के बीच अस्वाभाविकता और भ्रम फैल सकता है। इसकी प्रतिक्रिया इनकी पढ़ाई में भी बाधक हो सकती है। तो क्या पत्र-व्यवहार चलने दिया जाय ? इससे आश्रम की बदनामी हो सकती है। इसका परिणाम दूसरी बालिकाओं पर भी हो सकता है।

अंत में उन्होंने निश्चय किया कि सेठजी से परामर्श किया जाय। वह

सेठजी से मिलना ही चाहते थे। इस समस्या ने आवश्यकता को बढ़ाकर भेंट के समय को निकटतम खींच दिया।

उधर चंचला के मन में विचार उदित न होते यह असंभव था। उसका अब तक का सारा जीवन अपने अन्तर्द्वन्द्वों को निबटाने में ही व्यतीत हुआ है। आज स्थिति कुछ कोमल हो गई हो, सो भी नहीं। आज उसके मन की उलझन सुलझाये नहीं सुलझती। उसकी मात्रा भी अधिक है और विषमता भी। उसने उसे अविराम चिन्ताशील बना दिया है। सो, उसने भी मनोमंथन किया ही, परन्तु आज उसकी इस प्रवृत्ति में तीक्ष्णता क्यों नहीं थी?

उसने भी आचार्य के साथ की सब बातों को स्मरण किया और उसके मन में आचार्य के दो शब्द गूंजने लगे—"सहायक भाई!" कितनी सहानुभूति मिली उसे इन दो शब्दों में!

उसने दूसरी बातों को याद किया—क्या मेरे मन में विवाह की भावना छिपी हुई है? कभी उसे प्रतीत हुआ—"शायद", कभी उसे लगा—"नहीं तो!" और "नहीं तो" पर ही जोर रहा और अंतिम निर्णय वही रहा।

फिर उसने पत्र के औचित्य-अनौचित्य पर विचार किया। उसमें उसे कोई अनौचित्य दिखलाई नहीं पड़ा। जीवन के सन्निकर्ष की कल्पना करके वह विभोर हो उठी। एक क्षण के लिए वह एक सुन्दर, मंगलमय, आनंदमय, पावन भविष्य का स्वप्न देख गई। कितना आह्लाद! कितनी विभोरता!

एक बार फिर विवाह का प्रश्न उसके सामने आ खड़ा हुआ। नारी और पुरुष, स्पृश्य और अस्पृश्य, बापू और अम्मा, उनके कार्य की पूर्ति—सब एक के बाद एक उसके सामने आये और वह कह उठी—"नहीं, यह नहीं हो सकता।"

उसने जीवन को उत्तर लिखा। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये थीं—

> "तुम्हारे पत्रों से मेरा मन नाचने लगता है और मैं अपने बालसखा की स्मृति में विभोर हो उठती हूँ। कितनी-कितनी बार मैं तुम्हारा एक-एक पत्र पढ़ती हूँ! कितना काव्य और कितनी पवित्रता मुझे उनमें दिखलाई पड़ती है!......"
>
> "तुम्हारा पिछला पत्र हमारे आचार्य ने भी पढ़ा। उसको लेकर तुम्हारे सम्बंध में बहुत-सी बातें हुईं।......"
>
> "मुझे भी ऐसा लगता है कि कहीं हम दोनों एक साथ रहते! परन्तु मैं जानती हूँ कि यह असम्भव है। तुम्हें वहाँ पढ़ना है और मुझे यहाँ ही। पढ़ने के बाद बापू का काम पूरा करना ही मेरा

एकमात्र ध्येय है। उनका काम करने के लिए मैं जीवन-भर स्वतंत्र रहना चाहती हूँ। इसमें शायद कष्ट हों, असुविधाएँ हों, परन्तु मुझे जो संतोष मिलेगा वह अतुलनीय होगा।........"

"एक बात और। तुम्हें अवश्य अच्छी लगेगी। तुम्हारे पत्रों में काव्य होता है किन्तु उसकी रचना व्यक्ति को लक्ष्य करके की जाती है—बहुधा मुझे लेकर। इससे क्या तुम्हारी कवि-प्रतिभा कुंठित और संकुचित न होगी? परमेश्वर की इस असीम और चमत्कारपूर्ण सृष्टि में मनोरम विषयों का अभाव नहीं है। तुम सूक्ष्मदर्शी भी हो, न-कुछ में भी कुछ खोज निकालते हो। फिर अपनी उस प्रतिभा का उपयोग क्यों नहीं करते? अब करोगे? मुझे इससे अधिक सुख मिलेगा।........"

पत्र उसने गृह-व्यवस्थापिका की पत्र-पेटी में डाल दिया। गृह-व्यवस्थापिका ने भेजने के पूर्व उसे पढ़ा और आवश्यक समझकर आचार्य को भी पढ़ा दिया। आचार्य ने उसकी प्रतिलिपि ले ली और उसे जाने दिया।

कुछ दिन बाद आचार्य उमापति सेठजी से मिलने गये और उन्होंने अन्य विषयों के साथ-साथ चंचला की समस्या पर भी उनसे परामर्श किया। सेठजी ने कहा—"चंचला की प्रवृत्तियों को बारीकी से समझने का प्रयत्न कीजिए; जीवन के सम्बंध में भी सच्ची जानकारी प्राप्त कीजिए। आवश्यक हो तो ग्वालियर जाकर उससे मिल भी आइए, परन्तु विवाह की कोई चर्चा न हो। जेल से छूटने पर मैं सब ठीक कर दूँगा।"

१९

अस्पृश्य नहीं

आश्रम लौटने पर आचार्य ने कार्यकर्ताओं की एक सभा की और उसमें सब छात्राओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का निश्चय किया गया। इसके पश्चात् सप्ताह के अंत में कार्यकर्ताओं की जो रिपोर्ट मिली उसके अनुसार निर्मला का नम्बर सब दृष्टियों से पहला रहा। चंचला के विषय में लिखा गया था—"चिन्ताशील, करुणा-प्रिय, अस्थिर, सुकुमार स्वभाव, आत्म-संयम में प्रयत्नशील, सुबुद्धिमती, बहुधा नियमित।"

रिपोर्ट के फलस्वरूप आचार्य ने निर्मला को छात्राओं का एक कला-मण्डल स्थापित करने की प्रेरणा दी। निर्मला ने छात्राओं की सभा करके उन्हें कलामण्डल स्थापित करने के लिए तैयार किया और उसके कार्यों का निश्चय होने लगा। चित्रकारी, नाट्य, संगीत, शिल्प, वादविवाद, साहित्य आदि अनेक विषय सूचित किये गये और जब निश्चय होना असंभव दिखलाई पड़ने लगा तो शिक्षकों की सहायता से कार्यक्रम बनाने के लिए एक छोटी-सी समिति बना दी गई।

आचार्य ने समिति को सहायता देकर ऐसी योजना बनवा दी कि सभी बालिकाओं के लिए अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कलाओं का अभ्यास करने की सुविधा हो गई। सेवा के लिए भी शनिवार का दिन निश्चित कर दिया गया। एक-सी रुचिवाली बालिकाओं की अलग-अलग टोलियाँ बना दी गईं और विद्यालय के समय में शिक्षकों की सहायता की भी व्यवस्था कर दी गई। सेवा के कार्यक्रम में सभी छात्राओं ने सम्मिलित होने का निश्चय किया।

चंचला सेवा की एक टोली की नायिका और साहित्य की टोली की साधारण सदस्या बनी।

इस प्रकार यह मंडल उत्साह और उमंग के साथ चलने लगा। शनिवार को बारी-बारी से दो-दो टोलियाँ ग्राम-सेवा के लिए जातीं और शेष दिनों में

विद्यालय के अन्दर अथवा अन्य उपयुक्त स्थानों में विभिन्न कलाओं का अभ्यास किया जाता। मास में एक बार 'प्रतिभा मंडल' के तत्वविधान में उन कलाओं का प्रदर्शन होता और उस दिन समस्त आश्रम में सौन्दर्य, आनन्द एवं उत्साह का वातावरण फैल जाता।

थोड़े ही दिनों के बाद "बलिदान" नाटक के अभिनय का आयोजन किया गया। इसमें प्रत्येक कला-टोली को अपनी-अपनी कला का परिचय देना था।

चित्र-कला की टोली ने नयनाभिराम पट और संगीत की टोली ने सुमधुर गायन तैयार किये। सेवा की एक टोली ने नाट्यशाला के अन्दर और बाहर सेवा का कार्य ग्रहण किया और इसकी नायिका रही चंचला। साहित्य की टोली ने नाटक लिखा। वादविवाद, व्याख्यान, काव्य, नृत्य एवं शिल्प—सभी के लिए नाटक में गुंजाइश रखी गई। शिल्प की टोली ने उपयुक्त वस्त्र तैयार किये और सबने अलग-अलग अपना-अपना काम किया और सबने मिलकर सबका काम किया।

सब कार्यकर्ताओं, नगर के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों और बाहर से आये हुए कुछ राष्ट्रीय नेताओं को आमंत्रित किया गया। नाटक के आरम्भ से अन्त तक बार-बार तालियाँ पिटीं और आचार्य, शिक्षक-शिक्षिकाओं तथा संचालक-मंडल ने गौरव अनुभव किया। नाटक अपने ढंग का निराला रहा और बालिकाओं को उसकी सफलता का महान श्रेय प्राप्त हुआ।

इस मास के अन्त में बालिकाओं की प्रवृत्ति-रिपोर्ट बहुत उत्साहवर्धक रही। उसमें बताया गया—

निर्मला—लोकसंग्रह का सुन्दर परिचय दिया।

मीनाक्षी—छोटी-छोटी बातों पर रूठना प्रायः लुप्त, सेवा में अग्रगण्य।

कान्ता—विनम्रता का विकास, दूसरे गुणों का परिचय।

वसुधा—काव्य और साहित्य में प्रगति, वाचालता में वैज्ञानिकता का समन्वय।

चंचला—प्रसन्नता में वृद्धि, अस्थिरता में कमी, सेवा में अग्रगण्य, उत्साह का नियमन।

जुबेदा और जया—चित्र कला में प्रगति, खेलों में नियमितता, उत्साह का नियमन।

शेष छात्राओं की सत्प्रवृत्तियों में भी कुछ-न-कुछ प्रगति दिखलाई दी।

उत्साह और अविराम प्रगति के इस वातावरण में चंचला के हृदय के अन्दर विराम कैसे होता? वास्तव में अब उसकी दो स्थितियाँ हो गई थीं—एक

तो वह जिसका उसने शैशव से, कदाचित् जन्म से ही, वरण कर रखा था, अर्थात् हरिजन और नारी होने की समस्या और उसमें जीवन का समावेश; दूसरी, कलामंडल से उत्पन्न उत्साह और उन्नति की स्थिति। दोनों के संघर्ष से या तो वह निखर रही थी, या कुचली जा रही थी।

जीवन को पत्र लिखने के बाद वह हिसाब लगाने लगी थी कि उसका पत्र कब पहुँचेगा। तीसरे दिन उसने सोचा कि आज मिल गया होगा और चौथे दिन सोचा कि कल मिल गया होगा और जीवन ने अब तक उत्तर भी दे दिया होगा। उस दिन से वह लगातार उत्तर पाने की उत्सुक प्रतीक्षा में निरत रही। छठे दिन पत्र आ ही जाना चाहिए था। वह समय से पूर्व ही अपने कमरे में बैठी गृह-व्यवस्थापिका के आने की राह देखने लगी।

भोजन के समय, जब सब बालिकाएँ एकत्रित हो गईं, गृह-व्यवस्थापिका ने एक-एक बालिका का नाम पुकार कर पत्र बाँटने शुरू किये। चंचला ने अत्यन्त उत्सुकता के साथ उनके हाथ के पत्रों की ओर देखा और फिर अपने नाम के पुकारे जाने की प्रतीक्षा करने लगी। प्रत्येक नाम के बाद उसे अपने नाम की आशा होती, और प्रत्येक के बाद वह निराशा सिद्ध हो जाती। 'च' से आरम्भ होने वाले दो-तीन नाम थे। उनमें से प्रत्येक पर वह चौंकी और बाद को लज्जित हुई। पत्र बँट गये। उसके नाम का कोई पत्र न निकला। उसने सिर नीचा किये, तिरछी आँखों से एक बार गृह-व्यवस्थापिका के हाथों की ओर देखा, हाथ खाली थे; परन्तु उसे विश्वास न हुआ। अब उसने लज्जा और संकोच को दूर कर सीधे-सीधे गृह-व्यवस्थापिका की ओर देखा, परन्तु खाली हाथ तो खाली ही थे। तो क्या सचमुच पत्र नहीं आया? नहीं, आया अवश्य होगा। गृह-व्यवस्थापिका ने रख लिया होगा। अपनी सुविधा से देंगी। उन्हें किसी की उत्सुकता का क्या ख्याल!

भोजन के बाद वह अपने कमरे में जाकर लेट गई। लेटे-लेटे उसने किसी के पैरों की आहट सुनी। उसे लगा कि गृह-व्यवस्थापिका आ रही हैं—हाँ, चप्पलों की आवाज़ तो वैसी ही थी! वह प्रसन्न हो उठी। अवश्य पत्र लेकर आ रही हैं। बड़ी अच्छी हैं! सबके सामने पत्र नहीं देना चाहा, अब जल्दी से लेकर आ रही हैं। आखिर उनके भी तो हृदय है ही!

और ज्यों ही पैरों की आवाज़ उसके दरवाजे के पास पहुँची, उसका दिल धड़कने लगा। अधीर होकर उठ बैठी और दरवाजे के पास पहुँच गई। उसने देखा, वह व्यायाम-शिक्षिका हैं। दिल फिर बैठ गया।

इसी प्रकार दिन पर दिन बीतते गये। दिनों के बाद सप्ताहों का क्रम

आरम्भ हुआ। उसका हृदय दुहरी वेदना से पीड़ित रहने लगा। पत्र तो नहीं ही मिला, उधर उसके मन में शंका होने लगी कि जीवन बीमार तो नहीं पड़ गया। परन्तु उसका मन उसे बहुधा धिक्कारने लगता—कैसी अशुभ बात सोचती है! बीमार पड़े जीवन की बला! फिर उसने पत्र क्यों नहीं लिखा? रूठ गया? रूठने योग्य तो मैंने कुछ लिखा नहीं। फिर बात क्या होगी? उसने लिखा होगा, आचार्य ने रख लिया होगा? वह तो ऐसे नहीं हैं, फिर कौन जाने!

आखिर पत्र न आया। धीरे-धीरे चंचला के मन में यह बात जमने लगी कि पत्र आया होगा और एक के बाद कई पत्र आये होंगे, परन्तु उसे दिये नहीं गये। उसका मन इस आशंका से भी रिक्त न रहा कि संभव है उसका पत्र भेजा ही न गया हो।

अनेक बार उसने आचार्य और गृह-व्यवस्थापिका से पूछने का इरादा किया, परन्तु प्रत्यक्ष साहस न कर सकी।

इधर कलामण्डल का काम जोरों से चल रहा था। चंचला को अपने मन पर अंकुश रख कर मण्डल तथा आश्रम का काम तो करना ही पड़ता था, परन्तु उस सब में वह एकाग्रचित्त न हो पाती थी। उसके काम में यदि कोई अच्छाई आ जाती थी तो उसका कारण उसके संस्कार थे, न कि उसके मनोयोगपूर्ण प्रयत्न।

कलामण्डल का प्रत्येक कार्य उसे उसकी इंदौर की पाठशाला का स्मरण कराता था। वह वहाँ बच्चों के साथ यही सब तो करती थी। उसे उन बच्चों की याद आती, फिर हरिजनों की समस्या उसके सामने झूलने लगती और अन्त में वह अपनी उद्विग्नता को बुला लेती। फिर, नारी-पुरुष, धनी-निर्धन, समर्थ-असमर्थ, सभी के प्रश्न उसके सामने आने लगते।

समय के प्रभाव से जीवन-सम्बन्धी व्यग्रता कुछ कम पड़ी, तो इन समस्याओं ने उसे धर दबाया। इन दिनों निर्मला बहुत व्यस्त रहती थी, इसलिए उससे मिलनेवाला समाधान भी उसे उपलब्ध न था। ऐसे ही कुछ उद्विग्नता के क्षणों में वह इतिहास-शिक्षक के घर पहुँच गई और उसने उनके सम्मुख अपने मन की व्यथा प्रकट की।

इतिहास-शिक्षक चतुर और प्रेमी सज्जन थे। आश्रम परिवार में वह 'काका' कहकर पुकारे जाते थे। छात्राओं पर उनका बहुत प्रभाव था। चंचला की बात सुनकर उन्होंने अपने नकली बत्तीसी मुँह में दाखिल करते हुए कहा—"अभी से तुम काजी बन कर शहर के अन्देशे से दुबली क्यों होने लगीं?

तुम्हारी यह आयु तो खेलने-खाने और सीखने की है, अभी से चिन्ताएँ क्यों?"

चंचला ने एक-एक बात आरम्भ की। सबसे बड़ी और सबसे पहली बात सबसे पहले—"मुझे पग-पग पर अस्पृश्यता के काँटे चुभते हैं, काका?"

"परन्तु तुम तो अस्पृश्य नहीं हो?"

"अस्पृश्य न होती तो लोग मुझसे अस्पृश्य-जैसा व्यवहार क्यों करते?"

"क्या आश्रम में अस्पृश्यता का व्यवहार होता है?"

"जी हाँ! आश्रम में भी और बाहर भी। आश्रम में सदैव तो नहीं होता और प्रकाश्यरूप में भी नहीं होता; परन्तु अवसर आने पर लोग तीर छोड़े बिना नहीं रहते।"

"परन्तु तुम अस्पृश्य नहीं हो तो तुम्हें इस सब की परवाह ही नहीं करनी चाहिए।"

"तो क्या मैं सचमुच ही अस्पृश्य नहीं हूँ, काका?"

"नहीं, तुम कदापि अस्पृश्य नहीं हो।"

काका ने समस्या के मूल पर ही कुठाराघात करके उसे समाप्त कर देने का प्रयत्न किया। उन्हें इसमें सफलता भी मिली। "नहीं, तुम कदापि अस्पृश्य नहीं हो"—ये शब्द चंचला के मन में गूँजने लगे। एक क्षण के लिए वह सब-कुछ भूल गई, उसका मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह नरक से स्वर्ग में खींच ली गई है। उसने कहा—"काका, इस समय मुझे और कुछ नहीं कहना, मैं फिर आऊँगी।"

और वह उठकर चली गई। उसके आनन्द का अनुमान करने के लिए अंतरिक्ष में मुक्त उड़ान भरते हुए पक्षी की कल्पना करनी होगी—वह उसका मुक्त कण्ठ से गाना और सारे संसार को, सम्पूर्ण गगनमण्डल को अपना समझना! वह उसकी निर्भयता और वह उसकी लीनता! उसकी प्रफुल्लता का अनुमान करने के लिए खिले हुए कमल की कल्पना करनी होगी—वह उसकी विशदता, वह उसकी कोमलता और वह उसकी पवित्रता!

वह दौड़ती हुई निर्मला के पास पहुँची। एकाएक उसने उसे गले से लगा लिया और पूछा—"निर्मला, मैं अस्पृश्य नहीं हूँ?"

निर्मला सहसा यह प्रश्न सुनकर चकित हो गई। उसे आगे-पीछे की बातों का कुछ पता न था। फिर भी उत्तर तो देना ही था। उसने कुछ आश्चर्य, कुछ आनन्द और कुछ कौतूहल के साथ कहा—"तुम्हारे सिवा कौन तुम्हें अस्पृश्य कहता है?"

उसने क्षण-भर सोचा और फिर बिना उत्तर दिये ही दौड़कर गिरिजा के कमरे में जा पहुँची। वहाँ कई छात्राओं को बैठी देख कान्ता के कमरे में गई, परन्तु कान्ता थी नहीं, इसलिए वसुधा के कमरे की ओर मुड़ गई।

वसुधा कविता लिख रही थी। चंचला को दौड़ती हुई आती देखकर उसने कौतूहलवश अपनी लेखनी रख दी। चंचला ने एकदम उसे अपने बाहुपाश में भर लिया और फूली हुई साँस तथा धड़कते हुए हृदय के साथ कहा—"वसुधा!"

वसुधा ने आनन्द का संवेदन ग्रहण करके अपने स्वाभाविक विनोद के साथ कहा—"कहो, उज्जैन की रानी, आज क्या विशेष शुभ समाचार है?"

चंचला सहसा कुछ बोल न सकी, अतः वसुधा ने सहायता की—"क्या कोई पत्र आ गया है?"

चंचला ने या तो इस पर ध्यान ही नहीं दिया या विषय को इस प्रकार बदल देना उसके लिए संभव न हुआ। उसने वैसी ही उत्फुल्लता और भावुकता के साथ कहा—"वसुधा बहन! क्या मैं अस्पृश्य नहीं हूँ?"

"अस्पृश्य!" वसुधा ने प्रतिकूल भाव प्रकट करते हुए कहा—"कोई मनुष्य भी अस्पृश्य होता है?"

"तो सचमुच मैं अस्पृश्य नहीं हूँ?"

"चंचला रानी अस्पृश्य कदापि नहीं हैं"—वसुधा ने विश्वासोत्पादक स्वर में कहा।

चंचला ने उसे फिर से अपने बाहुपाश में दबाया और इतनी जोर से कि वह कह उठी—"अरी! छोड़ भी, कुछ बात भी तो कर! कि हड्डी-पसली आज ही एक कर देगी?" उसने और कहा—"सुन, बैठ! मैं तुझे एक कविता सुनाती हूँ।" और चंचला के नहीं-नहीं कहते रहने पर भी वह हाव-भाव के साथ कुछ अपनी नोटबुक से पढ़कर और कुछ अपने मन से जोड़कर गाने लगी—

"सखी री! मधुर हास-परिहास!
"हमारे जीवन में उल्लास!
"हँसें हँसायें हर्ष मनायें,
"सुललित वेला खेल रचायें,
"दुःख की स्मृतियाँ भूल-भुलायें,
"आया है, मधुमास! सखी री०"

चंचला अपनी कल्पनाओं में मग्न थी। उसका आनन्द कंठ में आकर फूट पड़ना चाहता था। वसुधा की कविता उसे बाहर निकालने में सहायक

हुई। परन्तु वह कहती क्या ? आनन्द से उसका कंठ तो अवरुद्ध हो गया था। वह हँस-हँसकर लोटने लगी। वसुधा ने अपनी कविता का दूसरा पद गाना आरम्भ किया—

"छूत-अछूत एक हो जायें,
"बीते को सब दूर भगायें,
"शिव सुन्दर से प्रीति लगायें,
"रचें सत्य का रास ! सखी री०"

गाते-गाते ही वसुधा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"चलो, झूला झूलें। आज ऐसी पैंग बढ़ाऊँगी कि तुम आश्चर्य में पड़ जाओगी।"

और दोनों बाहर निकल गईं। उस दिन चंचला ने क्या-क्या नहीं किया। जो उसे देखता, आश्चर्य में पड़ जाता। यह अद्भुत परिवर्तन कैसे !

झूला बढ़ा। एक ओर वसुधा और दूसरी ओर चंचला खड़ी होकर पैंग भरने लगीं। बीच में मीनाक्षी और कान्ता बैठी हुई गीत गा रही थीं।

झूला प्रायः हद तक बढ़ चुका था। वसुधा ने चंचला को प्रोत्साहित करते हुए कहा—"और जोर से पैंग भरो।" और चंचला ने पहले से अधिक जोर लगाकर वसुधा से कहा—"और बढ़ाओ !"

वसुधा की साँस फूल गई थी। वह थकी-सी मालूम होती थी। परन्तु उसने अपनी सारी शक्ति का प्रयोग किया।

झूला हर बार थोड़ा-बहुत बढ़ता ही गया। झूलनेवाली बालिकाओं का असाधारण उत्साह देखकर वहाँ बहुत-सी बालिकाएँ एकत्रित हो गईं। सभी के मन में कौतूहल था और सभी देखना चाहती थीं कि आज झूला कितना ऊँचा जाता है। दूर खड़ी हुई गृह-व्यवस्थापिका और सुषमादेवी भी आपस में कौतूहल के भाव व्यक्त कर रही थीं।

चंचला का दम भी फूलने लगा, परन्तु उसने और पैंग मारी। पास खड़ी हुई बालिकाओं ने प्रोत्साहित करते हुए कहा—"वसुधा बहन ! हारना नहीं। एक बार और जोर से।"

वसुधा ने और जोर लगा कर पैंग को वापस किया और बालिकाओं ने तालियाँ पीटीं। दूसरी बालिकाएँ बोल उठीं—"और जोर से, चंचला बहन।" और चंचला ने फिर अपनी तकत लगाई।

दोनों थक गई थीं, दोनों पसीने-पसीने हो गई थीं, दोनों का दम फूल गया था, फिर भी दोनों ही दुर्दम उत्साह के साथ पैंगें भर रही थीं। अब झूले का बढ़ना बन्द हो गया तो उसे यथावत् कायम रखने का प्रयत्न आरम्भ हुआ।

और कान्ता तथा मीनाक्षी का संगीत भी झूले के बराबर ही ऊँचा उठता गया।

झूला तनिक नीचा हुआ तो कान्ता ने दोनों को प्रोत्साहित करते हुए कहा—"देखो, हारना नहीं, बढ़ती चलो, पाँच मिनट और।" मीनाक्षी ने भी उसके स्वर में स्वर मिलाया।

एक बार फिर झूला बढ़ा और वातावरण आसपास खड़ी हुई बालिकाओं की हर्ष-ध्वनि तथा करतल-ध्वनि से गूँज उठा।

मीनाक्षी और कान्ता ने भी अपने गीत को ऊपर उठाने में कोई कसर बाकी न रखी।

दूर खड़ी हुई गृह-व्यवस्थापिका ने जोर से पुकारकर कहा—"अब मत बढ़ाओ, बहुत हो गया।" परन्तु उनकी आवाज छात्राओं की आवाज में डूब गई। इधर झूला पूरा बढ़कर फिर रुक गया और उसे कायम रखने का जी-जान से प्रयत्न होने लगा। कान्ता और मीनाक्षी अपने गीतों का बल उन्हें प्रदान करती रहीं।

दोनों का दम अधिक-से-अधिक फूल चुका था। फिर भी अब तक झूला बंद नहीं हुआ। दोनों एक-दूसरी से स्पर्धा करके पैंग को कायम रखने का प्रयत्न कर रही थीं।

सहसा एक बालिका ने भयभीत होकर और चिल्लाकर कहा—रोको! रोको! झूला टूट रहा है! सबने देखा और सब चिल्ला उठीं—रोको! रोको!

परन्तु रोकने के पहले ही झूले की बल्ली टूट गई और चारों छात्राएँ भूमि पर गिरकर लोट-पोट हो गईं।

आनन्द का वातावरण अकस्मात् बैठ गया और कोलाहल, करुणा, आशंका तथा आतंक ने उसका स्थान ले लिया। मीनाक्षी तथा कान्ता को बहुत चोट आई, परन्तु वसुधा और चंचला बहुत देर तक बेहोश रहीं।

डाक्टर ने कहा, वसुधा और चंचला के दिमाग को गहरी चोट पहुँची है। बहुत समय और सावधानी की आवश्यकता होगी।

विष-बीज

उत्कट प्रतीक्षा के बाद जीवन को चंचला का पत्र मिला। उसने बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं और पत्र को पढ़ते-पढ़ते कभी उसका हृदय उछल पड़ता, कभी बैठ जाता। सारे पत्र को पढ़ जाने के बाद उसके मन पर उदासी छा गई।

वह कई दिनों तक उत्तर देने के बारे में विचार करता रहा। अन्त में यही निश्चय करना पड़ा कि जब उसके पत्र सीधे चंचला के हाथों में नहीं पहुँचते, तब लिखना उचित नहीं है। इसीलिए उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

परन्तु उसका मन शान्त न हुआ। कालेज की पढ़ाई की उपेक्षा होने लगी और उसका एकान्तवास बढ़ने लगा। बहुधा वह अटपटे समय में अपने कमरे से निकल पड़ता और बाग-तड़ाग के चक्कर काटता रहता। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति उसके मन की अशान्ति और किसी को खोजने की व्यग्रता की परिचायक थी। यह सब बातें विनायक से छिपी न रह सकीं।

उधर लीला, यमुना तथा सरस्वती के बीच बराबर इस विषय में मतभेद रहा। सरस्वती जीवन की कविताओं और उसके उस पत्र की दुहाई देकर दृढता के साथ कहती थी कि वह चंचला के प्रेम में फँस गया है और उसे पाये बिना उसका जीवन दूभर हो रहा है। यमुना का मत था कि यदि ऐसा होता तो जीवन विनायक से अवश्य कह देता और लीला विनायक से सब बातें निकाल लेती। लीला इस पर चिढ़कर कहती, मुझे दूसरे के मामलों में हाथ डालने से क्या मतलब ?

ये तीनों ही सखियाँ जीवन के साथ सहानुभूति रखतीं तथा उसे सहायता करना चाहती थीं। परन्तु स्त्रियों और पुरुषों के बीच समाज ने जो भयानक आकर्षणमय रेखा खींच दी है वह यद्यपि उन्हें कामनाएँ करने से रोक न सकती, तथापि वे कोई बड़ी सहायता न कर पाती थीं।

फिर भी जाने-अनजाने जीवन के साथ उनका सम्बन्ध लगातार बढ़ता गया। कभी उनमें से कोई उसके कमरे में जाकर पुस्तकें ले आती, कभी कोई कुछ सलाह करने के लिए पहुँच जाती और कभी कोई विनायक के साथ वहाँ हो आती। और जब वे वहाँ पहुँचतीं तो आश्चर्य नहीं कि शीघ्र वापस न हो सकतीं।

जीवन भी लीला के घर, या यों कहिये कि विनायक के घर, पहले से अधिक आने-जाने लगा था। वहाँ उसे ये तीनों सहेलियाँ मिल जाया करती थीं। परन्तु वहाँ भी उसके व्यवहार में एक नई विलक्षणता दिखलाई पड़ती थी। जितने अधिक लोग उपस्थित होते उतना वह कम बोलता, जितने कम होते उतना ही वह अधिक बोलता। यदि कोई एक ही व्यक्ति होता—या होती—तो वह इतनी बातें करता कि दूसरे व्यक्ति को कुछ कहने का अवसर ही न मिलता। उस समय उसकी समस्त काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हो जाती।

वह व्याकुल तो रहता ही था, कुछ दुबला भी हो गया। लोगों का विश्वास होता है कि जिन रहस्यों को वे यत्न से छिपाकर रखते हैं उन्हें कोई जान नहीं पाता। कितना भोलापन, कितनी भ्रान्ति! उन्हें पता ही नहीं कि जिसे वे छिपाते हैं वह सहस्र रूप धारण करके, चिल्ला-चिल्लाकर अपना भेद प्रकट करता रहता है। संसार का कौनसा रहस्य छिपा रह गया है?

जीवन के सहपाठियों और कालेज के अन्य छात्रों ने उसकी स्थिति पर चर्चाएँ शुरू कर दीं। किसी का कुछ भी विश्वास हो, और विश्वास हो या न हो, जीवन को देखते ही बहुत से विद्यार्थी हँस पड़ा करते थे, कभी-कभी कुछ फबतियाँ कस दिया करते थे और जब वह दूर होता तो आपस में उसकी बातें करके परिहास किया करते थे। और बहुत-कुछ होता था, और बहुत-कुछ नहीं होता था। तीनों छात्राओं के साथ भी उनका कुछ ऐसा ही व्यवहार हो गया। विनायक के तो नाकों दम आ जाता था।

इन सबका एक सहपाठी था—करुणाशंकर—अपने नाम के बिलकुल विपरीत! बड़े बाप का बेटा था, खूब छैल-छबीला और उतना ही चतुर-चालाक। जैसे औद्धत्य का परिचय वह दे सकता, वैसा दूसरे में क्या होगा! कालेज के कुछ विद्यार्थी उसके पीछे-पीछे फिरते थे, क्योंकि वह उनकी दावतें कर सकता था, उन्हें सिनेमा दिखा सकता था और विरोधियों की खिल्लियाँ उड़ाकर उन्हें हराने और परेशान करने में समर्थ था। उसकी एक अलग टोली थी।

जीवन, विनायक और लीला आदि को करुणशंकर की टोली का उप-

हास निरन्तर सहना पड़ता था। फलतः ये सब उनसे कटे-कटे रहते थे। परन्तु आततायी तो घर में घुसकर भी वार कर सकता है। अतएव बहुधा ऐसे अवसर आ जाया करते थे, जबकि दोनों टोलियों के बीच कहा-सुनी हो जाती थी।

करुणाशंकर और उसके साथी लीला आदि के साथ 'हरिजन' जीवन का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी भांति भी सहन न कर सकते थे। वे जीवन को खुल्लमखुल्ला 'अछूत' कहकर पुकारते और घृणा के साथ उसका अपमान करते। लीला आदि तीनों सखियों का वे 'देवदासी' कहकर अपमान करने लगे। विनायक को 'पंडा' की उपाधि दी गई।

इतने पर भी जब जीवन आदि ने उनसे हार न मानी और अपनी टोली में विच्छेद न होने दिया तो उन्होंने एक महा नीचतापूर्ण कृत्य की आयोजना की। निश्चय किया गया कि अमुक दिन, अमुक स्थान पर करुणाशंकर अपनी मोटर लेकर खड़ा रहे और टोली के शेष सदस्य वहाँ छिपे रहें। उस समय प्रतिद्वन्द्वियों में से जो कोई भी अकेला वहाँ मिल जाये उसे बलात् मोटर पर बैठाकर शहर से तेरह मील दूर एक तालाब के पास छोड़ आया जाय।

इस योजना के अनुसार सारी तैयारी कर ली गई; परन्तु संयोगवश उस दिन जीवन, विनायक, लीला आदि सभी एक साथ वहाँ से निकले। करुणाशंकर ने अपनी योजना को विफल होते देख शीघ्रतापूर्वक अपने साथियों से सलाह की और झगड़ा करके अपनी दुरभिसंधि को पूर्ण करने का निश्चय किया। वह अवस्था ही ऐसी होती है जब मनुष्य अपनी इच्छा को सर्वोपरि मानता है, अच्छे-बुरे परिणाम का उसे कोई विचार नहीं होता।

उसके साथियों ने बरबस झगड़ा किया, फिर भी उनकी इच्छा पूरी न हुई। जीवन और विनायक साथ की बालिकाओं की रक्षा के लिए मरने-मारने पर तुल गये। इससे आततायियों का साहस भंग हो गया और वे एक-एक करके खिसक गये। रहा केवल करुणाशंकर और उसका एक साथी। सो, उन्होंने भी अधिक आगे बढ़ने का साहस न किया। इस प्रकार दोनों सेनाओं के सैनिक और सेनापति अपने-अपने घर लौट गये।

जीवन और विनायक ने आज की घटना को आगे आनेवाले भयंकर संघर्ष की सूचना माना और दोनों ने दृढ़ साहस से उसका सामना करने का संकल्प किया।

इधर करुणाशंकर अपनी पराजय और साथियों की कायरता के कारण घायल साँप की तरह फनफना रहा था। उसे हार खाने का अभ्यास नहीं था। उसने सदैव दूसरों को दबाकर अपना सिर ऊँचा रखा था। आज की घटना ने

उसे पागल बना दिया और उसने, जिस तरह भी हो, बदला लेने का निश्चय किया। उस दिन से वह बराबर अपनी घात में घूमने लगा।

झगड़े का समाचार दूसरे ही दिन सारे कालेज और नगर में फैल गया। करुणाशंकर और उसके साथियों ने बड़ी तत्परता के साथ वास्तविक बात को विकृत करके और उसमें मनमाना नमक-मिर्च लगाकर फैलाया। जीवन आदि की ओर से कोई प्रतिवाद नहीं किया गया, अतएव उसका सच्चा स्वरूप लोगों के सामने आ ही न सका। विश्वास करनेवालों ने विश्वास कर लिया, किन्तु छान-छानकर ग्रहण करनेवाले लोगों ने अपना निर्णय स्थगित रखा।

लीला के पिता ने शहर में अनेक प्रकार की बातें सुनीं और वह क्षुब्ध हुए। घर आकर उन्होंने विनायक से पूछा—"ये क्या बातें फैली हैं?"

इसका उत्तर लीला ने दिया—"लोगों के मन में जो आता है, कहते हैं। किसी के मुँह को कौन बन्द कर सकता है?"

"तो क्या यह सब झूठ है?"

"बिलकुल झूठ है।"

"तो सच क्या है?"

"करुणाशंकर ने अपने मित्रों को लेकर बुरी नीयत से हम लोगों पर हमला किया था।"

"फिर?"

"जीवन और विनायक ने हमारी रक्षा की। ये दोनों नहीं होते तो पता नहीं वह हमें कैसे संकट में डालता"—लीला के होंठ क्रोध से फड़कने लगे। उसने जरा रुककर कहा—"वह और उसके साथी गुंडे हैं।"

"तो जीवन चरित्रवान लड़का है?"

"मैंने उसके समान चरित्रवान लड़के देखे ही नहीं।"

पिता ने क्षण-भर सोचा। उनकी आँखों में एक प्रकार का तेज झलक पड़ा। चेहरा निश्चय से गम्भीर हो गया। बोले—"यदि तुम सत्य पर हो तो डटी रहो। निर्भय होकर दुष्टों का सामना करो। इसमें जान भी देनी पड़े तो शुभ ही होगा।"

उन्होंने कालेज के आचार्य को एक पत्र लिख दिया। कुछ दिनों तक शहर में खासी चख-चख रही। समाचार पत्रों में भी वाद छिड़ा। मनचले लोगों ने खूब रस लिया।

इसी बीच शहर के एक प्रतिष्ठित कार्यकर्ता मंगलमूर्ति के पास आचार्य उमापति का एक पत्र आया। सेठ गंगाप्रसाद के आज्ञानुसार उन्होंने

मंगलमूर्ति से जीवन के बारे में विश्वसनीय जानकारी माँगी थी।

मंगलमूर्ति व्यक्तिगत रूप से जीवन से परिचित नहीं थे, परन्तु इन दिनों समाचार-पत्रों के द्वारा उसके बारे में बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त कर चुके थे। जो कमी थी उसे पूरा करने में देरी न लगी। उनका एक निकट सम्बन्धी जीवन का सहपाठी था और उस दिन की घटना के समय करुणाशंकर की टोली में सबसे पहले और सबसे तेज भागनेवाला बहादुर वही था। उसने मंगलमूर्ति को अपना मत दिया :

"जीवन और विनायक से उन लड़कियों की रक्षा करनेवालों में मैं भी था। ये दोनों ही नहीं, विनायक की बहन भी उस षड्यंत्र में सम्मिलित थी। नीचता की कोई सीमा ही नहीं। जीवन तो महीनों से यमुना को बरबाद करने की घात में है, विनायक की निगाह सरस्वती पर है। लीला सबको अपने आसपास इकट्ठा रखकर अपना उल्लू सीधा करती रहती है।........."

मंगलमूर्ति ने सहसा इन बातों पर विश्वास नहीं किया, परन्तु इतनी बात उनके मन में जम गई कि जीवन किसी-न-किसी रूप में लड़कियों के चक्कर में अवश्य है। वह बहुधंधी आदमी थे। अधिक जाँच-पड़ताल करने का उन्हें अवकाश नहीं था। अतएव उन्होंने आचार्य उमापति को लिख दिया—

"........यहाँ अभी-अभी एक गंभीर घटना घट चुकी है। सारे नगर में और पत्रों में उसकी चर्चा है। उस घटना का नायक जीवन ही बताया जाता है। सारी बातों को जानकर और छानबीन करके मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि भले ही जीवन अपराधी न हो, परन्तु वह कुछ लड़कियों के चक्कर में बुरी तरह से फँस गया है। शायद इस वर्ष परीक्षा में उत्तीर्ण भी न हो सके।"

लीला के पिता यद्यपि बिगड़े हुए रईस थे, तथापि उच्च शिक्षित थे और उच्च शिक्षित लोगों में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनका बल पाने पर जीवन, विनायक और तीनों लड़कियों का साहस बढ़ गया। सरस्वती और यमुना के पिता ने सारा हाल सुना तो वे दोनों भी आग-बबूला हो गये। सरस्वती के पिता ने तो यहाँ तक कहा कि तू उन दुष्टों में से किसी को मारकर नहीं आई इससे मैं लज्जित हूँ। मराठे इस प्रकार की कायरता नहीं दिखलाते।

दोनों ने लीला के पिता से परामर्श करके कालेज के आचार्य को एक एक पत्र लिख दिया।

आचार्य ने घटना की जाँच की और करुणाशंकर तथा उसके साथियों को दण्ड देकर चेतावनी दी कि यदि भविष्य में ऐसी कोई शिकायत आई तो उन्हें कालेज से निकाल दिया जायेगा। उधर जीवन आदि भी, हजार सफाई देने

के बावजूद, चेतावनी पाने से बच न सके। वे अपनी निर्दोषिता का पर्याप्त प्रमाण देने में असमर्थ रहे।

जीवन के मन पर इस घटना का बोझ था ही, परिणाम का भार और लद गया। इसी तरह समय बीतता गया और परीक्षा में वह सचमुच ही उत्तीर्ण न हो सका।

२१

हृदय-मंथन

चंचला को स्वस्थ होने में एक महीने से अधिक समय लग गया। उठ बैठने के बाद भी महीनों तक उसके मस्तिष्क में कमजोरी बनी रही। शेष तीनों छात्राएँ उससे पहले उठ बैठी थीं और उनकी कमजोरी भी जल्दी चली गई।

इस बीच सेठ गंगाप्रसाद जेल से छूट आये। बाहर आने पर उन्होंने सबसे पहले जो काम किये उनमें चंचला की समस्या को हल करने का प्रयत्न भी सम्मिलित था। आचार्य उमापति ने उन्हें मंगलमूर्ति का पत्र दिखलाकर सारी स्थिति से परिचित करा दिया था।

उधर, चंचला की बीमारी के दिनों में, उसके नाम जीवन का एक पत्र आया था। आचार्य ने वह पत्र चंचला को देकर उसकी शान्ति भंग करना उचित न समझा और इस प्रयत्न में कि जीवन-जैसे 'संदेहास्पद' चरित्र के युवक से उसका सम्बन्ध न बढ़े, स्वयं ही उसे लिख दिया था कि आश्रम के नियमानुसार, अभिभावक की अनुमति के बिना उसके पत्र चंचला को नहीं दिये जा सकते। चंचला को, स्पष्ट कारणों से, इस विषय की कोई सूचना नहीं दी गई; परन्तु गृह-व्यवस्थापिका को उसकी मनोदशा पर विशेष ध्यान रखने के लिए प्रेरित कर दिया गया।

परीक्षा में चंचला उत्तीर्ण हो गई। उसके बाद एक दिन सेठ गंगाप्रसाद ने उसे अपने पास बुलाकर पूछा—"तुम प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकीं, आगे क्या इरादा है ?"

"जैसा आप कहें"—उत्तर मिला।

"अध्यापन की शिक्षा लेना पसन्द है ?"

"जी, हाँ। अध्यापन-कार्य मुझे पसंद भी है।"

"तो ठीक है, उस विभाग में भरती हो जाओ। और, यह तो बताओ,

तुम्हारे विवाह की चिन्ता भी तो अब मुझे करनी होगी ?"

चंचला ने कोई उत्तर न दिया।

बात को आगे बढ़ाने के विचार से सेठजी इस प्रकार बोले मानो उन्होंने उसके मौन को सम्मति मान लिया हो—

"जीवन कैसा लड़का है ?"

चंचला चौंक पड़ी। उसका चेहरा लज्जा से आरक्त हो उठा। जी में आया कि वहाँ से भाग जाये, परन्तु पैर मानो भूमि में गड़ गये थे, शरीर पर मानो मनों बोझ पड़ गया था। वह भाग तो न सकी, परन्तु उत्तर भी उसके मुँह से न निकला। चुपचाप सिर झुकाये बैठी रही। सेठजी ने फिर उसी भाँति कहा—

"मुझे तो बुरा नहीं मालूम होता। तुम उसे अच्छी तरह जानती हो ?"

साधारण स्थिति में यदि कोई उससे जीवन के सम्बन्ध में चर्चा करता तो वह उसकी प्रशंसा के पुल बाँध देती, किन्तु विवाह की बात उसके साथ जुड़ जाने से उसके होंठ बन्द हो गये। बड़ी कठिनाई से उसने दबे हुए स्वर में कहा—

"बहुत अच्छे हैं..........." और कहते-कहते बीच में ही रुककर वह बहुत अधिक लजा गई। यह आदरास्पद संबोधन कैसा ! ये अटपटे शब्द क्यों ?.......परन्तु फिर बोली—

"परन्तु विवाह का प्रश्न तो.......।" आगे बोलना सम्भव न हुआ। सेठजी के बहुत प्रयत्न करने पर, खूब माथापच्ची करने पर, कोई दस-पन्द्रह मिनट बाद उसने अपनी सदा की बात एक बार फिर दुहरा दी—"मैं विवाह नहीं करना चाहती।"

सेठजी को उसकी इस बात पर विश्वास न हुआ। उसकी मनोदशा कुछ दूसरा ही संकेत करती हुई दिखलाई पड़ी। उन्हें प्रतीत हुआ कि उसके हृदय में विवाह की इच्छा जोरों का तूफान उत्पन्न कर रही है। उसका सेवा का आदर्श इस तूफान को आच्छादित किये मात्र मालूम हुआ।

उन्होंने पूछा—"क्यों ? विवाह तो कोई बुरी चीज़ नहीं है ?"

"मैं आजीवन सेवा करना चाहती हूँ।"

"क्या विवाह के बाद सेवा नहीं हो सकती ? हम सभी लोग विवाहित हैं और सेवा भी करते ही हैं ?"

"तो जैसा आप कहें !"

"नहीं, नहीं; तुम स्वयं निश्चय करो। मैं तुम्हें हर बात में मदद करूँगा।"

"मैं क्या समझूँ? फिर भी विचार करूँगी।"

"हाँ, अवश्य करो। और देखो, जीवन के सम्बन्ध में एक पत्र आया है। उसे ले जाकर पढ़ लो। पत्र कुछ शंकाजनक है; परन्तु यों ही किसी बात पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। तुम चाहो तो एक बार ग्वालियर जाकर सब बातें स्वयं देख-सुन आओ, चाहो तो उमापतिजी को भेज दूँ। सब बातें सच-सच मालूम हो जाने पर ही किसी व्यक्ति के बारे में अपनी धारणा निश्चित करनी चाहिए........"

यह पहेली-जैसी बात चंचला कुछ आश्चर्य के साथ सुनती रही। बाद में पत्र लेकर और कुछ दिनों में उत्तर देने का वचन देकर आश्रम को लौट पड़ी।

कौतूहल और उत्सुकतावश मार्ग में ही उसने पत्र पढ़ना आरम्भ कर दिया। जब वह पत्र के उस अंश पर पहुँची, जिसमें जीवन के चरित्र के बारे में चर्चा थी तो उसका दम सहसा फूल उठा। पढ़ते-पढ़ते शरीर काँपने लगा और पसीना छूट आया। चलना उसके लिए दूभर हो गया। वह बैठ कर पत्र समाप्त कर लेना चाहती थी और कदाचित् रो लेना चाहती थी, परन्तु किसी अज्ञात प्रेरणा से उसके पैर बढ़ते गये और वह आश्रम पहुँच गई।

पत्र ने उसके हृदय में घोर उथल-पुथल मचा दी। क्या यह सब ठीक हो सकता है? क्या सचमुच ही जीवन लड़कियों के चक्कर में पड़कर पतित हो गया है? क्या मुझे लिखे हुए उसके सारे पत्र झूठे थे? हाँ, अवश्य झूठे थे। तभी तो उसने मुझे लिखना बन्द कर दिया। लड़कियों के चक्कर में पड़ने पर उसे मेरा स्मरण करने का अवकाश ही कहाँ? दुनिया कितनी कपटी है!

हो, मुझे इस सबसे से क्या प्रयोजन! वह मेरा कौन है? केवल बाल-सखा। ऐसे बाल-सखा तो सबके होते हैं। सब उनके लिए कहाँ व्याकुल रहते हैं?

उसके विचारों ने पलटा खाया—परन्तु क्या यह सब झूठ नहीं हो सकता? पत्र लिखनेवाले महाशय गलती नहीं कर सकते? संसार में न जाने कितने निरपराधों को फाँसी हो जाती है, कितने ही आजीवन कारावास भोगते रहते हैं, और कौन जान पाता है कि वे निरपराध हैं? जीवन पर भी क्या यह दोषारोपण ऐसा ही नहीं हो सकता? मेरे साथ बातें करने में, व्यवहार करने में उसने कभी चरित्रहीनता का परिचय नहीं दिया। सभी लोग उसकी प्रशंसा करते रहे हैं। और काकाजी ने भी तो कहा था कि सब बातें सच-सच मालूम

हो जाने पर ही किसी व्यक्ति के बारे में अपनी धारणा निश्चित करनी चाहिए। अवश्य वह भी इस पत्र पर विश्वास नहीं करते। फिर क्या मुझे ग्वालियर जाना चाहिए? उससे मिलकर सब बातें सच-सच जाननी चाहिएँ।

परन्तु मैं इतनी उद्विग्न क्यों हूँ? यदि उसका चरित्र सचमुच ही गिर गया हो तो मुझे दूसरे लोगों से अधिक चिन्ता क्यों होनी चाहिए? विवाह? क्या मैं करूँगी? फिर बापू का काम कौन पूरा करेगा? काकाजी कहते थे कि हम सभी लोग विवाहित हैं, फिर भी सेवा करते ही हैं। हाँ, वह पुरुष हैं, वह कर सकते हैं। स्त्रियाँ कितनी ऐसी हैं? उन्हें तो घर-गृहस्थी, बाल-बच्चों से ही अवकाश नहीं मिलता, सेवा क्या करेंगी?

और मैं हरिजन भी तो......नहीं नहीं, हरिजन नहीं........परन्तु यह हो कैसे सकता है? क्या वस्तुस्थिति से आँखें मूँदी जा सकती हैं? 'क्या काका' के कहने से ही, स्वयं मान लेने से ही, मैं हरिजन नहीं रही, अस्पृश्य नहीं रही? यह सब भ्रान्ति है। उज्जैन और इन्दौर के लोगों से पूछो कि मैं कौन हूँ। कैसी कपट-दया दिखलाकर, मुहर्रमी सूरत बनाकर वे कहेंगे—बेचारी हरिजन ही तो है! मैं हरिजनों की, अस्पृश्यों की, वृद्धि करने के लिए विवाह करूँ? नहीं यह नहीं हो सकता! मेरा विवाह नहीं होगा।

फिर जीवन से मिलने क्यों जाऊँ? उसके चरित्र के सम्बन्ध में कुछ रहस्य तो है ही। उसने मुझे सब कुछ लिखा क्यों नहीं? उससे मिलने नहीं जाऊँगी। उससे कभी न मिलूँगी। उसे कभी पत्र न लिखूँगी।

सेठजी से मिलकर आमने-सामने बातें करने का साहस उसे न हुआ। उसने उन्हें एक पत्र लिखकर सूचित कर दिया कि मैं विवाह नहीं करना चाहती। जीवन से भी भविष्य में मेरा कोई सम्बन्ध न रहेगा। और उसने मान लिया कि मैं निश्चिन्त हो गई।

सेठजी ने पत्र पढ़ा तो हँस पड़े। उन्होंने तुरन्त अपने सक्रेटरी को बुलाकर कुछ पत्र लिखवाये। एक पत्र गुरुकुल के भूतपूर्व आचार्य स्वामी अभयानन्द के लिए था। उसमें चंचला के लिए उपयुक्त वर खोजने में उनकी सहायता माँगी गई थी। एक दूसरा पत्र श्रीकृष्णभाई को लिखा गया था और उन से जीवन के बारे में सच्ची जानकारी देने का अनुरोध था।

इस बीच आश्रम में गर्मी की छुट्टियाँ प्रारम्भ हो चुकी थीं और प्रायः सभी छात्राएँ अपने घर चली गई थीं। चंचला, निर्मला तथा कुछ अन्य छात्राएँ वहीं थीं। निर्मला ने अनेकशः प्रयत्न किये कि चंचला उसके साथ इन्दौर चले, वसुधा ने उसे बिहार ले जाना चाहा और अनेक सखियों ने उसे अपने-

अपने घर का आमंत्रण दिया, परन्तु वह कहीं न गई। निर्मला ने देखा कि वह जाना नहीं चाहती तो उसने अपनी जाने की इच्छा भी दबा ली।

परन्तु थोड़े ही दिनों में एक संयोग आ घटा। आगरे में सिलावटों की एक अखिल भारतीय सभा होने वाली थी। तीन दिन शेष रह गये थे, उसे अनपेक्षित रूप से सभा के संयोजकों का तार मिला। उन्होंने उसे अत्यन्त आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया था। निर्मला ने उसे जाने के लिए प्रोत्साहित किया और बहुत तर्क-वितर्क एवं संकोच-विकोच के पश्चात् दोनों का ही जाना निश्चित हो गया।

२२
सात करोड़ में एक

आगरे में सभा के लिए एक विशाल मंडप तैयार किया गया था। देशभर से सिलावटों के कोई दो-तीन सौ प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे। आसपास के तो प्रायः सभी सिलावट उपस्थित थे। विविध प्रकार की वेशभूषा, विविध प्रकार की बोलियाँ, विविध उम्रें। स्त्रियाँ भी थीं और पुरुष भी थे। जब वे एक-दूसरे से मिलते तो आदर, प्रेम और उत्साह मानो टपका पड़ता।

बहुत प्रयत्न करने पर भी चंचला पहले दिन के अधिवेशन में न पहुँच सकी। सभा के संयोजक तथा स्वयंसेवक गाड़ियों पर उसे खोज-खोजकर लौट गये। दूसरे दिन का कार्यक्रम शुरू हुआ। अनेक जोरदार भाषण दिये गये। जीवन ने भी एक प्रभावोत्पादक भाषण दिया। उसने कहा—

"........हम अस्पृश्य नहीं हैं, कदापि नहीं हैं। हम यदुवंशी क्षत्रिय हैं। इस ऐतिहासिक नगर के आसपास रहने वाले हमारे भाई इस सत्य के जीवित-जाग्रत प्रमाण हैं। हमारा मूल-निवास यही प्रान्त है। शताब्दियों पूर्व हमारे कुछ पूर्वज यहाँ से निकलकर अनेकानेक स्थानों में फैल गये थे। कुछ लोग मध्यभारत में भी जा बसे थे। चालीस-पचास वर्ष पहले तक वहाँ हमारे समाज के लोग क्षत्रिय ही माने जाते थे। इन्हीं इतने ही वर्षों में हमें अछूत बना दिया गया। शासकों और समाज का इससे बड़ा अत्याचार और क्या हो सकता है कि वे एक सम्पूर्ण जाति को बिना किसी अपराध के अछूत बना दें? हमें अपने मानवीय अधिकारों के लिए लड़ना होगा। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक हमारी यह दुर्दशा न मिटेगी, हम चैन न लेंगे। जब तक हमारी यह दुर्दशा करनेवाले लोग अपने किये का प्रायश्चित्त न करेंगे तब तक हम उनसे बराबर लड़ते रहेंगे........"

जोर की करतल-ध्वनि के बीच जीवन ने अपना भाषण समाप्त किया।

उधर स्त्रियों के समाज में कुछ चहल-पहल शुरू हो गई। सब लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया। एक हृष्टपुष्ट और साहसी बालिका ने खड़े होकर अध्यक्ष से कुछ बोलने की अनुमति माँगी और फिर वह मंच पर आकर खड़ी हो गई।

कदाचित् उपस्थित समुदाय यह अपेक्षा नहीं करता था कि हमारी जाति में भी ऐसी युवतियाँ मौजूद हैं, जो न केवल अपने स्वतन्त्र विचार रखती हैं, वरन् सभा में खड़ी होकर साहस और योग्यतापूर्वक उनका प्रतिपादन भी कर सकती हैं। सभी लोग विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखने लगे और उसका व्याख्यान सुनने के लिए उत्सुक हो उठे।

बालिका ने सर्वप्रथम अपना परिचय देकर विलम्ब से पहुँचने के लिए क्षमा-याचना की। लोगों ने जब सुना कि वह स्वर्गीय रामलालभाई की पुत्री और उनकी एकमात्र विरासत है, तो प्राय: सभी के दिलों में उसके प्रति प्रेम और आदर उमड़ आया। उसकी विनम्र निर्भीकता और उसके भाषा सौष्ठव ने आरंभ में ही श्रोताओं को मुग्ध कर लिया। उसने भाषण में कहा—

"........हमारी सब प्रकार की उन्नति और अवनति हमारी सामाजिक अवस्था से सम्बद्ध है..."

"अपने पतन के लिए दूसरों को दोष देने का हमें कोई अधिकार नहीं। हम स्वयं उतने ही, और उससे भी अधिक दोषी हैं। हमारी अशिक्षा, हमारी दरिद्रता और हमारी दासता का दुहरा और तिहरापन, सब हमारी करनी का फल है। दूसरे लोगों ने केवल हमारी दुर्बलता का लाभ उठाया है। यदि हम आज भी अपनी दुर्बलता दूर नहीं करेंगे जो जीवित ही न रह सकेंगे। अपने जिन पूर्वजों की कीर्ति और महानता के अभिमान में हम चूर हैं, वे स्वर्ग से हमें शाप देते होंगे। उनका नाम लेने योग्य भी हमने अपने-आपको नहीं रखा...."

कुछ लोगों के दिलों पर चोट लगी। जहाँ-तहाँ फुसफुसाहट आरंभ हो गई। एक ओर से आवाज आई—"सुनो! सुनो!"

चंचला ने अपना भाषण जारी रखा—"हमारी सामाजिक और आर्थिक दासता का मूल कारण एक ही है, और वह है हमारी दुर्बलता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमने अपने-आपको दुर्बल बना रखा है। दुर्बलता संसार का सबसे बड़ा अपराध है। दुर्बल को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं। फिर भी यदि वह हठ करेगा, तो संसार उसका अंत कर देगा और इसके लिए वह कोई प्रायश्चित्त न करेगा।........"

"इतने कष्ट भोगते हुए भी हम अपने जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों को महसूस नहीं करते........"

श्रोताओं में अशान्ति बढ़ने लगी। स्थान-स्थान पर बातचीत होने लगी। परन्तु चंचला आगे बढ़ती ही गई—

"मैं महसूस कर रही हूँ कि मेरी खरी बातें बहुत-से भाई-बहनों और बुज़ुर्गों को अच्छी नहीं लग रही हैं। परन्तु मैं अपने सच्चे विश्वास के अनुकूल बातें कर रही हूँ। यदि मेरा विश्वास भ्रमपूर्ण निकले तो मुझे बहुत हर्ष होगा। मैं पूछती हूँ, और हमारे समाज के कर्णधार अपनी छाती पर हाथ रखकर उत्तर दें कि उन्होंने अपने घर की स्त्रियों के साथ आज तक, इस क्षण तक, क्या व्यवहार किया है। उन्हें पुरुष की दासता से निकालने का, उन्हें निम्नतम स्तर से ऊपर उठाने का क्या प्रयत्न किया गया है? और वे यह भी बतायें कि उन्होंने अपने समाज को संगठित करने का, शिक्षित करने का, उन्नत करने का क्या-क्या प्रयत्न किया है?

हम अस्पृश्य नहीं हैं, यह कहना सत्य को अंगूठा दिखाना होगा, वस्तु-स्थिति से दूर भागना होगा। इस दावे में हमारा स्वार्थ और हमारी कायरता भरी हुई है। हम अकेले अपने भाग्य के चक्कर से निकल भागना चाहते हैं। मैं सात करोड़ अभागे अस्पृश्य भाइयों को छोड़ नहीं सकती। मैं उनके ही साथ डूबना और उनके ही साथ उबरना चाहती हूँ। मेरे पूज्य पिता ने मुझे यही सिखाया है। आप भी उनको स्मृति में श्रद्धाजलियाँ चढ़ाते हैं। आप भी उनका अनुकरण कीजिए।........"

अन्ततः उसके भाषण का प्रभाव अच्छा पड़ा। उसके बैठने पर मिनटों तक करतल-ध्वनि से सभामण्डप गूँजता रहा।

बहुत से लोगों को इच्छा हुई उससे मिलने की, उससे बातें करने की। उनमें जीवन अवश्य ही प्रथम था। सभी लोग सभा के समाप्त होने की बाट जोह रहे थे। परन्तु चंचला सभा समाप्त होने के पूर्व ही निर्मला के साथ वहाँ से चली गई। कुछ लोग निराश हुए, कुछ ने उसका पता लगाने का निश्चय किया।

निर्मला ने चंचला का व्याख्यान मुग्धता तथा आश्चर्य के साथ सुना था। ऐसा धाराप्रवाह और ओजपूर्ण भाषण वह दे सकती है, इसका उसे स्वप्न में भी ख्याल न था। उसके विचारों में भी आज निर्मला को एक नया परि-वर्तन दिखलाई पड़ा। सभा में जाने के पूर्व उन दोनों के बीच जो बातें हुई थीं उनमें चंचला ने इस परिवर्तन का कोई संकेत नहीं किया था। निर्मला उसकी

मनःस्थिति को समझने का प्रयत्न करती रही, परन्तु वह सफल न हुई। उसके मन में उत्सुकता की सुइयाँ बराबर चुभती रहीं। अन्त में जब दोनों सखियाँ भोजन आदि से निवृत्त होकर आराम के लिए लेटीं तो निर्मला ने उससे कहा—

"आज तो व्याख्यान में तुमने चमत्कार किया!"

"हाँ, मुझे भी लग रहा है कि मैं खूब बोली। आज मुझे अपने अन्दर एक विलक्षण शक्ति महसूस होती थी।"

"क्यों, भला? ऐसी क्या बात हो गई थी? तुमने बोलने का निश्चय भी तो अकस्मात् ही कर लिया था?"

"मैं जीवन की........" वह हिचकिचा कर रुक गई, परन्तु तुरन्त ही अपने-आपको संभालकर बोली—"जो सज्जन मेरे पहले बोले थे, उनकी कायरतापूर्ण बातें मुझसे सहन नहीं हुईं। अपनी चमड़ी बचाने के लिए समाज को धधकती हुई आग में छोड़कर वह अपने भाग्य पर इतरा रहे थे। स्वार्थ की, परचिन्ता-विरहित आत्मतुष्टि की भी तो सीमा होती है!"

निर्मला को यह परिवर्तन अत्यन्त हितकर प्रतीत हुआ और वह मन ही मन प्रार्थना करने लगी कि यह स्थायी हो जाये। परन्तु इसका मूल जानने की उसकी इच्छा कम न हुई।

उसने अभी-अभी चंचला के मुख से जीवन का नाम सुना था, उसका संकोच और उसकी मुद्रा में सूक्ष्म परिवर्तन देखा था, फिर "जीवन" के प्रति उसका विरक्ति का भाव महसूस किया था। उसे स्मरण हुआ कि जीवन नाम ही तो उसके बाल-सखा का है। मन ही मन उसने जीवन के बारे में चंचला से अनेक बार सुनी हुई बातों से उसे मिलाया और फिर उत्सुक होकर पूछा—"क्या तुम्हारे जीवनचन्द्र महाशय यही थे?"

चंचला इस विषय को निकालना न चाहती थी। परन्तु जब वह निकल ही गया, और उसकी खुद की गलती से निकल गया, तो उसने भरसक उसे टालने का प्रयत्न किया, परन्तु वह टल न सका। अन्त में उसने कहा—"हाँ, यही हैं वह सज्जन।"

"सो तुम उनसे सभा के बाद मिलीं क्यों नहीं?"—निर्मला ने तार और लम्बा किया।

"मैं उनसे कभी मिलना नहीं चाहती।"

"क्यों? क्या कुछ झगड़ा हो गया है?"—निर्मला ने मीठी चुटकी लेने का प्रयत्न किया, परन्तु परिणाम में यह चुटकी बहुत तीखी सिद्ध हुई। चंचला आवेश से भर गई। उसका चेहरा तमतमा गया। उसने कहा—"जाने

दो इस विषय को।" परन्तु निर्मला जाने देनेवाली नहीं थी। उसने खोद-खोदकर पूछना आरम्भ किया और अन्त में चंचला को जीवन के सम्बन्ध की वे सारी बातें, जो उसने अब तक छिपा रखी थीं, निर्मला से कहनी पड़ीं। उसने अपने पत्र-व्यवहार का विवरण, आचार्य का उपदेश, सेठजी से हुई बातचीत, मंगलमूर्ति के पत्र आदि की सब बातें विस्तार के साथ निर्मला को बताईं और कोई बात न छिपाने का वादा करने के बाद भी इतने दिनों तक छिपाये रखने के कारण उसे निर्मला का उलाहना सुनना पड़ा।

निर्मला को चंचला का निर्णय उचित नहीं लगा। उसने आग्रह किया कि चंचला एक बार जीवन से मिलकर व्यक्तिगत रूप से सारी बातें समझ ले। परन्तु चंचला ने स्वीकार न किया।

तीसरे दिन सभा की ओर से सहभोज और पारस्परिक परिचय का कार्यक्रम निश्चित किया गया था। चंचला ने दोनों में भाग लिया और निर्मला सखी के नाते उसके साथ रही। इस बीच जीवन ने उससे मिलने और बातचीत करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु संभव न हो सका। अतएव उसने चंचला के पास एक पत्र लिखकर भेज दिया, जिसमें अनेक सुकुमार वाक्यावलियों के पश्चात् लिखा था कि मेरे लिए एक दिन सुरक्षित रखना और आज सायंकाल "ताज गार्डन" में अवश्य मिलना।

निर्मला ने हर तरह से प्रयत्न किया—चंचला को समझाया, उससे आग्रह किया, परन्तु चंचला किसी प्रकार भी जीवन से मिलने को राजी न हुई। पहले से ही दोनों सखियों ने उस संध्या को ताजमहल देखने जाने का निश्चय कर रखा था, परन्तु अब जो मालूम हुआ कि जीवन वहाँ उपस्थित रहेगा, तो चंचला ने हठपूर्वक वह कार्यक्रम बदल दिया और उसके बदले शहर में घूमने का नया कार्यक्रम निश्चित हुआ।

दोनों सखियों ने नगर के गरीब मुहल्लों में अधिक समय लगाया। लौटने में बहुत देरी हो गई। वे निर्मला के एक सम्बन्धी के घर ठहरी थीं। आते ही गृह-स्वामिनी ने चंचला के नाम लिखा हुआ एक बन्द पत्र देकर कहा—एक लड़का दे गया है। उसने तुम लोगों के लौटने की बहुत प्रतीक्षा की। आखिर थककर अभी-अभी गया है। कह गया है कि सुबह ७ बजे आऊँगा। यहाँ पन्द्रह दिन ठहरने वाला है।

चंचला ने पत्र खोला। लिखा था—"मैंने ताज-गार्डन में रात तक तुम्हारी प्रतीक्षा की। तुम न आईं तो बेहद निराश होकर लौट आया हूँ। मालूम होता है कि तुम अधिक जरूरी काम में व्यस्त हो गईं। मुझे भूलना

मत, अत्यन्त आवश्यक बातें करनी हैं। कल ७ बजे प्रातः फिर आऊँगा। आशा है, मिलोगी……"

पत्र पढ़कर और समाचार सुनकर चंचला के रोष की सीमा न रही। उसने पत्र निर्मला के हाथ में देकर कहा—"यह व्यक्ति मेरे गले पड़ गया है। मुझे बरबाद करने पर तुला हुआ है।"

निर्मला ने पत्र को पढ़कर उसे फिर समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। उलटे चंचला का रोष और बढ़ा ही। उसने कहा—"कल सुबह की गाड़ी से हम लोग वापस चलेंगे।"

"ताजमहल न देखोगी ?"

"भाग्य में नहीं है।"

"ऐसा अवसर बार-बार न मिलेगा।"

"न सही।"

"कल नहीं, परसों चलेंगे; कल ताजमहल देख लेंगे।"

"मैं कल ही जाऊँगी। तुम्हें देखना हो, देखती रहना।"

निर्मला को बहुत बुरा मालूम हुआ, परन्तु हठ का कोई उपाय उसे न सूझा। वह चुप हो गई।

गाड़ी साढ़े सात बजे प्रातः रवाना होती थी। सात बजे से कुछ पहले ही वे दोनों घर से स्टेशन को रवाना हो गईं। जीवन ठीक सात बजे घर पहुँचा और जब पता चला कि चंचला स्टेशन चली गई तो वह भी एक तेज इक्के पर बैठकर स्टेशन की ओर चल पड़ा।

इक्के का घोड़ा कभी धीरे चलता, तो वह इक्केवाले को डाँटने लगता। इक्केवाला कहता—बाबू, बराबर एक चाल से घोड़ा कैसे चलेगा? परन्तु जीवन की समझ में न आता। उसने इक्केवाले को कई बार डाँटा और तब इक्केवाले ने चिढ़कर अपने हाथ बिलकुल ढीले कर दिये। अब घोड़ा मनमानी रईसी चाल से चलने लगा। जीवन ने घड़ी देखी। गाड़ी छूटने के लिए पंद्रह मिनट शेष थे। रास्ता अभी बहुत था। उसे डर हुआ कि गाड़ी न मिल सकेगी। क्षण भर में ही अनेक कल्पनाएँ, अनेक चित्र उसके मस्तिष्क में घूम गये। सहसा उसने इक्केवाले से कहा—"यदि तुम गाड़ी छूटने के १० मिनट पहले मुझे स्टेशन पहुँचा दोगे तो तुम्हें आठ आने अधिक दूँगा।" इक्केवाले ने लालच में आकर घोड़े को फिर दौड़ाते हुए कहा—"आठ आने की क्या बात है, मालिक! आप लोगों के सहारे पर ही तो हम जीते हैं। आप जैसे राजा

लोग न हों, तो इन दो-दो, चार-चार आनों में घोड़े और गिरिस्ती सबका काम कैसे चले ?"

पाँच मिनट और बीत गये। रास्ता अब भी लम्बा था। पीछे से एक अधिक तेज ताँगा आ रहा था। वह इक्के से उतरकर उस ताँगे पर बैठ गया।

किसी तरह वह स्टेशन पहुँचा, परन्तु उसके प्लेटफार्म पर पहुँचते ही गाड़ी ने सीटी दे दी। वह दौड़ पड़ा और सब डिब्बों में चंचला को खोजने लगा। आखिर वह दिखलाई दी और उसने खिड़की से पुकारा—"चंचला !"

चंचला ने एक बार उसकी ओर देखा और क्रोध से मुँह मोड़ लिया।

गाड़ी रवाना हो गई।

२३

पहली चोट

कालेज के आचार्य ने उस दिन के झगड़े का जो निर्णय किया था, उससे किसी को भी संतोष नहीं हुआ।

लीला आदि ने उनके निर्णय को अन्यायपूर्ण समझा, कल्याणशंकर और उसकी मंडली ने सलाह की कि हम आचार्य को भी देख लेंगे, जीवन गम्भीर और चिन्तित हो उठा।

अपनी इसी व्यग्रता के कुछ अत्यन्त उत्कट क्षणों में जीवन ने चंचला के नाम वह पत्र लिखा था, जिसका उत्तर वनिता आश्रम के आचार्य ने दिया था और जो चंचला को कभी नहीं मिला। आचार्य उमापति का पत्र पाने पर उसकी व्यग्रता और भी बढ़ गई थी और जब कि परीक्षा निकट थी, उसका मन पढ़ने-लिखने से बिलकुल उतर गया था। फलतः परीक्षा में वह अनुत्तीर्ण हो गया। संयोगवश लीला भी उस परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकी।

आगरे में चंचला से न मिल सकने का एक और धक्का उसके हृदय पर लगा। और उसने उसे लगभग पागल बना दिया। स्टेशन से लौटने पर वह अनेक स्थानों के चक्कर काटता हुआ ताज गार्डन में जा पहुँचा और घंटों वहाँ बैठा हुआ तरह-तरह के विचारों में डूबा रहा। प्रातःकाल के पश्चात् मध्याह्न और मध्याह्न के पश्चात् संध्या भी आ गई, परन्तु वह भूख और प्यास को भुलाये हुए वहीं पड़ा रहा। एक माली उसके आने के समय से ही उसकी चेष्टाएँ देख रहा था। संध्या को भी उसे एक स्थान पर पड़ा देख उसने उसके पास आकर पूछा—"बाबू, आपकी तबीयत कुछ खराब है?"

"नहीं, क्यों?"

"आप सुबह से यहीं पड़े हुए हैं, खाना खाने तक नहीं गये।"

"हाँ!"

"अब भी न जायेंगे?"

"तुम्हें इससे क्या ?"

"कुछ नहीं, बाबू ! मगर बाग बंद करने का समय हो रहा है।"

"क्या बाग शाम को बंद हो जाता है ?"

"हमेशा तो नहीं होता, मगर आजकल नया हुकुम आया है।"

"अच्छा, तो मैं जाता हूँ"—कह कर जीवन चल दिया।

माली खड़ा-खड़ा कुछ देर तक उसकी विचित्र अवस्था देखता रहा। जब वह कुछ दूर निकल गया तो उसने उसे पुकारा—"बाबूजी !"

जीवन ने पीछे देखा। माली चला आ रहा था। वह जरा रुक गया। माली ने निकट पहुँचकर नम्र और मधुर वाणी में कहा—"बाबूजी, मैं आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ ?"

कदाचित् माली स्वभाव से ही सेवावृत्ति का था, कदाचित् वह भुक्त-भोगी था, कदाचित् वह समझता था कि ताज गार्डन में आकर राहत प्राप्त करने वाले अगणित विरहियों जैसा एक विरही जीवन भी है। वह कुछ संस्कारी भी दीख पड़ा और आश्चर्य नहीं कि उसने अपनी लम्बी नौकरी में वहाँ आने वाले हजारों विरहियों में से किसी से विरह-ताप मिटाने का कोई "गैबी नुस्खा" प्राप्त कर रखा हो। परन्तु जीवन ने इन सब बातों पर विचार किये बिना ही रूखे स्वर में उत्तर दिया—"नहीं।" और वह शीघ्रता के साथ वहाँ से चला गया।

दीप जल चुके थे। नगर दूर से दीपावली का-सा दृश्य प्रस्तुत कर रहा था। परन्तु जीवन के हृदय में सर्वत्र घना अंधकार छाया हुआ था। उसे कुछ भी सूझ न पड़ता था। लोग इधर से उधर और उधर से इधर आ-जा रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने काम में व्यस्त था; परन्तु जीवन के लिए कोई काम न था। उसका मन शून्य था, उसका शरीर भी शून्य था।

उसका अन्तरतर शून्य था ? उसका मन और शरीर शून्य था ? तो फिर वह इधर कैसे जा रहा था ? उसका शरीर जवाब क्यों नहीं देता था ?

और, देखो, वह बराबर ठीक रास्ते पर चला जा रहा है ! वह बराबर नगर की दीपावली को देखता है, प्रकाश से जगमगाती हुई ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं को देखता है, आने-जानेवाले पुरुषों को देखता है, और स्त्रियों को विशेष ध्यान से देखता है।

वह इक्का कितनी तेजी से दौड़ता चला आ रहा है ! हाय-हाय ! वह बच्चा गया ! अरे, रोक ! दुष्ट इक्केवाले ! इक्का रोक दे ! ओह ! गया ! बच गया ! बच गया ! धन्य भगवन् ! परन्तु जीवन खड़ा-खड़ा क्या देखता रहा ?

उसने दौड़कर बच्चे को उठाया क्यों नहीं ? इक्केवाले को उसने आवाज क्यों नहीं दी ? ऐसे अविचारी को उसने पीट क्यों नहीं दिया ? उसने बच्चे की रत्ती भर भी चिन्ता नहीं की ! और देखो, वह कैसे निश्चिन्त, निर्विकार भाव से आगे बढ़ा चला जा रहा है !

लो, उस आदमी से टकरा गया ! पर विचित्र व्यक्ति है, उसकी ओर देखा तक नहीं ! टकराकर ऐसे चल दिया, मानो कुछ हुआ ही नहीं !

और अब वह उस घर के सामने क्यों खड़ा हो गया ? शायद वहीं वह वह ठहरा है । परन्तु वह तो बाहर ही खड़ा है, न अन्दर जाता है, न किसी पुकारता है ! हाँ, हाँ ! यह वही घर तो है, जिसमें चंचला ठहरी थी । परन्तु वह अन्दर क्यों नहीं जाता ?

चल दिया । भला, अब कहाँ जायेगा ? अपने निवास-स्थान पर ? परन्तु उसका निवास-स्थान तो उस ओर है ! हाँ हाँ, रुका । अब ठीक रास्ते पर चल रहा है । परन्तु इतनी तेजी से क्यों चलने लगा ? शायद किसी भूली हुई वस्तु की याद आ गई है । पहुँच गया अपने घर के सामने ।

कितना अस्तव्यस्त पड़ा है उसका सामान ! अरे भले मानुस ! इसे लपेटकर ठीक तरह से रख तो दे ! अभी तो मुझे कई दिन रहना है । क्या ? नहीं रहना ? आज ही जाना है ? अभी जाना है ? मगर अभी गाड़ी कौन-सी है ? तेरी गाड़ी तो सुबह जायेगी ? फिर भी जाना है ? तू पागल तो नहीं हो गया ? यहाँ से ग्वालियर तक पैदल जायेगा ? अच्छा, स्टेशन पर पड़े रहना है तो जा ! समेट अपना सामान !

वह इक्का आ गया !

यह स्टेशन है !

इसी मुसाफिरखाने में तुझे रात बितानी है !

अब टहल मत, सो जा !

नहीं ? आखिर क्यों नहीं ? तू जरूर पागल हो जायेगा । हाँ, पागल हो जायेगा । छोड़ दूँ तुझे तेरे हाल पर ? क्या यह हो सकता है ? तू अपना काम कर, मैं अपना काम करूँगा । दीवाने, होश में आ !

जीवन ने टहल-टहल कर रात काट दी । और वह सोचता रहा—चंचला ने मुझसे भेंट क्यों नहीं की ? वह मुझे भूल तो नहीं सकती । फिर क्या वह नाराज है ? परन्तु नाराज होने का कारण ? उसे कुछ गलत-फहमी तो नहीं हुई ? यह असंभव है । मैं बचपन से उसे जानता हूँ । गलत-फहमी के वह परे है । मैं चाहता था उसे बधाई दूँ । उसने कितना सुन्दर भाषण दिया था ।

मेरा उससे मतभेद हो सकता है, परन्तु उसका उद्देश्य अधिक उदात्त है। उसमें न्याय और सहनशीलता है, इसीलिए उसका यह विचार है। वह अधिक ऊँची है। कहीं वह मेरे विचारों के कारण ही तो मुझसे विरक्त नहीं हो गई? एक प्रकार से उसने मेरे ही भाषण की तो आलोचना की। हो सकता है। तब तो मेरा ही दोष है। नहीं, मैं उसे दोष न दूँगा। चंचला, मैं तुम्हारे सम्मुख क्षमाप्रार्थी हूँ। तुम फूलों के बीच में रहो, कांटे तुम्हारे मार्ग से दूर हो जायें।

प्रातः हुआ, वह टिकट लेने चला। परन्तु टिकट कहाँ का ले? जायेगा कहाँ? उज्जैन? वहाँ तो चंचला के बिना रह न सकेगा? तो ग्वालियर? अभी तो कालेज खुलने में कई दिन शेष हैं, वहाँ जाकर क्या होगा?

उसने टिकट खरीदा। कहाँ का, सो हमें नहीं मालूम। परन्तु कालेज खुलने के कई महीने बाद वह कालेज में अवश्य था।

२४

विष-व्याप्ति

उन दिनों कालेज के वर्तमान और पूर्व छात्रों का सम्मेलन होने वाला था। मुख्य कार्यक्रम था—भाषण, वाद-विवाद, नाटक, खेल और प्रीतिभोज। कार्यकारिणी की ओर से छात्र-छात्राओं की समितियाँ बना दी गई थीं और वे सब अपनी-अपनी तैयारियाँ उत्साहपूर्वक कर रही थीं।

जीवन और उसके साथी मिलकर एक नाटक की तैयारी कर रहे थे। नाटक स्वयं जीवन ने लिखा था और आचार्य ने उसे पढ़कर मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा की थी। जिन लोगों ने नाटक का अभ्यास देखा था, वे अभिनय की भी सराहना करते थे। चारों ओर उसकी प्रशंसा का वातावरण था। सभी उसे रंगमंच पर देखने के लिए उत्सुक हो रहे थे।

करुणाशंकर और उसकी टोली ने शतशः प्रयत्न किया कि नाटक न हो पाये और जीवन तथा उसके साथियों को नीचा देखना पड़े। परन्तु उनका कोई वश न चला। तब उन्होंने गन्दी अफवाहें फैलाकर ही अपने उद्देश्य को पूरा करने का प्रयत्न किया और आगे के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

अंतिम दिन प्रीतिभोज के बाद नाटक का कार्यक्रम था। नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति और कालेज के अध्यापक तथा वर्तमान और पूर्व छात्र एकत्रित हुए थे। श्री और शोभा का मानों वहाँ कटक उतर पड़ा था। भांति-भांति के रंगबिरंगे वस्त्रों, विविध भाषाओं, विविध शिष्टाचार का अति मनोरम समुच्चय दृष्टिगत होता था। वातावरण उत्साह एवं उत्सुकता से परिपूर्ण था।

घड़ी ने नव बजाये, फिर साढ़े नव। दर्शकगण यथास्थान आसीन हो गये थे। उत्कंठा चरमसीमा तक पहुँच गई थी, परन्तु नाटक आरम्भ होने का कोई लक्षण दिखलाई न पड़ता था। साज-सज्जा के कमरे में सब अभिनेताओं के चेहरों पर उदासी छाई हुई थी।

घड़ी ने दस बजाये। दर्शक मंडली में कोलाहल शुरू हो गया। इधर-

उधर से सीटियाँ बजने लगीं। परन्तु पर्दा न उठा।

साढ़े दस बज गये।

मंडप के एक कोने से पुकार उठी—"शुरू करो।" और भी कई तरह की आवाजें आईं। एक ओर कुछ छात्रों ने खड़े होकर लगातार शोर मचाना शुरू कर दिया। एक छात्र ने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया और न मानने पर उन्हें धिक्कारा। इससे वहाँ एक खासा झगड़ा हो गया। अन्त में आचार्य को वहाँ पहुँचकर निबटारा करना पड़ा।

एक अध्यापक ने साज-सज्जा के कमरे में जाकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि यमुना और जीवन प्रीतिभोज के बाद से लापता हैं, और उनके बिना नाटक आरम्भ नहीं हो सकता। बहुत से साथी उनकी खोज में इधर-उधर दौड़ रहे हैं।

क्षण-भर में सब दर्शकों में यह समाचार बिजली की तरह फैल गया। किसी ने कुछ सुना, किसी ने कुछ, परन्तु कोई-न-कोई बुरी बात सबने सुनी। जीवन और यमुना को प्रधान नायक-नायिका का अभिनय करना था। इस सम्बन्ध को जोड़कर मनचले और लम्बी जीभवाले लोगों ने कल्पनाओं और बातों में यथेष्ट रस लिया।

कुछ लड़कों ने आचार्य के पास जाकर कहा—"हमारे कालेज की बेहद बदनामी हो रही है; इसका दण्ड अवश्य मिलना चाहिए।"

एक लड़के ने कहा—"प्रीतिभोज के बाद उन्हें सयाजी बाग में देखा गया था। एक कुँज में बैठे हुए थे.......दो ही थे......."

दूसरे छात्र ने कहा—"लोगों ने उन्हें मोटर पर जाते हुए देखा था......."

कोई ऐसा न था, जिसने कुछ-न-कुछ न कहा हो।

यमुना के पिता ने सुना तो उन पर गहरी चिन्ता छा गई। आचार्य और अध्यापकगण की भी यही स्थिति हुई।

विनायक और लीला से पूछा गया, तो मालूम हुआ कि वे दोनों ही भोज के पश्चात् सिर में दर्द और चक्कर की शिकायत कर रहे थे। दोनों लगभग आधे घंटे के अन्तर से गायब हुए हैं। वे अलग-अलग कमरों में आराम कर रहे थे।

नाटक न हो सका और आचार्य ने सच्ची स्थिति बतला कर अत्यन्त लज्जा एवं दुःख के साथ दर्शकों को विदा कर दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल यमुना के पिता ने उसके कमरे से कराहने की

आवाज़ सुनी। कमरे में बाहर से ताला लगा हुआ था। सन्देह और आशंका से उनका सिर चकरा गया। उन्होंने कई बार यमुना को बुलाया, परन्तु कराह के अतिरिक्त कोई उत्तर न मिला। आवाज से उन्हें बहुत-कुछ भरोसा हो गया कि अन्दर यमुना ही है। ताला बड़ा था, मजबूत था, उनके पास चाबी न थी। उन्होंने देखा, सब खिड़कियां भी भीतर से बंद थीं।

ताला तोड़ने की तैयारी होने लगी। इसी बीच उन्होंने आचार्य को बुलाने के लिए आदमी भेज दिया। आठ-दस घरों का अन्तर होता ही कितना है, ताला टूटने के पहले ही आचार्य भी आ पहुँचे।

आखिर ताला टूटा और दरवाजा खुला। सबसे पहले अन्दर से भयानक दुर्गन्ध निकली। यमुना के पिता ने अन्दर जाकर जो स्थिति देखी उससे वह स्तम्भित रह गये।

दो व्यक्ति अलग-अलग बेहोश हालत में पड़े हुए थे। दोनों के वस्त्र अस्त-व्यस्त तथा गंदे थे। कै और दस्त से भूमि और दोनों के शरीरों की बुरी दशा हो रही थी।

सबसे पहले डाक्टर को बुलाया गया। पड़ोसी भी एकत्रित हो गये। डाक्टर ने आकर कहा—"मालूम होता है, इन्हें धतूरा खिला दिया गया है।"

पड़ोसियों ने बताया कि आठ बजे रात के आसपास यहाँ दो बार मोटर आई थी।

इधर यह छान-बीन हो रही थी, उधर शहर में अफवाह फैलने लगी कि कालेज में पढ़नेवाला जीवन नाम का एक अछूत लड़का अपनी प्रेमिका यमुना नाम की छात्रा के घर पर पकड़ा गया। दोनों नशा किये हुए थे.......

इस अफवाह से कालेज के छात्रों और छात्राओं के अभिभावकों में, और विशेषकर उनमें, जो जीवन तथा यमुना की अनुपस्थिति के कारण नाटक देखने से वंचित हुए थे, रोष छा गया। लड़कियों के अभिभावकों ने सोचना शुरू कर दिया कि इस कालेज में हमारी लड़कियों की मान-प्रतिष्ठा सुरक्षित नहीं है। लगभग सभी अभिभावक ऐसे कालेज को नमस्कार कर लेने का विचार करने लगे।

इस प्रकार बात बढ़ती चली गई। कालेज में छात्र-छात्राओं की संख्या घटने लगी।

उधर जीवन और यमुना अस्पताल में पड़े थे। उनके स्वास्थ्य-लाभ करने में कम समय नहीं लगा। स्वस्थ होने पर उन दोनों ने जो बयान दिया उससे इसकी अपेक्षा अधिक ज्ञान न हुआ कि प्रीतिभोज के बाद उन दोनों को

ज़ोर से चक्कर आने लगा था, सिर में दर्द शुरू हो गया था और वे दोनों अमुक-अमुक कमरों में जाकर लेट रहे थे। दोनों को ही कुछ धुंधला स्मरण होता था कि बाद को उनके पास कुछ गड़बड़ी हुई और दो-चार व्यक्तियों ने उन्हें उठाकर किसी सवारी में बैठाया और कहीं छोड़ दिया। जीवन ने बताया कि बाद को मेरे पास किसी एक व्यक्ति—सम्भवतः यमुना—को लाकर डाल दिया गया। यमुना ने कहा—मुझे जहाँ छोड़ा गया वहाँ पहले से ही कोई एक व्यक्ति—सम्भवतः जीवन—मौजूद था।

आचार्य के पूछने पर दोनों ने ही कोई बात गुप्त रूप से उनसे कही। उसका हमें ज्ञान नहीं।

जिन छात्र-छात्राओं का कालेज में आना बंद हो गया था, उनमें से अनेक के अभिभावकों ने आचार्य को रोष-भरे पत्र लिखे और उन्हें उनके महान कार्य और उत्तरदायित्व के लिए अयोग्य ठहराया।

करुणाशंकर के पिता का पत्र सबसे कठोर था। उसके बाद ही करुणा-शंकर ने भी कालेज जाना बन्द कर दिया था।

आचार्य ने काण्ड की जाँच की, परन्तु जिन छात्रों ने कालेज छोड़ दिया था, उनमें से बहुत कम ने सत्य का अन्वेषण करने में उन्हें सहायता दी। अधिकांश ने उत्तर भेज दिया कि हमें आपसे कोई प्रयोजन नहीं है। आचार्य ने अभिभावकों की एक बैठक की, परन्तु उसमें भी अनेक व्यक्ति न आये, या न आ सके।

अन्त में, कोई उपाय न रह जाने पर उन्होंने मामला पुलिस के हाथ में दे दिया। उन्होंने राज्य-मंत्री महोदय को भी एक गोपनीय पत्र लिखा और समाचार-पत्रों में एक वक्तव्य प्रकाशित करा दिया, जिसमें जनता से और अभि-भावकों से अनुरोध किया गया था कि वे अफवाहों पर विश्वास न करें और पुलिस की जाँच के परिणाम की प्रतीक्षा करें।

जो लोग कालेज छोड़कर चले गए थे उनमें से लगभग आधे वापस आ गये। शेष ने ऐसे भ्रष्ट कालेज में पढ़कर अपने चरित्र को कलंकित करने से साफ इनकार कर दिया। ऐसे छात्रों में उच्च कुलभूषण महाशय करुणाशंकर और उनके अन्य साथी प्रमुख थे।

इधर पुलिस ने बड़ी सरगर्मी के साथ मामले की जाँच शुरू कर दी।

एक दिन करुणाशंकर के पिता राज्य-मंत्री महोदय से मिलकर आये तो अपने लड़के पर बेहद बरसे। परन्तु वह शेर भी अपने बाप का बेटा था। उसने एक बात का उत्तर दो बातों में दिया। अन्दर-ही-अन्दर पिता के मन

में आग लग गई थी, परन्तु कोई वश न था। दिन भर वह उदास रहे और सायंकाल फिर उन्होंने अपने इकलौते बेटे को बुलाकर प्रेम से समझाया। दुनिया की बातें बताईं और उसकी स्वर्गीया माता की बार-बार दोहाई देकर उसकी कोमल भावनाओं को उकसाया। खुद रोये और उसे भी रुलाया। फलतः उन्हें कुछ आशा बँधी, कुछ धैर्य हुआ।

तीसरे दिन करुणाशंकर की वर्ष गाँठ के उपलक्ष्य में एक भारी उत्सव मनाया गया। इतना बड़ा उत्सव उनके घर पिछले अनेक वर्षों में कभी नहीं हुआ था। नाच-गाना हुआ, दावतें हुईं और विशिष्ट व्यक्तियों के यहाँ डालियाँ भेजी गईं। पुलिस के एक अधिकारी के घर विशेष प्रकार की डाली गई। हजारों का वारान्यारा हुआ।

पुलिस ने निःसंदेह बड़ी सरगर्मी से कालेज-काण्ड की जाँच की। पाँच-सात दिन बाद ही उसकी जाँच पूर्ण हो गई और उसने अपना निर्णय कालेज के आचार्य को सूचित कर दिया। सर्वोच्च पुलिस अधिकारी के पास से आचार्य को एक गोपनीय पत्र भी मिला, जिसमें लिखा था—"प्रमाणों के आधार पर मुकदमा न्यायालय में ले जाने योग्य नहीं है......यद्यपि यह क्षेत्र मेरा नहीं है, फिर भी मैं व्यक्तिगत रूप से अनुरोध करता हूँ कि जीवनचन्द्र और कुमारी यमुना के विरुद्ध कठोर कार्रवाई न की जाय। मेरे ख्याल से चेतावनी-मात्र पर्याप्त होगी। फिर, आप अपने काम के लिए स्वयं उत्तरदायी हैं।"

२५

न हि शंकितव्यः

जीवन विनायक के घर में बैठा हुआ चाय पी रहा था। लीला, यमुना, सरस्वती तथा दो-तीन अन्य मित्र आये हुए थे। सहसा विनायक की आठ वर्षीया बहन मीना अपने दोनों हाथों में कोई वस्तु पीठ के पीछे छिपाये दौड़ती हुई आई और जीवन से बोली—"जीवन दादा, कुछ इनाम दो तो एक बढ़िया चीज दूँ।"

"क्या चीज दोगी, मीना ?" जीवन ने चाय का प्याला हाथ से मेज पर रखते हुए प्यार से पूछा।

"पहले इनाम बताओ।"

"तुम जो कहोगी वही दूँगा, बताओ।"

"नहीं, आप बताइए।"

"अच्छा, एक पैसे का गुड़ !"—जीवन ने हँसकर कहा।

मीना रूठ गई। उसने कहा—"जाइए, मैं भी आपको गुड़ ही दूँगी।"

इस पर यमुना बोल उठी—"तो तुम ही क्यों नहीं बता देतीं कि क्या लोगी, मीना ?"

"नहीं बताती, और देती भी नहीं"—कहकर मीना पीछे-पीछे भागने लगी।

जीवन ने यह देखकर कहा—"अच्छा मीना, तुम्हें खिलौना ला दूँगा।"

"मुझे खिलौना नहीं चाहिए"—रूठे कंठ से मीना ने कहा।

"कहानियों की किताब ?"

"नहीं।"

"तो बिल्ली का बच्चा !" और सब लोग हँस पड़े।

"देखिए, आपके बड़े काम की चीज है। एक आदमी लाया था। कहता था जीवन दादा को तुरन्त दे देना। ठीक-ठीक इनाम बताइए, नहीं तो यह

चली"—और वह अधिकाधिक पीछे सरकती गई और दरवाजे के पास पहुँच गई।

अब जीवन की उत्सुकता बढ़ गई। उसने कहा—"देखो, रानी, दे दो। इनाम तो तुम जो कहोगी सो ही मिल जायेगा।"

"अच्छा, तो मैं ड्राइंग के रंग की डिब्बी लूँगी, अच्छीवाली; और ब्रश भी लूँगी।"

"बस, इतनी सी चीज? यह तो मैं अभी ला दूँगा। दे दो क्या चीज है।"

"अभी ठहरिए, यमुना बहन से भी लेना है। उसने उनको भी देने को कहा था।"

इतने में लीला डाँटकर बोल उठी—"देती क्यों नहीं है? बड़ी आई, इनाम लेनेवाली!"

मीना का मुँह उतर गया। उसने कहा—"आप क्यों बोलती हैं!"

इस पर लीला उससे वह चीज छीनने के लिए झपट पड़ी। यमुना ने बीच ही में उसे रोककर मीना से प्यार के साथ कहा—"मैं तुम्हें ड्राइंग की कापी ला दूँगी, मीना, दे दो!"

मीना प्रसन्न हो गई, फिर भी अभी प्रसन्नता पूर्ण नहीं हुई थी। उसने कहा—"हाँ, अच्छी-सी कापी लाइएगा। अब आप सब लोग अपनी-अपनी आँखें मूँदिये।"

लीला ने कहा—"सब लोग क्यों मूँदें? मैं नहीं मूँदूँगी।"

"मत मूँदिए। आप को कौन देता है?"

यमुना, जीवन तथा अन्य लोगों ने आँखें मूँदने का ढोंग किया। मीना एक-एक पैर आगे बढ़ाती हुई और बार-बार आँखें न खोलने को चेतावनी देती हुई मेज तक आई और कुछ चीज रखकर ज्यों ही भागने लगी त्यों ही यमुना ने लपक कर उसे पकड़ लिया और वह खिलखिला कर हँस पड़ी। यमुना ने उसे गोद में लेकर गुदगुदा दिया। और थोड़ी देर के लिए हँसी का समाँ बँध गया।

इसी बीच जीवन ने देखा, मेज पर एक समाचार-पत्र पड़ा था। उसने उठा लिया और जैसे ही पहला पृष्ठ खोलकर देखा, उसका हृदय धड़कने लगा। वह पत्र को विनायक के हाथ में देकर कुर्सी की पीठ से टिक गया।

विनायक ने पत्र देखा तो वह भी उदास हो गया। यमुना से न रहा गया। वह पूछ बैठी—"क्यों भई, क्या बात है? खैर तो है?"

विनायक ने पत्र उसकी ओर सरका दिया। उसे देखकर यमुना का

चेहरा तमतमा उठा। उसके मुँह से निकल पड़ा—"नीच!"

सबको उत्सुकता हुई और सरस्वती ने पत्र को लेकर जोर से पढ़ दिया। बड़े-बड़े अक्षरों में शीर्षक था—"कालेज में घृणित प्रेम लीला...युवक युवती बन्द कमरे में पकड़े गये।" और समाचार था—

"छात्र सम्मेलन के समय एक स्थानीय कालेज में जो प्रेम-काण्ड हुआ था, उसकी जाँच पुलिस ने पूर्ण कर ली है। विश्वस्त रूप से ज्ञात हुआ है कि पुलिस उस काण्ड के सम्बन्ध में अत्यन्त सनसनीखेज निर्णय पर पहुँची है। उसने कालेज के अधिकारियों को अपना जो निर्णय सूचित किया है, उसके शब्द ये हैं—'साक्षियों तथा परिस्थितियों से स्पष्ट है कि जीवनचन्द्र ने कुमारी यमुना को अपने जाल में फँसाने का षड्यंत्र रचा था, जिसमें उसे कुछ हद तक सफलता भी मिली।' आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही इस आधुनिक 'लैला-मजनू' काण्ड पर पूर्ण प्रकाश पड़ेगा।"

उपस्थित मंडली में अत्यन्त आवेशपूर्ण चर्चा हुई और यमुना ने उसमें दिलभर कर भाग लिया। जीवन निर्वाक् बैठा हुआ सब-कुछ सुनता और गुनता रहा। जब कोई उससे कुछ कहता या पूछता तो वह 'हाँ-हूँ' कहकर टाल देता। उसका मन बेचैन था, परन्तु उसमें क्रोध था या दुःख, इसका निर्णय करने के लिए उसके भावी रुख को देखना आवश्यक था।

एकाएक उसने विनायक से कहा—"मैं जा रहा हूँ।" और बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये वह उठ खड़ा हुआ और बाहर निकल गया। विनायक भी उसके साथ हो लिया और उस समय की वह छोटी-सी मित्र-सभा विसर्जित हो गई। बेचारी मीना खिन्न और निराश होकर चुपके से अंदर चली गई।

छुट्टी का दिन था, दोनों को अवकाश था, अतः दोनों एक ओर चले, और चलते ही गये।

विनायक ने शान्ति भंग की—"क्या अब भी तुम्हें सन्देह है?"

"मैं सोचता हूँ, वह मुझसे क्यों शत्रुता करेगा?" जीवन ने गम्भीरता से उत्तर दिया।

"ईर्ष्या, द्वेष, दुष्ट स्वभाव, ये क्या कम कारण हैं?"

"मैं नहीं मानता कि वह इतना नीच है।"

"तुम तो पहले कोई भी बात नहीं मानते। जब भोगना पड़ता है तब सब कुछ मान लेते हो।"

"तुम कहना क्या चाहते हो?"

"यही कि, 'शठं प्रति शाठ्यं' का सिद्धान्त स्वीकार करके मुँह-तोड़ उत्तर दो।"

"परन्तु शठता किसकी है, सो तो सिद्ध हो। इसके पहले उत्तर देने का प्रश्न कैसे उठ सकता है?"

"तो हाथ पर हाथ रखे बैठे रहो और अपने साथ तीन लड़कियों का जीवन भी नष्ट करा दो।"

"मैंने तो तुमसे कितनी बार कहा कि मुझे सब लोग अकेला छोड़ दो।"

"तुम्हारे अलग होने से लाभ क्या? उनकी दृष्टि तो लड़कियों पर है। तुम लड़कियों की सहायता करके उनकी दुष्ट इच्छाओं का विरोध करते हो, इसलिए वे तुम्हारे विरुद्ध हैं। तुम दूर हो जाओगे तो उनका मार्ग साफ हो जायेगा। वे इन लड़कियों का जीवन दूभर कर देंगे। करुणाशंकर के पास धन है और धन-लोलुप, नीच प्रवृत्ति का जन-बल भी है।"

"कुछ भी हो, मैं वैसी नीचता तो नहीं कर सकता।"

"तो तुम संसार में कुछ भी नहीं कर सकते।"

"यदि सारी दुनिया नीचता के ही वश में रहती है तो मैं उसे छोड़ देना पसन्द करूँगा। परन्तु दुनिया ऐसी नहीं है, जैसी तुम उसे समझ रहे हो।"

"मैं तुम्हारा तत्त्वज्ञान नहीं समझता। मुझे तो सीधी-सादी बातें दिखलाई देती हैं। मैं आज सुख से, सिर ऊँचा करके रहना चाहता हूँ, कल की कल देख लूँगा।"

"तो क्या कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं?"

"तुम बताओ। मुझे तो नहीं सूझता।"

"एक बार करुणाशंकर से मिलकर साफ-साफ बातें क्यों न की जायें?"

"मैं उसके पास जाकर अपना अपमान कराना नहीं चाहता। न तुमको ही जाने दूँगा।"

"यह तो हठधर्मी है।"

"मैं हठधर्मी का अभ्यस्त नहीं हूँ; परन्तु मुझे तुम्हारी यह योजना उचित नहीं जँचती।"

"अच्छा किसी तीसरे व्यक्ति से सलाह करें। वह जैसा कहे वैसा ही किया जाये।"

"किससे?"

"यदि आचार्य से सलाह ली जाये तो कैसा हो?"

"कदापि नहीं। वह अपने कालेज के हिताहित का ख्याल पहले करेंगे। याद नहीं है, पहले झगड़े में उन्होंने हमारे साथ क्या व्यवहार किया था ?"

"तो फिर श्रीकृष्णभाई के पास चलें ?"

"हाँ, यह ठीक होगा। वह आज यहाँ आये भी हैं।"

"तो तय रहा दुपहर को उनके पास चलेंगे।"

दोनों मित्र वापस घर चले गये।

श्रीकृष्णभाई को सेठ गंगाप्रसाद का जो पत्र मिला था उसका उत्तर उन्होंने तुरन्त दे दिया था कि जब कभी मैं ग्वालियर जाऊँगा, जीवन के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करके भेज दूँगा। अब जो उन्हें ग्वालियर आने का अवसर मिला तो उन्होंने उस काम को भी स्मरण रखा।

जीवन से वे उज्जैन में अनेक बार मिल चुके थे और उसने उनके मन पर अपनी बहुत अच्छी छाप डाली थी। उन्होंने उससे मन-ही-मन अनेक प्रकार की आशाएँ बाँध रखी थीं। परन्तु उस दिन प्रातःकाल के पत्र में उन्होंने जो वह समाचार देखा तो चकित रह गये। उन्हें सहसा उस समाचार पर विश्वास तो नहीं हुआ, परन्तु वह शंका में डाल देने के लिए पर्याप्त था। और जब उन्हें स्मरण हुआ कि सेठ गंगाप्रसाद भी उसके बारे में दिलचस्पी रखते हैं तो वह सबसे पहले उस पत्र के सम्पादक के पास, जो उनके परिचित थे, गये। जाँच करने पर मालूम हुआ कि वह समाचार एक महाशय मौखिक रूप से दे गये थे और प्रकाशित होने के पूर्व सम्पादक उसे देख नहीं सके। कल जब उन्होंने उसे पत्र में देखा तो अनेक कारणों से वह उन्हें पसन्द नहीं आया। उन्होंने उसके लिए जिम्मेवार उपसम्पादक को, जो हाल ही में कालेज छोड़कर पत्र की नौकरी में आया था और जिसकी बड़े-बड़े लोगों ने सिफारिशें की थीं, कठोर दण्ड देने का निश्चय किया है। समाचार की सचाई के विषय में सम्पादक महाशय कोई अश्वासन नहीं दे सके।

संपादक महाशय की सलाह से श्रीकृष्णभाई उन्हें साथ लेकर कालेज के आचार्य के पास गये। आचार्य ने व्यक्तिगत रूप से उन्हें पुलिस के दोनों पत्र दिखला दिये और अपना मत व्यक्त करते हुए बताया कि मैं जीवन और यमुना को बहुत अच्छी दृष्टि से देखता हूँ। उन्होंने यह भी कहा कि मैं दोनों को प्रेम और सहानुभूति से समझा देने के अलावा कोई कारवाई न करूँगा। पत्र के प्रकाशित होने के सम्बन्ध में उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया।

दुपहर को जीवन और विनायक श्रीकृष्णभाई के पास पहुँचे तो उन्हें

बहुत प्रसन्नता हुई। वह स्वयं जीवन से मिलना चाहते थे। जीवन के आ जाने से उनका कार्य सरल हो गया।

जीवन ने अपनी सारी कहानी उन्हें सुनाकर उनकी सलाह माँगी। श्रीकृष्णभाई ने थोड़ा-सा सौम्य उपदेश देकर कहा—"अभी कुछ समय तुम्हें चुप रहना चाहिए। यह बावेला आप ही शान्त हो जायेगा। तुम सन्मार्ग पर चलते रहो। बुराई करनेवालों की ओर बिलकुल ध्यान न दो। बुराई का प्रतीकार न करने के सिद्धान्त की परीक्षा करके देखो।"

जीवन और विनायक को मानो डूबते हुए सहारा मिल गया। वे सन्तुष्ट होकर लौट आये।

इधर श्रीकृष्णभाई ने सेठ गंगाप्रसाद को लिख दिया—"जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, जीवन अत्यन्त शुद्ध और उदात्त चरित्र का युवक है। साथ पढ़नेवाली कुछ बालिकाओं से उसका सम्बन्ध घनिष्ठ अवश्य है, परन्तु वे सब भी बहुत चरित्रवान बालिकाएँ हैं। कालेज के कुछ उपद्रवी लड़कों के उत्पातों से वह उन बालिकाओं की रक्षा करता है; इस लिए कुछ मनचले और उद्धत छात्र, जिनका नेता एक रईस का बिगड़ा हुआ लड़का है, उससे रुष्ट हैं। उन्होंने कई बार उसे सताया और डरा-धमकाकर उन लड़कियों से अलग करने का प्रयत्न किया। इसमें सफल नहीं हुए तो नीचता पर उतर आये हैं........"

इसके पश्चात् उन्होंने दोनों घटनाओं का वर्णन करते हुए लिखा—"कालेज के आचार्य ने मुझे बताया कि वह गत वर्ष से कुछ उद्विग्न रहता है और कलाओं की शरण में शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया करता है। कलाओं में, विशेषतः काव्य में, उसने बहुत प्रगति की है, परन्तु दूसरे विषयों की उपेक्षा कर गया है। इसीलिए परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सका........

"परिस्थितियों से उसके चरित्र पर—कम-से-कम उसकी मनोवृत्ति पर—शंका करने की बहुत गुंजाइश है और असावधान व्यक्ति अवश्य भ्रम में पड़ सकता है। परन्तु मुझे कोई सन्देह नहीं है......."

श्रीकृष्णभाई का यह पत्र जिस दिन सेठ गंगाप्रसाद को मिला उसी दिन स्वामी अभयानन्द का उत्तर भी प्राप्त हो गया। उन्होंने कलकत्ते में अध्यापक का काम करनेवाले अपने एक ब्राह्मण शिष्य की सिफारिश की थी। सेठजी ने उसके सम्बन्ध में भी जाँच-पड़ताल शुरू कर दी।

२६

दुर्भाग्य

उस दिन आगरा स्टेशन पर जीवन की थोडी-सी झलक दिखलाई दी थी, उसकी एक पुकार कानों में पड़ी थी और चंचला ने अपने दोनों कान हाथों से ढककर मुँह मोड़ लिया था। गाड़ी चल दी और आगरा की सब वस्तुएँ दूर होने लगीं। निर्मला को चंचला का यह व्यवहार अभद्र और अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ। उसने सात्विक रोष के साथ कहा—

"प्रत्येक वस्तु की सीमा होती है, परन्तु तुम्हारी हठ की कोई सीमा नहीं है।"

चंचला ने खिड़की से बाहर सिर निकालकर देखा। आगरा स्टेशन दूर निकल गया था। अब वहाँ के किसी व्यक्ति को देखकर पहचाना नहीं जा सकता था। वहाँ से आनेवाली कोई आवाज उसके कानों में नहीं पड़ सकती थी। उसने एक बार निर्मला की ओर देखा और फिर स्टेशन की ओर देखती-देखती बोली—"तुम यदि मेरे हृदय को देख सकतीं, निर्मला, तो ऐसा कहने की आवश्यकता महसूस न करतीं।" और बरबस उसके अन्दर से एक गहरी साँस निकल पड़ी।

निर्मला ने हताश-भाव से कहा—"ऐसा कौन-सा गूढ रहस्य तुम्हारे हृदय में छिपा है, जो शब्दों में बिलकुल ही नहीं उतरता?"

"मैं तुमसे जो कुछ बता चुकी हूँ उससे अधिक मैं स्वयं नहीं जानती। परन्तु इतना कह सकती हूँ कि उसके लिए मेरे हृदय में असीम प्रेम था, और आज मैं महसूस करती हूँ कि किसीने अन्दर हथौड़ियाँ चलाकर सब-कुछ तोड़ दिया है।"

"परन्तु क्या तुम्हारा महसूस करना गलत नहीं हो सकता?"

"शायद हो सकता है।"

"फिर, स्थिति को साफ करने का जो अवसर तुम्हें अनायास ही मिल

गया था, उसे इतनी बेदर्दी के साथ तुमने क्यों ठुकरा दिया ?"

"मैं और कुछ कर ही नहीं सकी।"

"यह बात व्यर्थ है। मैंने तुम्हें समय पर समझाया था। तुम चाहती तो सब-कुछ कर सकती थीं। तुमने पसन्द नहीं किया।"

रेलगाड़ी धड़धड़ाती हुई चली जा रही थी। आगरा लगातार दूर होता जा रहा था, और वैसे ही जीवन भी। परन्तु क्या चंचला के मन में इसका खेद था, पछतावा था ? उसने उत्तर दिया—"इसीलिए मैं कहती हूँ कि तुम मेरे हृदय को नहीं जानतीं।"

"खैर, जाने दो। परन्तु, अब भी स्थिति को सुधारने के लिए तैयार हो ?"

"यह असम्भव है। आखिर अभी नई स्थिति क्या उत्पन्न हो गई ?"

"तुम केवल अनुमति दो। मैं सब-कुछ कर लूँगी।"

"मैं अपनी ओर से कोई आश्वासन नहीं दे सकती, परन्तु तुम्हें रोकूँगी नहीं।"

"तो हम टूँडला में उतर जायें और एक-दो दिन के लिए ग्वालियर चलें। मैं सब ठीक कर लूँगी।"

"ग्वालियर में कौन है ?"

"वह वातावरण है, जिसमें जीवन रहता है। वे लोग है, जिनके बीच उसकी जिन्दगी कटती है। और हम उसे भी बुला लेंगी।"

"मुझे बीच में नहीं डालना होगा।"

"स्वीकार। परन्तु तुम सब सुनोगी तो ? सलाह तो दोगी ?"

"संभव हुआ तो। और वहाँ ठहरना कहाँ होगा ?"

"मेरे एक सम्बन्धी हैं।"

"मैं किसी के घर में न ठहरूँगी।"

"तो धर्मशाला में ठहर जायँगे।"

प्रत्येक स्टेशन पर ठहरती हुई और अनेक गाड़ियों को राह देती हुई पैसेंजर गाड़ी धीरे-धीरे ग्वालियर पहुँच गई। दोनों सखियाँ एक धर्मशाला में जा ठहरीं और प्रातःकाल, सबसे पहले, निर्मला ने जीवन को यह तार भेज दिया—"पहली गाड़ी से जरूर-जरूर आइए........निर्मला-चंचला।"

निर्मला जब तार लिख रही थी उस समय चंचला सोच रही थी कि क्या यह उचित हो रहा है ? और जब उसने तार का फार्म बाबू के हाथ में दिया तो चंचला के मन में प्रश्न उठा—"क्या यह अनधिकार चेष्टा और बल-प्रयोग नहीं है ?"

और तार देकर निर्मला ने कहा—"घंटे-दो-घंटे में जीवन को मिल जायेगा। वह रात की गाड़ी से आ जायेगा।"

चंचला अपने विचारों में डूबी हुई थी। उसने यंत्रवत् कह दिया—"हाँ!"

दिन-भर दोनों सखियों ने घूम-घूमकर ग्वालियर नगर देखा। निर्मला नगर से परिचित थी, अतः वह अनेक स्थानों तथा प्रासादों का परिचय देती जाती थी। परन्तु चंचला के मन में इस सब की ओर आज कोई आकर्षण नहीं था। जिस व्यक्ति से मिलना टालने के लिए उसने ताजमहल जैसी अनुपम कलाकृति को देखने से इनकार कर दिया, उसी की प्रतीक्षा में अब ग्वालियर के अकिञ्चन स्थानों को देखना उसे विडम्बनामय मालूम होता था। उसका सारा ध्यान इस एक गुत्थी को सुलझाने में लगा हुआ था कि मैंने निर्मला का आग्रह-मानकर यह पीड़ाप्रद कार्रवाई करना क्यों स्वीकार कर लिया। जिसे मैंने इतनी नीची निगाह से देखा है उसे ही आमंत्रित करके उससे जीवन की अत्यंत मर्मपूर्ण बातें कैसे कर सकूँगी?

निर्मला ने उसके उद्देश्य को ताड़ लिया और उसे बहलाने के प्रयत्न किये। किसी तरह सफल न होने पर वह उसे ठहरने के स्थान पर ले आई। शेष समय वहीं कटा। जब रेलगाड़ी का थोड़ा ही समय रह गया तो निर्मला ने प्रस्ताव किया कि स्टेशन पर जाकर गाड़ी देख आयें।

चंचला को यह प्रस्ताव बिलकुल पसंद न आया। उसने किंचित् त्वेष के साथ कहा—"यह नहीं हो सकता। दो बजे रात को मैं स्टेशन नहीं जाऊँगी।"

"तो उसे मालूम कैसे होगा कि हम कहाँ हैं?"

"हो या न हो। मैं नहीं जाऊँगी। मुझे सोने दो।"

"दीवानी मत बनो, चंचला! जरा सोचकर काम करो।"

चंचला तैश में आ गई। उसने कहा—"तो तुमने मुझे दिन-रात परेशान करने के लिए ही यह सब किया था?"

"जो काम करना ही है उसमें परेशानियों का ख्याल नहीं किया जाता।"

"तुम अकेली ही क्यों नहीं चली जातीं?"

"इतनी रात को मेरा अकेला जाना ठीक होगा? और यदि चली भी जाऊँ तो उसे पहचानूँगी कैसे? मैंने तो उसे केवल एक बार उसी सभा में देखा है, उसने मुझे देखा भी नहीं।"

"अच्छा चलो, बाबा ! तुम्हारी ही इच्छा पूरी हो"—कहकर चंचला उठ बैठी।

गाड़ी जैसे ही स्टेशन के अन्दर आई, चंचला का हृदय धड़कने लगा। वह बैठ जाना चाहती थी; परन्तु निर्मला जल्दी-जल्दी चलकर हर एक डिब्बे को देखने लगी; अतएव उसे भी उसके साथ चलना पड़ा। तथापि उसका ध्यान व्यक्तियों के चेहरों की ओर नहीं था। हाँ, बीच-बीच में वह किसी-किसी व्यक्ति को देखकर चौंक अवश्य पड़ती थी। शायद उसे बार-बार जीवन का भ्रम होता था। शायद उसमें उसके सामने होने की हिम्मत ही नहीं थी। शायद........

सारी गाड़ी देख डाली गई, परन्तु जीवन कहीं भी दिखलाई न पड़ा। निर्मला शीघ्रतापूर्वक फाटक पर पहुँची और समस्त यात्रियों पर ध्यानपूर्वक दृष्टि फैलाने लगी। उनमें भी जीवन दिखलाई न पड़ा। तब उसने ताँगों पर दृष्टि दौड़ाई। एक बार उसे कुछ आशा हुई, परन्तु वह भ्रम सिद्ध हुई। निराश होकर उसने चंचला से कहा—"मालूम होता है, नहीं आ सका।"

चंचला ने कोई उत्तर नहीं दिया।

निर्मला ने पूछा—"तुमने ठीक तरह से देखा?"

"मैं कुछ नहीं जानती"—चंचला ने रूठे हुए स्वर में उत्तर दे दिया।

निर्मला चुप हो गई। दोनों अपने स्थान को लौट आईं, और शायद सो गईं। प्रातःकाल फिर निर्मला ने चंचला को स्टेशन जाने के लिए तैयार किया और वह अनमनी होकर, कुछ रुष्ट होकर उसके साथ हो ली। रात के समान सारी गाड़ी देखी गई, इक्के-ताँगे देखे गये, परन्तु जीवन न मिला। लौटते समय दोनों का मन भारी था। दोनों शिथिल थीं। चंचला ने रास्ते में केवल एक वाक्य कहा—"व्यर्थ परेशान होती हो, और मुझे भी परेशान करती हो। समझती हो, पुरुषों के हृदय भी स्त्रियों के समान कोमल होते हैं!"

निर्मला क्या उत्तर देती? यहाँ तो उसे चंचला की ही कठोरता का परिचय मिला था। और क्या चंचला ने भी यह बात सोच-विचार कर कही होगी?

आशा विलक्षण वस्तु है। वह मनुष्य को अंधा बना देती है। बार-बार निराश होने पर भी वे दोनों दो-दिन तक ग्वालियर में पड़ी रहीं और उन्होंने आगरे से आनेवाली प्रत्येक गाड़ी देखी, परन्तु अन्त तक जीवन उन्हें न मिला। कोई कारण नहीं था कि वह उन दोनों का तार पाकर तुरन्त न आता। उन्होंने

शहर के खूब चक्कर काटे, शायद आ गया हो, कहीं दिखलाई पड़ जाये ! अन्त में वे ग्वालियर से रवाना हो गईं ।

चलते-चलते चंचला के कहा—"इतना अपमान सहने की मैं अभ्यस्त नहीं हूँ, निर्मला !"

निर्मला ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

गाड़ी सीटी देकर और ग्वालियर को पीछे छोड़कर चल दी । बाहर सूर्य असह्य वेग से तप रहा था । गर्म हवा गाड़ी की खिड़कियों से अन्दर घुसकर यात्रियों को झुलसा रही थी । अन्दर, चंचला के हृदय में भी, कुछ वैसा ही ताप था । बाहर की खिड़कियाँ बन्द करने से उमस होती थी, हृदय की खिड़कियाँ बन्द हो ही नहीं सकती थीं । वह व्यग्र थी—इतना अपमान ! इतनी उपेक्षा ! क्या यह वही जीवन है, जो मेरे बिना जीना ही नहीं चाहता था ? कितना पाखंड, कितना कपट ! क्या ऐसे व्यक्ति से मैं कभी मिल सकती हूँ ?

परन्तु........! कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि उसे तार मिला ही न हो ! नहीं, वह आया ही नहीं ।

आया ही नहीं ? मैंने तो उसे ठीक तरह से गाड़ियों में देखा नहीं ! संभव है निर्मला पहचान न सकी हो ! वह आया हो और हमारा पता न लगा सका हो ! हो सकता है, वह हमारा पता लगाने में अब भी परेशान हो !

परेशान हो ? हाँ, हो क्यों नहीं सकता ? आखिर उसने तो अपनी ओर से मुझसे मिलने का कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा । तीन-तीन बार वह मुझसे मिलने आया । स्टेशन पर भी भागा हुआ आया । कितना उत्सुक, कितना व्यग्र था वह ! मैंने ही तो उसके साथ अन्याय किया !

मैंने अन्याय किया ? निःसन्देह मैंने अन्याय किया । मैंने उसे कितना टाला ! उससे न मिलने के लिए मैंने ताजमहल नहीं देखा । उससे भेंट न हो, इसीलिए आगरे से चल दी । फिर भी वह बराबर मुझसे मिलने का प्रयत्न करता रहा । स्टेशन पर तो मैंने अपनी क्रूरता की हद कर दी !

क्रूरता की हद कर दी ? हाँ, क्रूरता की हद कर दी ! फिर यदि वह भी रुष्ट हो गया हो तो इसमें उसका क्या दोष ? आदमी कहाँ तक सह सकता है !

सम्पूर्ण यात्रा इसी ऊहापोह में कटी ।

२७

भवितव्य ?

आश्रम में लौटने पर चंचला अपने कलामण्डल, सेवा-कार्य और अध्ययन में व्यस्त हो गई। धीरे-धीरे उसकी सखियों की संख्या भी बढ़ने लगी। प्रति वर्ष के समान इस वर्ष भी अनेक नई छात्राएँ आईं और पुरानी चली गई थीं। अब चंचला सबसे बड़ी छात्राओं में शामिल थी। उसकी मान-मर्यादा पहले से बहुत बढ़ गई थी। शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए भी वह अनिवार्यप्राय हो गई थी।

चंचला इस परिवर्तन से प्रसन्न थी। परन्तु जब से वह झूले से गिरी, उसकी निद्रा में कमी हो गई थी। वह बहुधा भयानक स्वप्न देखती और उनका प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता था। अतएव उसकी चिकित्सा जारी रही। उसे अकेली न रखने के उद्देश्य से निर्मला को उसके कमरे में रख दिया गया।

एक दिन सोती-सोती चंचला बहुत जोर से चीख उठी—"बचाओ! बचाओ!" निर्मला जाग पड़ी और उसने देखा कि चंचला अपने बिस्तर पर बैठी काँप रही है। निर्मला ने पास जाकर उसके शरीर पर हाथ फेरा और पूछा, क्या हुआ? चंचला ने बताया कि उसने एक बहुत डरावना स्वप्न देखा। स्वप्न को याद कर-कर के उसने कहा—

"मैंने देखा, मेरा विवाह हो रहा है। खूब धूमधाम है। काकाजी, महात्माजी, अम्मा, बापू, सब उपस्थित हैं। मैं कहती हूँ, विवाह न करूँगी। रोती हूँ, अनुनय-विनय करती हूँ, पर कोई नहीं सुनता। आखिर विवाह हो गया। मैं अपने पति के घर चली गई। रात को मैं नदी-तालाब में डूब मरने के लिए खिड़की से कूदकर भागने के लिए तैयार होती हूँ; पर जब खिड़की के पास पहुँचती हूँ तो वहाँ जीवन खड़ा हुआ मिलता है। उसके हाथ में एक रस्सी और एक बड़ा छुरा है। उसका चेहरा विकृत और भयंकर हो रहा है। उसने मुझसे कहा—तुमने मुझे धोखा दिया है, मैं बदला लेने आया हूँ। मैं

डर गई। निकल भागने की सारी इच्छा मिट गई। मैंने उससे विनतियाँ कीं। उसने उत्तर दिया—तुम्हारी कोई कला आज काम न आयेगी, मैं अवश्य बदला लूँगा। मैंने देखा, उसके कपड़े खून से तर हैं, उसके छुरे में भी खून लगा है। मैं भयभीत हो गई। उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और छुरा उठाकर जोर से हँसा। पर मैं चीख उठी......"

निर्मला ने उसे समझाकर सुला दिया और स्वयं भी उसी के साथ सो गई। सुबह उठने पर चंचला का चेहरा मुरझाया हुआ और पीला था—मानो वह कई दिनों से बीमार हो।

उस दिन से वह लगभग रोज ही भयंकर स्वप्न देखने लगी और निर्मला का उसके साथ सोना आवश्यक हो गया।

पहले दिन के स्वप्न के बाद जब कभी मौका आता, निर्मला चंचला से विनोद करती हुई कह उठती—"बुलाऊँ छुरावाले को ?"

और चंचला रूठकर कहती—"यह अच्छी बात नहीं है, निर्मला !"

होते-होते बात यहाँ तक बढ़ गई कि यदि निर्मला के मुँह से 'बु' या 'छु' भी निकल जाता तो चंचला तिनक उठती। और 'बु छु' निर्मला का तकिया कलाम बन गया। एक दिन 'बु छु' की ध्वनि एक विनोदप्रिय शिक्षक के कानों पर पड़ी, तो उन्होंने संशोधन करके, विस्तृत भाष्य के साथ, उसे 'बिच्छू' का रूप दे दिया। यह उपाधि इतनी लोकप्रिय हुई कि सभी शिक्षक प्रेम-रोष के अवसर पर उसे 'बिच्छू' कह उठते। बाद को 'बिच्छुओं' की एक टोली का ही आविर्भाव हो गया।

चंचला इस अभिधान से तिनकती, रूठती अवश्य, परन्तु वह महसूस करती थी कि इस शब्द के अन्दर शिक्षक-शिक्षिकाओं का कितना प्रेम भरा हुआ है। अतएव उसके रूठने में गुदगुदी निहित होती।

निर्मला से उसका प्रेम लगातार बढ़ता गया। अब वह सदैव उसके साथ ही सोती। पहले जब वह रात को कोई स्वप्न देखती, तो निर्मला से चिपट जाया करती थी। निर्मला उसे सहारा देती थी। धीरे-धीरे इस क्रम में प्रगति हुई। अब वह सोने के पहले ही उससे चिपट जाने लगी, स्वप्न देखने पर उसे बाहुपाश में भरकर सारी शक्ति से दबा लेती है।

एक दिन निर्मला ने कहा कि तुम बड़े मजेदार स्वप्न देखती हो। किसी एक स्वप्न को चित्रों में अंकित करो। चंचला को यह प्रस्ताव अच्छा लगा और कई दिनों के परिश्रम से उसने एक लम्बी चित्र-मालिका तैयार कर ली। इसमें यह स्वप्न चित्रित किया गया था—

"एक हरा-भरा और मनोरम बन। उसमें चंचला की कुटिया। अनेक हरिजन बच्चे उसके पास पढ़ रहे हैं। एक सुन्दर हिरनी अपने छोटे से बच्चे के साथ उसके पास बैठी है। बच्चा चंचला की गोद में मुँह रखे है और चंचला उसे सहला रही है। चंचला ने देखा, एक शिकारी हिरनी पर बन्दूक का निशाना लगा रहा है। चंचला हिरनी पर हाथ रखकर पुकार उठती है— मारो मत! मारो मत! शिकारी उसके पास आ जाता है। उसकी सूरत भयंकर है, उसकी आँखों में क्रूरता और हत्या खेल रही है। वह कहता है, हट जाओ! मैं इसे जरूर मारूँगा! चंचला हिरनी को अपने पीछे छिपा लेती है। शिकारी उसे धक्का देकर गिरा देता है और उसकी छाती पर चढ़कर उसका गला दबाने लगता है। चंचला चीख उठती है—बचाओ! बचाओ!"

निर्मला ने माला का पहला पटल देखा और बोली—"आँखें बड़ी-बड़ी और मुँह टेढ़ा कर देने से ही क्या शिकारी का रूप भयंकर हो गया?"

"वाह! तुम्हें भयंकर दीखता ही नहीं!" चंचला ने मन्दस्मित के साथ उत्तर दिया।

निर्मला ने दूसरा पटल देखा और कहा—"इसमें तो शिकारी का चेहरा बिलकुल परिचित सा मालूम होता है!"

"पड़ा होगा कोई मौका तुम्हें!" चंचला ने बिनोद-व्यंग से कहा।

निर्मला ने हँसते हुए तीसरा पटल खोला और कुछ चौंककर और फिर हँसकर कहा—"अरे! यहाँ तो तुमने जीवन का ही चित्र बना दिया है!"

"हटो! बकती हो!"

"बकती नहीं, सच कहती हूँ। किसी से भी पूछ लो। मैं तो शुरू से ही कह रही थी कि चेहरा परिचित-सा मालूम होता है!"

"अच्छा, रहने दो। आगे देखो।"

"नहीं, मैं पिछले चित्र फिर देखूँगी" कहकर निर्मला उन्हें फिर देख गई और बोली—"मुझे तनिक भी सन्देह नहीं, तुम आरम्भ से ही उसी का चित्र बनाने का प्रयत्न करती रही हो।'

"अपनी समालोचना रहने दो, आगे देखो"—कहते हुए चंचला ने पटल उलट दिया।

निर्मला ने पूरी मालिका देख डाली। उसे बहुत अच्छी लगी। परन्तु शिकारी की जगह जीवन का चित्र बनाया गया था, इसमें उसे कोई शंका नहीं रही।

उसने कहा—"चित्र बहुत सुन्दर है; परन्तु शिकारी के स्थान पर जीवन का चित्र बनाकर तुमने अन्याय किया है।"

चंचला ने उत्तर दिया—"इसमें किसी के प्रति न्याय-अन्याय क्या? मान लो उसका ही चित्र है, तो क्या मैंने जान-बूझकर बनाया है?"

"यह चित्र मुझे दे दो। मैं आचार्य और काकाजी को दिखलाऊँगी।" और निर्मला ने चंचला के इनकार कर देने की आशंका से पहले ही उस पर अधिकार कर लिया। चंचला ने बहुत विरोध किया, परन्तु वह उसे लेकर चली गई।

जब उसने सेठजी को चित्र दिखलाये तो उन्होंने चंचला की बहुत प्रशंसा की। निर्मला को इससे संतोष न हुआ। उसने उलाहने के स्वर में जिज्ञासा की—"मगर, काकाजी, किसी बालसखा को बहेलिया के रूप में चित्रित किया जाये तो क्या यह अन्याय नहीं है?"

"तो क्या इसमें किसी बालसखा का चित्र है?"

"हाँ! मैंने सुना है कि आप जीवन को जानते हैं। यह चित्र उसी का है—हू-ब-हू उसका।"

"हाँ, मैंने जीवन को कई वर्ष पूर्व उज्जैन में देखा था—जब चंचला को लाया था।"

"तो आप ही बताइए, काकाजी, मैं ठीक कहती हूँ या नहीं।"

"वैसा ही तो लगता है, परन्तु उसे देखे बहुत दिन हो गये। तूने चंचला से ही क्यों नहीं पूछा?"

"वह स्वीकार नहीं करती, परन्तु मैंने अभी-अभी आगरे में देखा था। ठीक ऐसा ही है।"

"होगा। और यदि ऐसा है तो अन्याय अवश्य है। अच्छा, चंचला को मेरे पास भेज देना। यह चित्र भी छोड़ जाओ।"

निर्मला के चले जाने पर सेठजी ने पूरे चित्र को फिर से देखा और उससे चंचला की मनोदशा को समझने का प्रयत्न किया। वह कई दिनों से चंचला से बातें करने की इच्छा कर रहे थे, किन्तु कार्य-भार के कारण समय न पा सके। आज अनायास ही यह मौका आ गया तो उन्होंने इसका उपयोग कर लेना ही ठीक समझा।

चंचला उनके पास आई तो उन्होंने विनोद में उससे कहा—"तू तो आजकल बड़ी भारी चितेरी बन गई है! चित्रलेखा को भी मातकर रही है!"

चंचला ने विनोद का उत्तर विनोद से देते हुए कहा—"आपका चित्र बना दूँ, काकाजी !"

"हाँ हाँ ! क्यों नहीं ? लम्बी, ऊँची-सी नाक, टेढ़ा मुँह, चढ़ी हुई आँखें........"

चंचला बिना समझे ही जोर से हँस पड़ी और सेठजी की आगे की बात उनके ही हास्य में डूब गई।

सेठजी ने चंचला से उसके स्वास्थ्य की बातें पूछने के बाद कहा—"श्रीकृष्णभाई का पत्र आया है। वह तो जीवन की बड़ी प्रशंसा करते हैं।" चंचला का मुँह लाल हो गया, क्रोध से या लज्जा से, हम नहीं जानते। उसने अपना सिर झुका लिया और कोई उत्तर नहीं दिया। सेठजी ने फिर पूछा—"क्या सोचती है ?"

चंचला फिर निर्वाक् !

"तू बोलेगी नहीं, तो कैसे काम चलेगा ?"

चंचला के सामने जीवन का चित्र घूम गया। उसे ग्वालियर के अपमान की बात स्मरण हो आई और फिर........

उसने उत्तर दिया—"मैं क्या जानूँ इसके बारे में !"

"तू उससे रुष्ट तो नहीं है ?"

"मैं क्यों रुष्ट हूँ किसी से !"

"मैं उसे तय करना चाहता हूँ।"

चंचला सिर नीचा किये पैर की अँगुलियाँ गिनने लगी।

"तुझे कुछ आपत्ति तो नहीं है ?" सेठजी ने प्रश्न किया।

चंचला फिर चुप।

"तेरे मौन से मैं समझता हूँ कि तू सहमत है। अब मैं सीधा पत्र-व्यवहार शुरू करता हूँ।"

"जी नहीं, ऐसा मत कीजिए"—चंचला ने अपना सारा बल इकट्ठा करके कहा।

"क्यों भला ?"

"मैं विवाह नहीं करूँगी।"

"इससे नहीं करेगी या करेगी ही नहीं ?"

"करूँगी ही नहीं—इनसे तो कदापि नहीं।"

"यह पागलपन है," सेठजी ने प्यार से कहा, "सोचकर कहो तो मैं प्रबन्ध करूँ। विवाह कोई बुरी वस्तु नहीं है। विवाह न करना तो अच्छी बात

है, परन्तु तुम्हारे लिए अच्छी न होगी।"

चंचला फिर चुप रही और जब सेठजी ने जोर देकर पूछा तो उसने लज्जा-मिश्रित गम्भीरता के साथ कहा—"मैं कह तो चुकी, उनके साथ नहीं।"

"तो विवाह बिलकुल न करने का विचार छोड़ दिया न ?"

"मुझे अभी पढ़ लेने दीजिए, फिर विचार करूँगी।"

सेठजी प्रयत्न करने पर भी उसके मुख से इससे अधिक कुछ न निकाल सके। अतएव उन्होंने उसे फिर मिलने को कहकर जाने की अनुमति दे दी।

२८

सेवा-पथ पर

"........प्रौढ़ पाठशाला रात्रि पाठशाला, धीरे-धीरे ग्राम-सेवा, समाज-सेवा—कितना काम हम कर सकते हैं!" जीवन ने उत्साहपूर्वक कहा।

लीला ने उसे और भी प्रोत्साहित किया—"बहुत अच्छी कल्पना है, जीवन तुम्हारी। कुछ-न-कुछ अवश्य करना चाहिये। मैं तुम्हारा साथ दूँगी।"

"और मैं भी"—यमुना ने कहा।

"फिर मैं ही कैसे पीछे रहूँगी?" सरस्वती बोल उठी।

परन्तु विनायक ने कहा—"भई मेरी समझ में नहीं आता कि इतनी शीघ्रता क्या है। हम पढ़ाई समाप्त करने के बाद जो चाहें, कर सकते हैं। आखिर पढ़ना-लिखना भी तो समाज की आवश्यक और महत्वपूर्ण सेवा है? पढ़े-लिखे बिना तो हम कुछ भी नहीं कर सकते। सब चार दिनों का खेल होकर रह जायेगा। एक ओर ध्यान लगाने से तो कुछ काम हो भी सकता है, सब ओर हाथ फैलाने से कुछ भी न हो सकेगा।"

"किसी भी शुभ काम में बाधा खोज निकालना तो तुम्हारी आदत है, विनायक!"—सरस्वती ने उसकी बात काटकर कहा—"यदि तुम्हें स्वयं कुछ नहीं करना है तो चुप क्यों नहीं रहते? हम लोग कब तुम्हें अपने साथ घसोटते हैं? तुम बैठे-बैठे किताबों को चाटा करो, अर्थशास्त्र और दर्शन के शाब्दिक सिद्धान्तों की आराधना किया करो..."

"अरे भई, बस भी करो!"—विनायक ने कुछ विनोद करते हुए कहा—"तुम्हारा व्याख्यान तो सूत मुनि के प्रवचन से भी लम्बा होता जा रहा है"

"सरस्वती ठीक तो कहती है विनायक! इसमें व्याख्यान की क्या बात है? तुम्हें स्वयं न आना हो, न आओ, परन्तु हमें क्यों पीछे खींचते हो?"—यमुना ने किंचित् आवेश के साथ कहा।

विनायक ने पूर्ववत् कहा—" आप जरूर जाइए, बहनजी ! जो आप को रोके उसके मुँह में चूहा समा जाये...."

सब लोग हँस पड़े। और विनायक कहता ही गया—

".....आप चलती ही जाइए, चलती ही जाइए। जब तक आप टिम्ब-कटु तक न पहुँच जायें, बराबर चलती जाइये। पढ़ाई-लिखाई बिलकुल छोड़ दीजिये। वृक्षों की छाल, जानवरों के चर्म....... ।"

"हो गया, हो गया ! देख ली आपकी प्रतिभा, टिम्बकटू के पंडित !" सरस्वती ने चुटकी लेते हुए बात काट दी।

यमुना और लीला तालियाँ बजाकर हँस पड़ीं। जीवन और विनायक ने भी साथ दिया।

"तो तय रहा, जीवन ?"

"तय रहा।"

"कल से ?"

"नहीं, परसों से।"

"सही। पर भूलना मत।"

और 'परसों' जो आया तो शहर के भिन्न-भिन्न भागों में तीन प्रौढ़ पाठशालाएँ खुल गईं एक रात्रि पाठशाला पुरुषों के लिए, दो मध्याह्न पाठ-शालाएँ स्त्रियों के लिए। धीरे-धीरे प्रत्येक में आशातीत उपस्थिति होने लगी। ये युवा शिक्षक-शिक्षिका अपनी-अपनी शालाओं में रामायण, महाभारत तथा अन्य धार्मिक ग्रंथ और समाचार-पत्र पढ़कर सुनाते, उन पर अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार प्रवचन करते और थोड़ा-सा समय अक्षर-ज्ञान देने में व्यतीत करते। सायंकाल लीला के घर में सब की बैठक होती और किये हुए काम पर चर्चा की जाती तथा अगले दिन की योजना पर विचार होता। विनायक भी इस 'सभा' में यथारुचि भाग लेता और अधिकतः सब से विनोद करता रहता।

शालाएँ चलती रहीं और इन युवा शिक्षक-शिक्षिकाओं की ख्याति तथा लोकप्रियता बढ़ती रही। पढ़नेवाले सभी स्त्री-पुरुषों में उनके शील-स्वभाव और उनकी सेवावृत्ति की चर्चा होती। शीघ्र ही समस्त नगर में चर्चा फैल गई और कुछ प्रमुख नागरिकों ने भी इन शालाओं में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया। शालाओं के लिए उपयुक्त भवन उपलब्ध हो गये और आवश्यक व्यय के लिए कुछ आर्थिक सहायता का अश्वासन भी मिला।

अब विनायक उनसे अलग न रह सका और उसने भी उनके साथ मिलकर एक दूसरे मुहल्ले में पुरुषों की रात्रि पाठशाला खोल दी। स्त्रियों की

भी एक शाला और खुली। इस प्रकार इस मित्र मंडली के प्रत्येक सदस्य के जिम्मे एक-एक पाठशाला हो गई और सब पाठशालाएँ अच्छी तरह चलने लगीं। इन पाठशालाओं में धीरे-धीरे छोटे-छोटे हस्तोद्योग भी शुरू किये गये।

शालाएँ दो-तीन मास तक चल चुकीं तो एक दिन कालेज के आचार्य महोदय अपने छात्रों और छात्राओं का यह सेवा-कार्य देखने के लिए गये। सब कार्य देखकर उनके मन पर इतनी अच्छी छाप पड़ी कि उन्होंने कालेज की सभा में इस मित्र-मंडली के आदर्शों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की और अन्य छात्रों को इसका अनुकरण करने की प्रेरणा दी।

शालाएँ अभी अपने शैशव-काल में थीं, किन्तु 'होनहार बिरवान के चीकने पात' दिखलाई पड़ने लगे थे। उत्साही कार्यकर्ता और कार्य-कर्त्रियाँ अपना जीवन खपा रहे थे। उनमें सेवा की शक्ति और सत्य की धुन थी। चरित्र के सम्बन्ध में तो हम क्या कहें ? और क्यों कहें ?

परीक्षा-पिशाचिनी समय के व्यवधान को लम्बे-लम्बे डगों से काटती हुई, भीषण अट्टहास करती निकट आती जा रही थी। शूरवीर निधड़क मैदान पर डटे हुए थे और कायरों के हृदय जवाब देने लगे थे। जो सो रहे थे वे जागने लगे; जो जाग रहे थे, वे दौड़ने लगे।

पिशाचिनी अपनी दोनों मुट्ठियाँ बाँधे पूछ रही थी—"कौन-सी लोगे बोलो, सोच के मुँह को खोलो।"

किसीने डरते-डरते प्रश्न किया—"तुम्हारी मुट्ठियों में क्या है ?"

उसने कहा—"मेरी दाहिनी मुट्ठी में पश्चात्ताप और बाईं मुट्ठी में अभिशाप है।"

"समझाओ, हम नहीं समझे।"

"इतना भी नहीं समझते तो स्कूल-कालेज छोड़ दो। यही समझाने के लिए तो आधुनिक शिक्षा का आरम्भ होता है ; इसीको समझने में उसका पर्यवसान है। अच्छा सुन लो—मेरी दाहिनी मुट्ठी में ज्ञान है, पर बेकारी भी है ; महत्त्वाकांक्षा है, पर साधनहीनता भी है ; बुद्धि है, पर कार्य-शक्ति का अभाव भी है ; महत्त्व है, पर दासता भी है ; अभिमान है, पर अपमान भी है; आँखें हैं, पर देखने की वस्तुओं का दुर्भाव भी है........मेरी बाईं मुट्ठी में लालसा है, पर-मुखापेक्षण है, ठोकरें हैं, दयनीयता है........"

"बस करो, बस करो ! अब नहीं सुना जाता। तुम्हें आना ही है तो मूक बनकर आओ। तुम बकासुर की बहन बनकर आ रही हो। हम सब अपना-

अपना हिस्सा तुम्हारे उदर-समर्पण कर देंगे। कृपा कर अपने दाँत बन्द कर लो, मुट्ठियाँ समेट लो, हम स्वयं तुम्हारे निकट आते हैं........"

और जब सम्पूर्ण विद्यार्थी-समाज इस प्रकार परीक्षा की ओर दौड़ा चला जा रहा था, तब जीवन और उसके साथियों ने निश्चय किया कि हम परीक्षा में सफल हों या विफल, अपनी शालाओं के कार्य में व्याघात न पहुँचने देंगे। यह जीवन की प्रेरणा थी और यद्यपि शेष सब ने इसे स्वीकार कर लिया था, तथापि उनके मन में एक आशंका-सी, आतुरता-सी समा गई थी। विनायक तो स्वभाव से ही अधिक अध्ययनशील था और वह अपने समय को स्पष्ट रेखाओं से विभाजित रखता था। उन रेखाओं का अतिक्रमण उसके लिए असम्भव-सा हो गया था। अब उसने अनेक रेखाएँ मिटा दीं और केवल एक मोटी रेखा रह गई—उसकी शाला और उसके अध्ययन के बीच। शेष व्यक्ति अपनी शालाओं में मग्न थे। वे शालाओं की आवश्यकता पहले पूरी करते और जो समय बच जाता उसमें अपना अध्ययन कर लेते थे।

जीवन ने कहा—"हमें यही क्रम रखना होगा और फिर भी उत्तीर्ण होना होगा। अध्ययन में समय अधिक लगाने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु ध्यान अवश्य अधिक लगाना चाहिए।"

सब ने उसकी बात मान ली और प्रत्येक कार्य में उत्कटता बढ़ गई।

कालेज के कुछ छात्र—वे कौन थे, इसका अनुमान करना कठिन न होगा—हृदय से चाहते थे कि जीवन और उसके साथियों की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा कुछ ऐसा धक्का खाये कि फिर उठकर खड़ी न हो सके। परन्तु होता गया बिलकुल इसका उलटा। शालाओं की लोक-प्रियता बढ़ती गई, उनके पाठ्यक्रम में भी सुधार हुआ। इन सेवा-मार्गियों ने अपनी शालाओं में आनेवाले लोगों के व्यक्तिगत जीवन से जो अपना सम्पर्क स्थापित किया, उनमें जो घुलने-मिलने लगे, उनके सुख-दुःख में जो हिस्सा बँटाने लगे, उस सबसे इनकी लोक-प्रियता और प्रतिष्ठा भी न केवल दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ीं, वरन् सुरक्षित हो गई।

शालाओं के कार्य में वैज्ञानिकता आती गई।

सेवकों का अध्ययन-कार्य भी पिछड़ा न रहा।

उनके कतिपय सहपाठियों का ईर्ष्या-द्वेष भी बढ़ता गया।

और उस रात को, जब शीत कड़ाके की पड़ रही थी, सूट-बूट से सजे, शाल-दुशाले लिये, सिगरेट का धुआँ उड़ाते हुए, तेज दीपक के प्रकाश में बैठे उन दर्जन भर युवकों ने क्या किया?

एक ने कहा—"यह तो चलने नहीं दिया जा सकता।"

दूसरा—"कुछ उपाय भी बताओ।"

तीसरा—"मेरी समझ में नहीं आता, हमें उनके पीछे क्यों पड़ना चाहिए!"

पहला—"समझ में नहीं आता तो तुम्हें चुप रहना चाहिए।"

तीसरा—"और आपका साथ देना ही चाहिए?"

पहला—"जी हाँ, सरकार! न देना हो तो आप यहाँ से जा सकते हैं।"

तीसरा—"यह खूब रही!"

चौथा—"आखिर बात बढ़ाने में क्या मिलता है, आपको?"

तीसरा—चुप।

पहला—"हाँ, तो कुछ करना अवश्य होगा।"

पाँचवाँ—"आप कहते क्यों नहीं? हम सब तैयार हैं।"

पहला—"पहले किसी तरह उनके स्कूल बन्द कराये जायें।"

पाँचवाँ—"कैसे?"

पहला—"यह क्या बड़ा कठिन है? स्त्रियों के स्कूलों में बात फैला दी जाये कि वे लड़कियाँ चरित्रहीन हैं। वे स्कूल तो इतने से ही बन्द हो जायेंगे। मेरे ड्राइवर की स्त्री राधा भी वहाँ पढ़ने जाती है। बड़ी चतुर-चालाक है। उससे इस काम में बहुत सहायता मिलेगी।"

तीसरा—"यह कदापि नहीं हो सकता। यह नीचता है। हम उन्हें व्यर्थ ही सताया करते हैं।"

चौथा—"ओह! यह तो उनके जासूस मालूम होते हैं!"

तीसरा—"या मुझमें अभी इतनी नीचता नहीं आई?"

पहला—"यहाँ आप-जैसे भले आदमियों का काम नहीं है। आप चले जाइए।"

तीसरा—"मैं यह चला। परन्तु याद रखना, यदि अब आप लोगों ने कोई नीचता की तो परिणाम अच्छा न होगा। मैं सारी बातें खोल दूँगा—"

पहला—"जा जा! तुमसे जो बने, कर लेना।"

वह चला गया। गुट का काम उस पर कुछ दुर्वाद की वृष्टि करने के बाद फिर पूर्ववत् आरम्भ हो गया।

पहला—"तो इस तरह स्त्रियों के स्कूल बन्द हो जायेंगे!"

पाँचवाँ—"बिलकुल ठीक!"

और भी कुछ लोगों ने हाँ में हाँ मिलाई।

पहला—"रही जीवन की बात, सो... ...."

पाँचवाँ—"वह हम समझ गये।"

पहला—"तो फिर कल ही काम शुरू हो जाये।"

कुछ लोगों ने स्वीकृति दी, कुछ चुप रहे।

पहला—"आप सब करेंगे न ?"

पाँचवाँ—"हाँ हाँ! करेंगे क्यों नहीं ? क्यों भाइयो, जिसको न करना हो वह अभी कह दे। बाद को धोखा नहीं होना चाहिए।"

इस पर कई ने अपने-अपने कारण बताकर साथ देने से इनकार कर दिया। दूसरे व्यक्ति ने साफ कहा कि मुझे यह सब बातें पसन्द नहीं है। इस पर उसका अपमान किया गया।

दूसरे दिन से ही उनका काम शुरू हो गया। लोगों में छुटपुट चर्चाएँ होने लगीं। परन्तु जीवन आदि का काम उसी प्रकार उत्साहपूर्वक जारी रहा। जब कोई विद्यार्थिनी बीमार हो जाती तो 'शिक्षिकाएँ' उसके घर जाकर शुश्रूषा करतीं। किसी के घर बच्चा पैदा होता या छोटा बच्चा होता तो वे माता और शिशु दोनों की परिचर्या करतीं और स्त्रियों को बाल-संगोपन का शास्त्रीय ढंग बतलातीं। त्योहार-बार में अपनी विद्यार्थिनियों के घर जाकर उन्हें त्योहारों का महत्त्व और उन्हें अच्छे-से-अच्छे ढंग से मनाने की रीतियाँ बतातीं। जीवन और विनायक अपने पुरुष विद्यार्थियों के साथ इसी प्रकार प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करते। और सब मिलकर अपने विद्यार्थी-विद्यार्थिनियों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्हें छोटे-छोटे कला-कौशल सिखाते। कला-कौशल के प्रति आकर्षण बढ़ाने के उद्देश्य से उन्होंने उनकी बनाई हुई वस्तुओं की प्रदर्शनी करने का निश्चय किया। उसकी तिथि निश्चित कर दी गई और जोरों से तैयारियाँ होने लगीं।

आचार्य और अध्यापकों को मलूम हुआ तो वे बहुत प्रसन्न हुए। आचार्य ने कहा—"इतने परिश्रम से तुम लोग परीक्षा के समय बीमार न पड़ जाना।"

स्वजन-परिजनों ने कहा—"पढ़ाई गई!"

देखनेवाले कहते—"ये दीवाने हो गये हैं।"

परन्तु काम उसी वेग से चलता रहा।

२६

विष में अमृत

करुणाशंकर के ड्राइवर ने जब अपनी पत्नी को अपने मालिक का प्रस्ताव सुनाया तो सबसे पहले उसने ऐसा षड्यंत्र रचने से साफ इनकार कर दिया। परन्तु जब उसके सामने नौकरी की समस्या प्रस्तुत की गई तो उसने बेमन के उसे स्वीकार कर लिया और अपनी 'शिक्षिकाओं' की बदनामी फैलाने में थोड़ा-बहुत योग देने लगी।

जब प्रदर्शनी के दो-तीन दिन शेष रह गये तब एक दिन पाठशाला में चर्चा छिड़ गई। पार्वती ने रहस्यमयी हँसी हँसते हुए सुलोचना से कहा—"सुना है, मास्टरनीजी बड़ी रँगीली हैं।"

"हाँ, बाई! जहाँ देखो, यही सुनाई देता है"—सुलोचना ने जरा मुँह मटकाकर कहा।

यह सुनकर तारा से न रहा गया। उसने कहा—"मेरे घर में भी तो बातें हो रही थीं। कहते थे, अब स्कूल जाना बन्द कर दो।"

सुलोचना—"मैं तो दूसरे स्कूल में जाया करूँगी। परदर्सनी हो जाये फिर यहाँ न आऊँगी।"

"यह स्कूल और वह स्कूल सब एक से हैं, बाई! कह रहे थे कि इन लोगों का एक गुट है। बहुत से जवान लड़के-लड़कियाँ एक साथ रहते हैं। धरम-करम कुछ नहीं मानते। सिर्फ अपनी बदनामी बचाने के लिए ये स्कूल खोल रखे हैं"—राधा ने कहा।

"मेरे घर में बात हो रही थी कि मास्टरनी बाई अपने एक दोस्त के साथ शराब पिये बन्द कमरे में पकड़ी गई थीं"—सविता ने नई चिनगारी छोड़ी।

सुलोचना ने तार को खींचा—"सच तो है, बाई! वह मामला तो पुलिस के पास गया था। कहते हैं, कुछ भले आदमियों ने बीच-बचाव कर दिया, नहीं जेल जाने तक की नौबत आ गई थी।"

पार्वती—"ऐसे स्कूल में हम कैसे आयेंगी बहन !"

"मैं तो अब नहीं आऊँगी ।"

"मैं भी ।"

"सच तो है, बाई, कौन झंझट में पड़े ! मैं भी नहीं आऊँगी ।"

राधा ने अपना ब्रह्मबाण फिर छोड़ा—"ऐसा क्या डर पड़ा है ? हम पवित्तर हैं तो हमारा कौन क्या बिगाड़ सकता है ? फिर आप लोग न आयेंगी तो मैं भी न आऊँगी । मगर हम सबको सलाह से काम करना चाहिए । आयें तो सब आयें, नहीं तो कोई न आये ।"

सविता—"ठीक तो है । पूछ लो न सब से ।"

राधा—"तुम्हीं पूछो भई ! मुझे तो बात करना नहीं आता ।"

"हाँ हाँ ! मैं पूछती हूँ । इसमें क्या है ! बोलो बहनो, कौन क्या कहती हो ? मेरी सलाह तो है कि कल से स्कूल में ताला ही पड़ जाये ।"

"ताला क्यों पड़ जाये ?"—माधुरी ने आवेश से कहा—"जिसे न आना हो, न आये । हम तो आयेंगी ।"

"और क्या, बहन ! मास्टरनी बाई ऐसी नहीं हैं"—सुमति बोली ।

माधुरी—"अरे ! दुश्मनों ने उड़ा दिया ।"

"हाँ बाई, वो तो कैसी देवी जैसी मालूम होती हैं । हमें तो गुन लेना है । हम तो आयेंगी"—विमला ने कहा ।

और, बहुत-सी बोलीं और बहुत-सी नहीं बोलीं । परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन यमुना की पाठशाला की उपस्थिति आधी रह गई । यमुना ने सब बातें सुनीं तो एक-एक के घर गई, परन्तु जो नहीं आनेवाली थीं वे कैसे आतीं ?

दूसरे स्कूलों की स्त्रियों ने सुना तो उनमें भी सनसनी फैल गई । किसी ने कहा कि उस स्कूल में वारदात हो गई है । किसी ने समर्थन किया, किसी ने विरोध किया ; परन्तु दूसरे दिन उनकी भी उपस्थिति घट गई ।

दूसरे दिन प्रदर्शनी थी । शाम को मित्रमण्डल की बैठक में निश्चय किया गया कि सब मिलकर बहिष्कार करनेवाली महिलाओं के घर जायें और उन्हें तथा उनके घर के पुरुषों को समझाकर दूसरे दिन की प्रदर्शनी में यथावत् भाग लेने के लिए उन्हें राजी करें ।

यह कार्यक्रम तुरन्त आरम्भ कर दिया गया और वे घर-घर घूमने लगे ।

रात अधिक बीत गई । जब ये लोग बाजार के चौराहे से निकले तो वहाँ कुछ छिपी हुई हलचल दिखलाई पड़ी । थोड़ी ही देर में एक व्यक्ति सामने

से आया और लीला को जोर का धक्का देता हुआ सब के बीच से आगे बढ़ गया। इधर लीला गिरती-गिरती बची, उधर जीवन ने लपककर उस व्यक्ति का हाथ पकड़ा और कड़ककर कहा—"क्यों, अन्धे हो ?"

सब लोगों ने उसे घेर लिया, परन्तु उसने निर्भीकता के साथ सामना करते हुए उत्तर दिया—"सारी सड़क घेरकर चलोगे तो धक्का न लगेगा, क्या तुम्हारे पैर पूजे जायेंगे ? छोड़ दो मेरा हाथ !"

विनायक ने लपककर उसे जोर का तमाचा जड़ दिया और कहा—"गुंडाशाही मचा रखी है !"

आततायी ने झटका देकर जीवन से अपना हाथ छुड़ा लिया और वह विनायक से भिड़ गया। विनायक अकेला ही उसके लिए बस था। वह उसकी अच्छी मरम्मत करने लगा। इतने ही में पीछे से उसके सिर पर एक लाठी पड़ी और वह खूनाखून होकर भूमि पर लोट गया। जीवन जैसे ही उसकी सहायता के लिए दौड़ा वैसे ही उस पर भी लाठियाँ बरसने लगीं। दोनों पर कितनी लाठियाँ बरसीं, इसका अनुमान करना कठिन है। लीला आदि ने कुछ झगड़ने का प्रयत्न किया, कुछ शोर मचाया। परन्तु लोगों के इकट्ठा होने के पूर्व ही आततायी लापता हो गये। जीवन और विनायक को बेसुध अवस्था में अस्पताल पहुँचाया गया।

कालेज में यह समाचार फैला तो वहाँ दो दल हो गये। एक दल ने आचार्य और अध्यापकों की प्रेरणा से जीवन द्वारा आयोजित प्रदर्शनी को सफल करने का बीड़ा उठाया। वह तत्परतापूर्वक उस कार्य में जुट गया। दूसरा दल जीवन की मित्रमंडली के विरुद्ध लोगों को भड़काने में प्रवृत्त रहा, परन्तु यह दल बहुत छोटा और नगण्य था।

प्रदर्शनी का उद्घाटन ठीक समय पर बड़ी धूमधाम से किया गया। संकट ने सारे नगर की सहानुभूति को इन कार्यकर्ताओं की ओर आकृष्ट कर दिया। सब प्रौढ़ शिक्षार्थिनियाँ भी अपना भेदभाव भुलाकर प्रदर्शनी में सम्मिलित हुईं। उद्घाटन के अवसर पर कालेज के आचार्य ने एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी भाषण में इन युवा सेवकों की प्रशंसा और रात्रि की दुर्घटना की निन्दा की। उन्होंने जनता से अपील की कि वह इन कार्यकर्ताओं की हर प्रकार से मदद करे।

एक धनिक सज्जन ने प्रदर्शनी देखने के बाद आचार्य से कहा कि यदि इन पाठशालाओं के संचालन के लिए विधिवत् समिति बना दी जाये तो मैं एक बड़ी इमारत उसे दान करने के लिए तैयार हूँ।

इधर धूमधाम से प्रदर्शनी हो रही थी, उधर जीवन और विनायक अस्पताल में बेहोश पड़े हुए थे। डाक्टर उदास थे और उनका कहना था कि मनुष्य का अधिकार केवल प्रयत्न पर है, फल ईश्वर ने अपने अधिकार में रखा है। वह बड़ी लगन और तत्परता के साथ दोनों का उपचार तथा देख भाल कर रहे थे। लीला आदि तीनों सखियाँ प्राणपण से उनकी शुश्रूषा में निरत थीं। आचार्य, अध्यापक और कालेज के लगभग सभी छात्र शुभ संदेश सुनने की आशा से बार-बार वहाँ जाते थे। नगर के अनेक गण्यमान्य सज्जनों ने भी सहानुभूतिपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन किया। सभी पाठशालाओं के प्रौढ़ों पर चिन्ता की छाया पड़ गई थी। वे दोनों की प्राण-रक्षा के लिए हार्दिक प्रार्थनाएँ कर रहे थे।

पंद्रह दिन बाद दोनों की हालत में सुधार हुआ और वे खतरे से बाहर हो गये। परन्तु पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करने में उन्हें महीनों लग गये।

इसी बीच परीक्षा आई और चली गई। दोनों मित्र यांत्रिक युग की यांत्रिकता के शिकार हो गये। उनके लिए परीक्षा कैसे रुक सकती थी? और विश्वविद्यालय की परीक्षाएँ जो ठहरीं। फिर से भी तो नहीं ली जा सकतीं!

एक दिन जीवन और विनायक लीला आदि के साथ बैठे हुए अपनी पाठशाला के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर रहे थे। इसी बीच करुणाशंकर वहाँ आ पहुँचा। यद्यपि विनायक आदि की इच्छा नहीं थी, फिर भी जीवन ने उसे आदर के साथ बैठाया।

करुणाशंकर ने आते ही शुरू किया—"मैं आपका उपकार कभी नहीं भूल सकता। आपसे क्षमा-याचना के लिए आया हूँ।"

जीवन ने किंचित् आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"यह आप क्या कह रहे हैं? कौन-सा उपकार और किस बात की क्षमा-याचना, भाई?"

"जब आप जेल की लम्बी सजा दिला सकते थे, आपने मुकदमे में मदद करने से इनकार करके मुझे और मेरे साथियों को बचा लिया"—करुणा-शंकर ने कहा।

"तो क्या यह सब आपने ही कराया था?"

शेष लोगों के चेहरों पर रोष की लालिमा दौड़ गई।

करुणाशंकर ने लज्जित होकर उत्तर दिया—"अब उस बीते हुए अध्याय को फिर मत खोलिए। मैं बहुत लज्जित हूँ। भाई विनायक और बहनो, मैं आपसे भी क्षमा-प्रार्थी हूँ।

"भाई, क्षमा माँगने की क्या बात है? और क्षमा करनेवाले हम कौन

हैं ? मनुष्य को मनुष्य के प्रति जैसा व्यवहार करना चाहिए वैसा ही हमने किया है। उसमें हमारी बड़ाई क्या ? यदि तुम्हें सच्चा पश्चात्ताप हो तो पर्याप्त है। हम समझेंगे कि ईश्वर हमारे हाथ से इतना भला काम कराना चाहता था और वह हो गया"—जीवन ने गद्‌गद होकर उत्तर दिया।

"मैं उपकृत हूँ। पर क्या मैं आप लोगों की कोई सेवा नहीं कर सकता ?"

"हम तो स्वयं सेवक हैं, भाई ! करना हो तो अपार जनता पड़ी है। उसकी सेवा करो !"

"क्या आपकी किसी सेवा में मैं योग नहीं दे सकता ?"

"अवसर आयेगा तो हम आपको सूचित करेंगे।

"अवश्य कीजिए। परन्तु इस समय मेरी और मेरे पिताजी की इच्छा......"

"बोलिए, बोलिए, आप तो मित्रों से भी संकोच कर रहे हैं।"

"पिताजी आपकी पाठशालाओं को दस हजार रुपये दान करना चाहते हैं।"

"बड़े हर्ष की बात है। यह तो जनता की ही सेवा है। मैं आचार्य से सलाह करके उत्तर दूँगा"—जीवन का हृदय उमड़ पड़ा।

"हमारी यह छोटी-सी सेवा......!"

"नहीं नहीं ! आपका यह महान हृदय-परिवर्तन !"

× × ×

गर्मी की छुट्टियों के अन्त में, जब कालेज खुलने के कुछ ही दिन शेष रह गये, जीवन के मन में एक नया संघर्ष आरम्भ हुआ—वह कालेज जाये या अपनी समस्त शक्ति सेवा में लगा दे ?

"अध्ययन ? क्या होगा अध्ययन से ?" उसने सोचा—"चार पुस्तकें अधिक पढ़ लेने के लिए और दो-चार परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लेने के लिए, क्या जीवन का यह अमूल्य समय नष्ट किया जा सकता है ? क्या जनता-जनार्दन की सेवा में अपने जीवन के एक-एक पल को व्यय कर देना, अपने रक्त की एक-एक बूँद को सुखा देना अधिक अच्छा नहीं है ?......

"......और 'वह' भी तो यह पसन्द करती है ! 'उसके' जीवन का भी तो यही उद्देश्य है ! हम दो दीवाने मिल जायेंगे तो कितना काम होगा ! हमारी आत्माएँ एक-दूसरे के कितने निकट पहुँच जायेंगी ! कोई दिन होगा, जब इस सेवा का भी फल मिलेगा......

"परन्तु यह क्या ? क्या मेरी अन्तरात्मा में चोर छिपा है ? क्या मैं इस फल के लिए ही सेवा करना चाहता हूँ ? छिः यह भावना दूर करनी होगी। केवल सेवा के लिए सेवा। सेवा के समक्ष दूसरी सब वस्तुएँ गौण।....

"परन्तु क्या मैं चंचला के प्रेम को, उसकी स्मृति को गौण बना दूँ ? उसे किसी दूसरी वस्तु में विलीन कर दूँ ? नहीं, यह नहीं हो सकता। मेरे जीवन के दो साम्राज्य होंगे। एक की अधीश्वरी होगी चंचला, उसकी स्मृति; दूसरे का अधीश्वर होगा जनता-जनार्दन। जब तक ये दोनों साम्राज्य स्वयं ही एक-दूसरे में विलीन न हो जायें तब तक मुझे इनको घटाने-बढ़ाने का कोई अधिकार नहीं......"

और उसने निश्चय कर लिया कि अब कालेज न जाऊँगा।

३०

भूत उतर गया

सुँचला जब से आगरे से लौटी उसके मन में उसके ही भाषण के ये शब्द बराबर गूँजते रहे- -"मैं सात करोड़ अभागे अस्पृश्यों को छोड़ नहीं सकती, उनके ही साथ डूबना और उनके ही साथ उबरना चाहती हूँ।" उसका मन बराबर उसे प्रोत्साहित करता—डूबने का विचार ही क्यों, हम उबरेंगे और समस्त मानवजाति के साथ बराबरी से रहेंगे। परन्तु इसका उपाय उसकी समझ में न आता। महात्मा गांधी का कार्यक्रम उसे बहुत धीमा और दूसरों की सद्भावना पर अवलम्बित मालूम होता। उससे उसको संतोष न होता था। सामुदायिक संघर्ष को वह देश के लिए घातक समझती। इसमें उसे अन्याय मालूम होता कि मानवता के मूल अधिकारों को प्राप्त करने के लिए भी सात करोड़ लोगों को अपनी उन्नति करने का उपदेश किया जाये। घूम-फिरकर वह सामुदायिक धर्म-परिवर्तन की कल्पना पर जा-टिकती। धीरे-धीरे यह कल्पना उसके मन में जड़ें जमाने लगी।

एक दिन जब वह इसी प्रकार के विचारों में डुबकियाँ लगा रही थी और अपने कार्य में सहायता देने योग्य व्यक्तियों की गिनती कर रही थी तब उसने अकस्मात् सुना कि आचार्य उमापति ने त्यागपत्र दे दिया है। उन्हें उसने अपने सहायकों की सूची में ऊँचे स्थान पर रखा था और जब वह दूर होते दिखे तो स्वभावतः ही उसे दुःख हुआ।

उसने आचार्य के पास जाकर पूछा—"आखिर आप जा क्यों रहे हैं?"

"तुम लोगों से बहुत मोह हो गया है। उसे तोड़ना है न ?"—आचार्य ने हँसकर उत्तर दिया।

"तब तो आपको जंगल में जाकर रहना होगा। मोह के लिए सभी जगह लोग मौजूद रहते हैं"—उलाहना मिला।

"हाँ, जंगल में ही तो जा रहा हूँ। जहाँ तुम सब न हो, वह स्थान

जंगल नहीं तो क्या है ?"—फिर हँसी के साथ उत्तर मिला।

चंचला और अन्य छात्राओं ने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु आचार्य के जाने का निश्चय अटल रहा। उन्होंने चलते-चलते छात्राओं से कहा—

"......हत्या करना पाप है आत्महत्या करना उससे भी बड़ा पाप है और अपने हृदय की हत्या करना सबसे बड़ा पाप है......"

उन्होंने और कहा—"पौधे में कली लगती है तो मनुष्य उसकी ओर आशा भरी दृष्टि से देखते हैं, वह खिलती है तो वे उसकी लालसा करते हैं; परन्तु जब वह मुरझा जाती है तो कोई उसकी ओर देखता भी नहीं......

"जीवन खिले हुए फूल के समान प्रफुल्लित, सौरभपूर्ण, पवित्र और आकर्षक होना चाहिए। उसे कुम्हलाने न दो। हृदय जाग्रत और विकसित हो तो यह संभव है। अतः हृदय को जाग्रत और विकसित रखो। पवित्रता की डोर में बाँधकर उसे अनन्त गगन में मुक्त उड़ान भरने दो। दूसरे सब बंधनों को झटक दो, तोड़ दो........"

आचार्य के इन शब्दों में चंचला को सात करोड़ अस्पृश्यों की समस्या हल करने के लिए एक महामंत्र छिपा दिखलाई पड़ा। उसने सोचा—हिन्दू समाज ने अस्पृश्यता का व्यवहार करके सबसे बड़ा प्रहार हरिजनों के हृदय पर, उनकी आत्मा पर किया है। फलतः सात करोड़ मानवों का विशाल समाज आज कीड़े-मकोड़ों के समान अपनी स्थिति से सन्तुष्ट दिखलाई पड़ता है। महत्वाकांक्षा और आत्मगौरव उसके लिए पराई वस्तुएँ हो गई हैं। यदि उसमें ये दोनों जाग्रत हो जायें, यदि वह अपने-आपको दूसरे से ओछा न समझे, तो तीन-चौथाई काम पूरा हो जायेगा।

परन्तु जब तक अस्पृश्यता मौजूद है महत्वाकांक्षा और आत्मगौरव का जागरण असम्भव है। अतएव अस्पृश्यता-निवारण की मूल समस्या फिर भी शेष रह जाती है। पहले यह, शेष बाद को। धर्म-परिवर्तन इसके लिए उसे जादू की लकड़ी जैसा जान पड़ता।

आचार्य उमापति जा रहे थे और यह अनुमान तो किया ही नहीं जा सकता था कि फिर कब उनसे भेंट होगी, इसलिए चंचला ने उनसे अपनी इस समस्या पर बातें कर लेना आवश्यक समझा और उसने कहा—

"जिनके हृदयों को बिलकुल कुचल दिया गया हो, वे क्या करें, आचार्य ?"

"किसी के हृदय को कोई दूसरा कुचल नहीं सकता। मनुष्य स्वयं अपने हृदय को कुचलता है।"

"क्या सात करोड़ हरिजनों पर भी यही बात लागू है ?"

"हरिजनों के हृदय कुचले नहीं हैं। उन पर आवरण पड़ गया है, जिसके बाहर वे स्फुरित नहीं हो सकते। क्या हरिजन अपने बाल-बच्चों को देखकर प्रसन्न नहीं होते ? क्या झरनों, प्रपातों और उद्यानों की शोभा से उनके हृदय में आह्लाद उत्पन्न नहीं होता ? सूर्य और चन्द्र, तारों और मुक्त आकाश को देखकर उनके हृदय उमंगित नहीं होते ?........"

"परन्तु क्या आप जानते हैं कि जब हमें हरिजन कहकर दूर-दूर रखा जाता है, बराबरी का व्यवहार करना तो दूर, अस्पृश्य मानकर हम से घृणा की जाती है, तो हमें कितनी पीड़ा होती है ?"

"इस व्यवहार का अन्त अब निकट आ गया है। महात्मा गांधी की समर्थ भुजाओं का प्रहार यह बहुत दिन तक झेल न सकेगा।"

"महात्मा गांधी का कार्यक्रम दीर्घकालीन और दूसरों की सद्‌भावना पर अवलम्बित है। उससे मुझे संतोष नहीं होता।"

"महात्मा गांधी का कार्यक्रम तुम शायद समझीं नहीं। फिर भी, तुम्हें कोई दूसरा कार्यक्रम सूझता है ?"

"हाँ, मुझे लगता है कि सामुदायिक धर्म-परिवर्तन तात्कालिक और प्रभावोत्पादक उपाय होगा।"

"कैसे ?"

"हम हिन्दू धर्म में न रहे तो अस्पृश्यता आपों-आप मिट जायेगी, अस्पृश्यता के मिटने से हमारी अन्य बाधाएँ मिटेंगी, हमारे हृदय खिल सकेंगे, हम में आत्मगौरव उत्पन्न होगा और हमारी अन्य प्रकार की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।"

"बड़ी भ्रान्त कल्पना है, चंचला। धर्म से अस्पृश्यता का क्या संबंध ? अस्पृश्यता का मूल तो रूढ़ियाँ हैं। यदि रूढ़ियाँ सुरक्षित हैं तो जो आज अस्पृश्य माने जाते हैं, वे कल भी माने जायेंगे, भले ही वे अपने-आपको किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न कहने लगें। हाँ, अपने-आपको पूरा ही बदल दिया जाय तो यह अवश्य हो सकता है। इसके लिए अपना नाम, अपना रूप, अपना काम, अपना स्वभाव, सब-कुछ बदलना होगा, जिससे बिलकुल पहचाना न जा सके। यह सब हो सकता है ?"

"नहीं।"

"तो फिर यदि उसका मूल ही गलत है तो आगे बढ़ने का क्या प्रश्न ?"

"परन्तु महात्मा गांधी के कार्यक्रम से तो हमारी उन्नति के लिए सैकड़ों

वर्षों की आवश्यकता होगी। इतने पर भी सबकी उन्नति हो ही जायेगी, यह निश्चय नहीं!"

"तुम्हारी पहली बात यदि सही हो तो समाज के जीवन में इतना समय बहुत बड़ा नहीं होता। परन्तु, वह सही नहीं मालूम होती। महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से चतुर्मुखी आक्रमण किया है। इतने ही दिनों में उसका जीर्ण-शीर्ण गढ़ गिरने पर आ गया है।"

"कैसे ?"

"अस्पृश्यता के दो आधार हैं—जन्म और धंधा। गांधीजी ने सीधा आन्दोलन किया कि जन्म के आधार पर अस्पृश्यता धर्म-सम्मत नहीं है। अधिकांश लोगों ने बौद्धिक रूप से इस मत को स्वीकार कर लिया है। धंधागत अस्पृश्यता को मिटाने के लिए उन्होंने श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित की और उसमें भंगी, चमार आदि के कामों को, जो हमारे समाज में सबसे घृणित समझे जाते हैं, विशेष महत्त्व दिया। अब जैसे-जैसे यह प्रतिष्ठा बढ़ती जायेगी, वैसे-वैसे इन पर आधारित अस्पृश्यता भी मिटती जायेगी। एक तीसरी बात और है। मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा, आर्थिक स्थिति और रहन-सहन का परिणाम उसकी सामाजिक मान-प्रतिष्ठा पर पड़ता है। गांधीजी के कार्यक्रम में हरिजनों के लिए इन सब बातों की व्यवस्था है और उन्हें अविलम्ब उन्नति आरम्भ कर देने का अवसर प्राप्त है। उन्हें इससे लाभ उठाना चाहिए।"

"आपके कहने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमें अस्पृश्यता की चिन्ता छोड़कर सीधे अपनी उन्नति के कामों में जुट जाना चाहिए ?"

"निःसन्देह ! अस्पृश्यता अब रही ही कहाँ ? अब तो कानून भी उसका विरोधी होता जा रहा है।"

"मुझे क्या करना चाहिए ?"

"यदि तुम हरिजन-कार्य करना चाहती हो तो समस्त हरिजनों को बताओ कि अब वे अस्पृश्य नहीं रहे। उन्हें स्वास्थ्य, सफाई और साधारण ज्ञान की शिक्षा दो। उद्योग सिखाकर उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करो।"

आचार्य के इस विदाय-संदेश ने चंचला के मन से धर्म-परिवर्तन का भूत निकाल दिया और उसमें नये आनन्द तथा उत्साह का संचार हुआ। वह सोचने लगी—एक वर्ष बाद मेरी पढ़ाई समाप्त हो जायेगी। तब मैं हरिजन बच्चों के लिए एक स्कूल खोलूँगी—परन्तु हरिजन बच्चों के लिए ही क्यों ? ऐसा करने से तो हरिजनों के पार्थक्य का मौन स्वीकरण हो जायेगा।

नहीं, मैं बच्चों की एक शाला खोलूँगी। उसमें सभी बच्चे—अवर्ण और सवर्ण पढ़ने आयेंगे। मैं सब के बीच में भाईचारा उत्पन्न करूँगी। सब बच्चे मुझ से बड़ी बहन के समान प्रेम करेंगे और मैं उन्हें अच्छी शिक्षा दूँगी। सबको सच्चे मनुष्य बनाऊँगी। जाति-पाँति के, वर्ग-सम्प्रदाय के, धर्म-धर्म के, सब भेद मिटा दूँगी। मानवता मेरी शाला में फले-फूलेगी और चरमसीमा तक बढ़ती चली जायेगी। थोड़े ही दिनों में मेरी शाला बहुत बड़ी हो जायेगी। देश-भर में उस जैसी अनेक शालाएँ खुल जायेंगी और जो काम सदियों के प्रयत्न से पूरा नहीं हो सका, अनेकानेक सन्त-महात्माओं ने जिसे पूर्ण में अपने जीवन खपा दिये, उसी को पूर्ण करने में मेरा भी जीवन लग जायेगा। बापू! तुम स्वर्ग से मेरी सहायता करना। अम्मा, तुम ख्याल रखना, तुम्हारी बेटी तुम्हारे और बापू के चरण-चिह्नों पर चलने में चूकने न पाये! जब तक काकाजी का हाथ मेरे सिर पर है, मुझे रुकने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं बढ़ती ही जाऊँगी—मेरा स्थान समस्त रूढ़ियों के परे, समस्त बंधनों से मुक्त होगा........!

और हरिजन-कार्य के बारे में वह आचार्य के बताये कार्यक्रम पर विचार करने लगी।

३१

अभिशाप नहीं, आशीर्वाद

अपने हृदय की हत्या करना सबसे बड़ा पाप है—चंचला आचार्य के इन शब्दों को बहुधा मन में दुहराती रहती और इनका अर्थ समझने का प्रयत्न करती। वह सोचती कि क्या मैं हृदय की हत्या नहीं कर रही हूँ? परन्तु मेरा हृदय चाहता क्या है? और उसे भिन्न-भिन्न उत्तर मिलते।

और वह सोचती—"फूल जब मुरझा जाता है तो लोग उसकी ओर देखते भी नहीं।" हाँ! सच है। परन्तु क्या फूल फिर भी अपना गुण छोड़ देता है? वह तो धूल में मिलकर भी अपना सौरभ बिखेरता रहता है!

वह बार-बार अपने हृदय को जीवित-जाग्रत रखने का प्रयत्न करती, परन्तु उसके प्रयत्न मानो उसे नितान्त प्रतिकूल दिशा में ले जाते। संघर्ष होता, और उसे थकान मालूम होने लगती। इस सबको भूलने के लिए उसने कलामंडल, सेवा-कार्य और चरखे में अधिक समय लगाना आरम्भ किया।

एक दिन कलामंडल की ओर से आश्रम में समारोह किया गया। चंचला आग्रहपूर्वक सेठजी को भी ले आई। नृत्य, भावाभिनय एवं प्रहसन के पश्चात् संगीत का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। चंचला सितार बजाने में इतनी मग्न थी कि उसे किसी दूसरी वस्तु की सुध नहीं थी। उसके वाद्य ने सभी को मुग्ध कर लिया। अब सेठजी के आग्रह से उसने गाना भी आरम्भ किया—

अन्तर मम विकसित करो अन्तरतर हे!
निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुन्दर करो हे! अन्तर॥

स्वर, लय और आरोह-अवरोह के इस प्रथम विन्यास से ही श्रोतागण झूमने लगे। चंचला आगे बढ़ी—

जाग्रत करो, उद्यत करो, निर्भय करो हे !
मंगल करो, निरलस, निःसंशय करो हे ! अन्तर ॥

'जाग्रत करो' की उसने बारबार पुनरावृत्ति की और इसके साथ उसके 'अंतर' के जो भाव प्रवाहित हुए उन्होंने श्रोताओं के हृदय में प्रेरणा उत्पन्न कर दी। उसने आगे गाया—

युक्त करो हे सबार संगे, मुक्त करो हे बंध !
संचार करो सकल कर्म शान्त तोमार छंद। अन्तर ॥

उसके भाव अधिकाधिक उत्कट होते गये।

चरण-पद्मे मम चित्त निस्पन्दित करो हे !
नन्दित करो, नन्दित करो, नन्दित करो हे ! अन्तर ॥

और वह गीत में समा गई। उसका हृदय और कंठ एक हो गया !

श्रोताओं ने मंत्र-मुग्ध की भाँति गीत सुना और जब वह समाप्त हुआ तो सारे भवन में एकदम निस्तब्धता छा गई। अभी-अभी खिला हुआ जीवन, अभी-अभी छिटकी हुई ज्योत्स्ना, अभी-अभी फैली हुई जाग्रति जैसे अकस्मात् लुप्त हो गई। क्षण-भर बाद सेठजी ने निस्तब्धता भंग करते हुए कहा—"इसके कंठ में तो साक्षात् वीणावादिनी का निवास है !" किन्तु वातावरण में एक भिन्न ध्वनि गूँज रहीं थी—"यह संगीत नहीं, आकुल हृदय की पुकार है; इसे समझने का प्रयत्न करो।"

कार्यक्रम समाप्त होने के पश्चात् सेठजी ने चंचला को अपने पास बुलाया और प्यार के साथ उसके शिर पर हाथ फेरते हुए पूछा—"तूने संगीत और वाद्य का यह अभ्यास क्या यहीं किया है ?"

चंचला ने बहुत दिन बाद पितृस्नेह का अनुभव किया। उसके नेत्रों में जल छा गया और उसने अवरुद्ध कंठ से कहा—"जी; पर आरम्भ मैंने बहुत बचपन में किया था।"

"किस आयु में ?"

"सात-आठ वर्ष की। बापू सिखाते रहते थे। उन्हें संगीत........"

आगे वह न बोल सकी। हृदय उमड़ पड़ा और बोलना असंभव हो गया। नेत्रों से अजस्र जलधारा बहाती हुई वह वहाँ से चल दी। सेठजी ने उसकी स्थिति का अनुभव करके उसे बहुत बुलाया, किन्तु वह समारोह से बाहर चली गई। वह रात्रि उसने कैसे काटी होगी ?

इस घटना से सेठजी के हृदय में चंचला के लिए और भी कोमल स्थान बन गया। दूसरे दिन उन्होंने उसे अपने निवासस्थान पर बुलाकर

समाधान बँधाया और जब वह चलने लगी तो उससे कहा—

"कलकत्तेवाले लड़के के विषय में बहुत-कुछ पत्र-व्यवहार हो चुका है। अब तुम भी कुछ निश्चय कर डालो।"

"जल्दी क्या है, काकाजी ? इस वर्ष मेरी पढाई पूरी हो जायेगी। फिर सोच लूँगी।"

"निश्चय हो जाता तो अच्छा होता। दोनों साथ ही........"

"अभी मुझे समय दीजिए।"

"अच्छा, फिर मुझसे बात करना।"

बातें तो समाप्त हो गईं, परन्तु चंचला का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो गया। और वह इस विचार में रह-रहकर डुबकियाँ खाती रही।

'दोनों' से काकाजी का क्या अर्थ था ? यह प्रश्न उसके सामने नया उपस्थित हुआ।

और फिर—उन्हें क्या उत्तर दिया जाये ? 'हाँ' कह दूँ ? ऐसा करने से उलझन तो बहुत-सी मिट जायेगी। परन्तु क्या मैं लाखों और करोड़ों का ही मार्ग स्वीकार करूँ ? क्या अपने-आपको समुद्र में बूँद के समान मिला दूँ ? ओह ! आततायी पुरुष ! अविश्वासी पुरुष ! उसके हाथ में अपने-आपको जीवन भर के लिए सौंप दूँ ?........तो क्या 'नहीं' कह दूँ ? 'नहीं' कहकर सदा के लिए प्रश्न ही समाप्त कर दूँ ? परन्तु क्यों ? मैं पुरुषों की इतनी विरोधी, इतनी द्वेषी क्यों हो गई हूँ ? सभी पुरुष एक से तो नहीं होते ! सभी पुरुष 'जीवन' भी नहीं............

जीवन ! कहीं वह जानता होता कि उसने क्या किया है ! यदि सारी पुरुषजाति उसी के समान अविचारी है तो निःसन्देह वह द्वेष की पात्र है। कितना कपट ! परन्तु मैं अन्याय तो नहीं कर रही हूँ................ ?

हाँ, मैं हरिजन भी हूँ। अतिशय पीड़ित, दलित और दुःखी हरिजन समाज मेरा समाज है—वह अपमानित और प्रताड़ित समाज ! वह निरीह, निर्दोष किन्तु अभागा समाज ! क्या मैं विवाह करके उसी समाज की संख्या बढ़ाऊँ ? मैं स्वयं सह लूँगी, किन्तु मेरे बच्चों के साथ जब तिरस्कारपूर्ण व्यवहार होगा तो मैं कैसे सह सकूँगी ? भगवन् !........नहीं नहीं, विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं विवाह नहीं करूँगी !

इसी बीच जया ने आकर कहा—"दीदी, कुछ सुना ?"

"क्या ?"

"निर्मला बहन का विवाह होने वाला है।"

"चल ! झूठी कहीं की !"

"जाओ, अब मैं तुम्हें कोई बात न बताया करूँगी !"—जया ने त्रिकोणाकृति मुँह बनाकर कहा।

"तो क्या सचमुच विवाह होने वाला है ?"

जया नहीं बोली और चंचला को उसे बहुत समझाना—मनाना पड़ा। अन्त में उसने कहा—"अब तो कभी मुझे 'झूठी' नहीं कहोगी ?"

चंचला ने हँसकर कहा—"नहीं, यदि तू सफेद झूठ बोले तो भी तुझे 'झूठी' नहीं कहूँगी।"

और दोनों हँसती हुई निर्मला के कमरे में पहुँचीं। वहाँ छात्राओं की भीड़ लगी हुई थी। कोई उसे बधाई दे रही थी, कोई परिहास कर रही थी। कुछ बालिकाओं ने उसके माथे पर सिंदूर लगा दिया था और कुछ बलपूर्वक उसे नई चूड़ियाँ पहनाने की घात लगा रही थीं। निर्मला बेचारी संकट में थी; पर वहाँ उस पर दया करनेवाला कौन था ? चंचला ने जो उसकी सहायता करनी चाही तो बालिकाएँ उस पर भी टूट पड़ीं।

एक ने कहा—"इनके भी लगा दो सिंदूर।"

दूसरी ने जोड़ मिलाया—"हाँ हाँ ! लगाओ। आज नहीं तो कल यह भी तो जानेवाली हैं !"

तीसरी और आगे बढ़कर बोली—"आज-कल क्या ? दोनों को साथ ही जाने दो।"

पहली ने कहा—"और एक ही घर में।"

चंचला लजाकर सोचने लगी—मैं भी अच्छी फँसी ! और उधर, जया ने चुपके-चुपके पीछे से आकर उसके माथे पर सिन्दूर लगा दिया। चंचला ने अपने को बचाने की चेष्टा की तो सिन्दूर उसके आधे माथे पर और गाल में भी फैल गया। लड़कियों ने किलकारी भरते हुए तालियाँ बजाईं और जब तक ऊधम सुनकर गृह-व्यवस्थापिका वहाँ न पहुँच गईं तब तक सब मिलकर दोनों सखियों को इसी प्रकार छेड़ती रहीं।

शान्ति होने पर चंचला ने निर्मला से पूछा—"अकस्मात् !"

निर्मला ने उत्तर दिया—"मा की इच्छा !"

× × ×

विवाह के कई दिन बाद जब निर्मला वापस आश्रम में आई तो चंचला

ने उससे वैवाहिक जीवन के बारे में बातचीत की। निर्मला ने गद्‌गद होकर कहा—

"मैं तो उबर गई, चंचला !"

"तो क्या अब तक डूबी हुई थीं ?"

"हाँ, पुरुष के बिना स्त्री और स्त्री के बिना पुरुष डूबा हुआ ही रहता है।"

"क्या अच्छा होता कि पुरुष भी ऐसा ही सोचता !"

"हाँ, सब पुरुष ऐसा नहीं सोचते, सो सब स्त्रियाँ भी ऐसा नहीं सोचतीं। परन्तु जो ऐसा सोचते हैं उन स्त्री-पुरुषों की संसार में कमी नहीं है।"

"संसार में नहीं, भारत में कहो।"

"इससे बात में क्या विशेष अन्तर पड़ जायेगा ?"

"अन्तर बहुत बड़ा होगा। शताब्दियों की दासता हमारी नस-नस में भिद गई है। हमें दासता में ही उद्धार दीखने लगा है।"

निर्मला ने मर्माहत होकर उत्तर दिया—"तुम अपने देश की, अपने धर्म की, अपने समाज की, अपनी संस्कृति की और अपने लोकोत्तर ऋषि-मुनियों की व्यर्थ ही निन्दा करती हो, चंचला ! हम पर दासता का प्रभाव पड़ा, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; परन्तु जब तुम हमारी प्राचीन संस्कृति को भी हेय बतलाने लगती हो तो तुम्हारे इस विचार पर मुझे दुःख होता है, तुम पर मुझे दया आती है।"

चंचला ने भी आवेश के साथ कहा—"तुम यह कहना चाहती हो कि विवाह दासता का प्रतीक नहीं है ? क्या स्त्री सदैव अपने पति की दासी बनकर नहीं रही ? क्या पुरुष ने सदैव उसे कुचलकर नहीं रखा ?"

"विवाह कदापि दासता का प्रतीक नहीं है। उलटे, यह मनुष्य की मुक्ति की ओर ले जानेवाला एक अत्यन्त पुनीत साधन है। वह मनुष्य के हृदय का परिष्कार करता है, उसे समुन्नत करता है, उसमें प्रेम एवं औदार्य का विकास करके इसी जीवन में साक्षात परमेश्वर का दर्शन करता है। हाँ, स्त्री अपने पति की दासी बनकर रही है, परन्तु यह उसकी महानता है, उसके लिए गौरव की बात है, लज्जा की नहीं। निःस्वार्थ आत्मसमर्पण में, सेवा की भावना में, दासता नहीं होती; आत्मत्याग और जीवन्मुक्ति के लक्षण होते हैं...."

"और इसके बदले में पुरुष उसे देता है पूर्ण मुक्ति—स्वास्थ्य से मुक्ति, महत्त्वाकाँक्षाओं से मुक्ति, स्वतंत्रता से मुक्ति, विचारों से मुक्ति, भावनाओं से मुक्ति !" चंचला ने व्यंग्य के साथ कहा।

"तुम पागल हो गई हो, चंचला !"—निर्मला ने संतप्त होकर कहा —"मुझे आश्चर्य है कि तुम बातों को उनके वास्तविक रूप में क्यों नहीं समझ सकतीं ? क्या तुम समझती हो कि हमारी अवनत अवस्था के लिए केवल पुरुष उत्तरदायी है ? हमारा इसमें कोई भी दोष नहीं है ?"

"यदि हमने पूर्ण और निःस्वार्थ आत्मसमर्पण कर दिया तो हमारा उत्तरदायित्व कैसे ?"

"आत्मसमर्पण किस लिए ? इसीलिए न कि इससे पुरुष और स्त्री दोनों की उन्नति और विश्व का कल्याण हो ?"

"हाँ !"

"परन्तु हम तो अपने उच्च और महान सहयोग से उत्तरोत्तर पराङ्मुख होती गईं और अन्त में हमने अपने-आपको पुरुषों के ऊपर भारी बोझ के रूप में लाद दिया, जिसका वहन करना उनके लिए क्रमशः असम्भव होता गया। हम आत्मत्याग के मार्ग से आत्मघात के मार्ग की ओर अग्रसर होती गईं। दो चक्र के रथ में एक चक्र ही रह गया और टूटा हुआ चक्र भी उस पर लद गया। स्वभावतः ही एक चक्र का रथ चल न सका। वह चक्र भी वक्र और जर्जर हो गया और रथ एक स्थान पर पड़ा-पड़ा वायु, वर्षा और ताप के आक्रमणों से नष्ट होने लगा। हम स्वयं तो अवनत हुईं ही, अपने साथ पुरुष को भी ले बैठीं।"

"तब तो पुरुष और सारे समाज की दुर्दशा का कारण स्त्रियाँ ही हुईं ?"

"मैं इस सीमा तक न जाऊँगी। पुरुष अपराध से मुक्त नहीं है। वास्तव में पुरुष हमारी और हम उसकी अवनति का कारण हैं। हम दोनों के कारण समाज की अवनति हुई है। हम दोनों मिलकर उसे फिर उबार सकते हैं।"

"कैसे ?"

"स्त्रियाँ अधिक दलित हैं, पुरुष उन्हें उठाने का प्रयत्न करें। पुरुष अधिक भार-ग्रस्त हैं, स्त्रियाँ उनका भार बँटाने का प्रयत्न करें। विवाह के बिना यह सम्भव नहीं है और अयोग्य विवाहों से भी काम न चलेगा। योग्य विवाह हों और समुचित रीति से जीवन का रथ चलाया जाये तो मार्ग के ऊबड़-खाबड़ होने के कारण विलम्ब भले ही हो, किन्तु एक दिन निर्देश पर पहुँचा अवश्य जा सकेगा।"

"तो क्या तुम्हारा ख्याल है कि सब सुधारों का मूल विवाह-संस्था और वैवाहिक जीवन के सुधार में ही है ?"

"किसी समय यह बात अक्षरशः सत्य हो सकती थी, किन्तु अब हमारा

जीवन बहुत जटिल हो गया है। अब बहुत से क्षेत्रों में एक साथ सुधार करने की आवश्यकता है। फिर भी व्यक्ति की उन्नति में योग्य विवाह बहुत दूरी तक सहायक हो सकता है। क्या तुम उस दिव्य जीवन की कल्पना नहीं कर सकतीं, जिसमें पति-पत्नी सुखी और पारस्परिक उन्नति में परस्पर सहायक हों? जिसमें बच्चे किलकारियाँ भरते हों और उत्साह असम्भव को भी सम्भव कर देता हो? जिसमें पारस्परिक विश्वास आत्मविश्वास का उत्पादक हो और संयुक्त शक्ति मनुष्य को अनवरत आगे बढ़ाती रहती है?"

"परमेश्वर करे, तुम्हारा विवाह ऐसा ही सिद्ध हो!"

"परमेश्वर करे, तुम्हें भी मेरे पति-सा पति मिले!"

चंचला सोचने लगी कि क्या विवाह इतनी अच्छी वस्तु है?

३२

श्रेष्ठतम महाविद्यालय

ग्वालियर से कुछ दूरी पर रामपुरा नामक छोटा-सा ग्राम है, जिसमें किसान और नगर के श्रमजीवी निवास करते हैं। उसके आस-पास का दृश्य अत्यन्त रमणीय होने पर भी रोटी की समस्या में अविरत व्यस्त जन-समुदाय को अधिक आकर्षित नहीं कर पाता। पौधे अपने फूलों को अंक में भरे गुण-ग्राहक की प्रतीक्षा करते-करते थालों में चुआ देते हैं। नदी का सुन्दर स्फूर्तिमय प्रभात श्रांत पथिकों को पुकार-पुकार कर मार्ग दिखलाता है, पहाड़ी अपना मस्तक ऊँचा किये सृष्टि का गौरव बखानती है, परन्तु रोटी की समस्या में व्यस्त जन-समुदाय भागा चला जाता है। उसे यह सब देखने-सुनने का अवकाश नहीं।

जो सो रहे थे, वे सो रहे थे; परन्तु जीवन जाग चुका था और, जाने-अनजाने, उसने संसार को जगाने का महत् कार्य आरंभ कर दिया था। अब यही ग्राम उसकी प्रवृत्तियों का केन्द्र बना। यद्यपि नगर में खोली हुई पाठशालाएँ सुचारु रूप से चल रही थीं और वह उनका कार्य पूर्ववत् परिश्रम और निष्ठा के साथ करता चला जा रहा था, तथापि अब इस ग्राम की ओर अधिक ध्यान देने लगा।

विनायक कालेज छोड़ देना आत्मघात 'समझता था। सरस्वती और यमुना को भी उसने अपनी बात पटा दी। लीला के विचार पूर्णतया जीवन के विचारों से मिलते थे, परन्तु वह अपने भाई और माता-पिता के प्रभाव का अतिक्रमण न कर सकी। फलतः उसने भी कालेज का त्याग न किया।

तथापि नगर की पाठशालाओं को उत्साहपूर्वक चलाते रहने में इन मित्रों के बीच कोई मतभेद न था। उनमें सबकी शक्ति पूर्ववत् लगती रही और नये-नये कार्यकर्ता तथा सहायक भी उन्हें मिलते गये। करुणाशंकर के दान एवं व्यक्तिगत सहयोग से इन उत्साही कार्यकर्ताओं को बहुत सहायता मिली।

और जीवन नदी के किनारे एक फूस की झोपड़ी बनाकर रामपुरा में ही रहने लगा। नगर में यह समाचार फैला तो सहानुभूति रखनेवालों ने कहा—"लड़का बड़ा होनहार है;" बड़े-बूढ़ों ने निर्णय दिया—"यौवन की उमंगों में बह गया।" कालेज में भांति-भांति के मत प्रकट किये गये और विनायक ने आचार्य तथा अध्यापकों के साथ मिलकर उसे फिर वापस लाने का निश्चय किया।

रविवार के दिन आचार्य, अध्यापकों और अनेक सहपाठियों के साथ विनायक रामपुरा में आ धमका। जीवन की झोपड़ी से कुछ दूर एक पुराना वट-वृक्ष है, जिसके कोटरों में और डालियों पर सहस्रों पक्षी बसेरा लेते हैं। जब से जीवन यहाँ आया, वह प्रतिदिन प्रातःकाल उस वृक्ष के नीचे की भूमि साफ कर लेता है। उसका दिन-भर का कार्य उसीकी छाया में होता है। दुपहर को जब हारे-थके किसान और मजदूर थोड़ी देर विश्राम करना चाहते हैं तो यह वट-वृक्ष अपनी विशाल शाखाओं की घनी छाया में उन्हें शरण देता है। यहीं गाँव के छोटे-बड़े लड़के-लड़कियों का अड्डा भी बनना आरंभ हो गया है।

इसी वट-वृक्ष के नीचे विनायक के समाज को जीवन ने ला बैठाया। ऊपर पक्षियों का संगीत उस समय भी हो रहा था। नीचे एक गाय अपने बछड़े सहित बैठी हुई पागुर कर रही थी और निकट ही किसान खेत जोत रहे थे।

एक छात्र ने हँसकर कहा—"आपका यह बोधिद्रुम तो गौतम-बुद्ध के बोधिद्रुम से भी विशाल है!"

जीवन ने एक क्षण के लिए उसकी ओर देखा। उसकी आँखों ने चुपके से एक करुणा का संदेश दे दिया।

प्रायः सभी ने उस छात्र की ओर देखा और फिर जीवन की ओर देखा—मानो एक से कहना चाहते हों—"यह परिहास नहीं, उपहास है" और दूसरे की आँखों की प्रतिक्रिया देखकर उससे कह रहे हों—"हमें इस व्यंग्य से आघात पहुंचा है।" विनायक का चेहरा तमतमा गया, परन्तु उसने सिर नीचे झुका लिया।

जीवन ने कहा—"यह संसार का सर्वश्रेष्ठ कालेज है। यदि यहाँ रहकर भी मैं परीक्षा में उत्तीर्ण न हुआ तो मेरे लिए कोई आशा न रह जायेगी"—और वह हँस पड़ा।

हँसी का उत्तर हँसी से देते हुए आचार्य ने कहा—"मेरे कालेज के सब विद्यार्थियों को यहाँ न खींच लाना!"

"आप डरिए मत। जब तक विनायक और करुणा भाई आपके कालेज में विद्यमान हैं, तब तक वह पूर्णतः सुरक्षित है।" और एक बार फिर सारी मंडली में हँसी छा गई।

"परन्तु हम तो तुम्हें भी लेने आये हैं।" आचार्य ने प्रकाश्यरूप में ये शब्द हँसते हुए ही कहे, परन्तु इनके भीतर छिपी हुई गंभीरता का अनुभव सब ने किया। जीवन ने उसी भाव से उत्तर दिया—

"इतने अच्छे कालेज को मैं छोड़ दूँ, आचार्य?"

"यह कालेज बहुत ऊँचा है। एकदम ऊँची कक्षा में कैसे छलाँग मारोगे?"—गंभीरता और बढ़ी।

"यह ऊँचा भी है और भिन्न भी। इसमें प्रवेश के लिए केवल मस्तिष्क की परीक्षा नहीं होती—हृदय की उत्कट अनुभूति और संवेदनशीलता की परीक्षा मुख्य है........"

"यह कर्मभूमि है, जीवन! कर्मभूमि पर उतरने के पूर्व कर्म की विधि और उसका महत्व समझ लेना आवश्यक है। तुम्हें अभी कुछ वर्षों के लिए फिर कालेज में लौट चलना चाहिए।"

"कर्म की विधि और कर्म का महत्व क्या कर्म से दूर रहकर सीखा जा सकता है, आचार्य? पानी में बिना कूदे ही क्या तैरना सीखा जा सकता है? सूर्य के साक्षात् दर्शन किये बिना क्या उसकी भव्यता, उसकी महनता, उसके तेज की कल्पना की जा सकती है?"—जीवन ने नम्रता किन्तु प्रज्ञता की दृढ़ता से कहा।

"नहीं, मैं यह नहीं कहना चाहता। परन्तु किसी भी कार्य के पूर्व यदि उसकी मानसिक तैयारी कर ली जाये तो काम बहुत सरल और व्यवस्थित हो जाता है।"

"यही तो मैं नहीं समझ पाता। विशाल भवनों में बैठकर, ऐश्वर्य की लालसाएँ जाग्रत करनेवाले साहित्य का अध्ययन करके, वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की उधेड़-बुन करते हुए हम दीन-हीन, पतित और पद-दलित, वंचित और प्रवंचित जन-समुदाय की समस्याओं का हल करने की तैयारी कैसे कर सकते हैं?"

"संसार में हर प्रकार के महापुरुष हुए हैं, जीवन! उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से संसार की समस्याओं का अनुशीलन किया है। उनके विचार और अनुभव हमें उपलब्ध हैं—पुस्तकें उनसे परिपूर्ण हैं। साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान और विविध शास्त्र इसके उदाहरण हैं। हमें उन महापुरुषों के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए—यही तो इतिहास और विविध ग्रंथों तथा शास्त्रों का उद्देश्य

है। शताब्दियों का अन्तर होने पर भी वे महापुरुष, वे ऋषि-मुनि हमारे सम्मुख उपस्थित होकर हमें मार्ग प्रदर्शित कर सकते हैं। उनकी उपेक्षा मत करो, उनका तिरस्कार मत करो...." आचार्य की वाणी में व्याकुलता का आभास था।

"भगवान क्षमा करें! मैं महापुरुषों का तिरस्कार नहीं करता। राम और कृष्ण, बुद्ध और ईसा मेरे हृदय में निवास करते हैं। गांधी के उपदेश मैं निरन्तर सुनता रहता हूँ। उनके संकेत मैं स्पष्टतः देख रहा हूँ........"

"परन्तु क्या उनके आदेशों और संकेतों को समझने के लिए बुद्धि की परिपक्वता आवश्यक नहीं है?"

"लोकनायक अपने आदेश स्वयं समझा देते हैं। अन्यथा वे लोकनायक हो ही नहीं सकते। बालक, युवा और वृद्ध, शिक्षित और अशिक्षित, स्त्री और पुरुष—सब से वे बोलते हैं, सब को अपनी बात समझाते हैं। वे अपनी भाषा में नहीं, हमारी भाषा में बोलते हैं, अपनी बात नहीं हमारी बात कहते हैं।"

"परन्तु क्या लोकनायकों में विरोध नहीं होता? उनके दृष्टिकोण भिन्न नहीं होते? गांधी और जिन्ना दोनों लोकनायक नहीं? फिर भी, दोनों में विरोध दिखलाई नहीं पड़ता? अपने नायक, अपने आदर्श को चुनने के लिए भी तो बुद्धि की परिपक्वता आवश्यक है?"

"यह बुद्धि का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है, आचार्य। छोटा बच्चा भी समझ लेता है कि कौन उसके निकट है, कौन दूर; कौन उसे और उसके परिजनों को प्यार करता है, कौन नहीं करता।"

"अनुभूति धोखेबाज होती है। मनुष्य का रूप, उसका ढंग, उसकी ख्याति, उसका प्रचार—सब अनुभूति को प्रभावित कर सकते हैं। सत्यासत्य की गवेषणा के लिए तो बुद्धि, परिपक्व बुद्धि, समंजस बुद्धि ही आवश्यक है।"

आचार्य का तर्क व्यर्थ नहीं गया। इस पर जीवन को क्षणभर सोचना पड़ा। तत्पश्चात् उसने कहा—

"तो क्या बुद्धि की परिपक्वता कालेज से बाहर रहकर प्राप्त नहीं होती?"

आचार्य को भी क्षणभर के लिए निरुत्तर हो जाना पड़ा और फिर उन्होंने कहा—

"कालेज में बुद्धि के वैज्ञानिक विकास की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अध्यापक, पुस्तकालय, प्रयोगशाला—सब यहाँ कहाँ?"

"क्या यहाँ रहने पर आप और अन्य गुरुजन मुझे छोड़ देंगे? और क्या वहाँ की वह प्रयोगशाला प्रकृति की इस अनन्त प्रयोगशाला से बड़ी है?

आचार्य, स्वामी शंकराचार्य और शिवाजी आदि किन कालेजों में पढ़े थे ?"

"वह काल भिन्न था। उस समय भिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रस्तुत थीं। आज हमारा जीवन इतना जटिल हो गया है कि उस प्रकार की सुविधाओं से काम नहीं चल सकता। आज विकास के लिए धन की आवश्यकता होती है। इस गाँव में तुम्हारे पास न तो धन होगा, न आधुनिक साधन होंगे। तुम क्या कर सकोगे ?"

जीवन किंचित् उलझन में पड़ गया—बुद्धि की परिपक्वता, विकास, साधन-सामग्री, रुपया, जीवन की जटिलता !—सब की एक ही कुँजी, कालेज में विद्याध्ययन ! इसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता ! क्या यह सच है ? एक क्षण के लिए इसका मन चारों ओर घूम गया। उसकी दृष्टि शून्य हो गई। दूसरे ही क्षण उसने फिर एकाग्र होकर उत्तर दिया—

"परन्तु, आचार्य, बुद्धि की परिपक्वता या विकास क्या कोई अपने-आप में सम्पूर्ण या निरपेक्ष वस्तु है ? मनुष्य अपनी-अपनी मर्यादाओं के अनुसार ही तो उसे प्राप्त करता है ? फिर क्या जिनकी बुद्धि की परिपक्वता अथवा विकास का प्रमाण कम है वे सेवा नहीं कर सकते ?"

आचार्य को जीवन के अन्दर ऐसे बीज दिखलाई देते थे जो उचित संवर्धन से प्रस्फुटित और अंकुरित होकर एक अति विशाल और मधुर फलदायी वृक्ष का वंश स्थापित कर सकते थे। अतएव उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। उन्होंने कहा—

"सेवा का अधिकार सबको है; किन्तु सफलता के लिए सेवक में अपनी सेवाओं का मूल्य आँकने की योग्यता होनी चाहिए। व्यवहार-कुशल सेवक अधिकतम संख्या के अधिकतम हित का ही लक्ष्य रखता है। इसके लिए दुहरा काम आवश्यक है—अपनी योग्यता की निरन्तर वृद्धि और सेवा। सेवक का पूरा लाभ संसार को मिलना चाहिए। सेवक के जीवन में अबुद्धिमत्ता अधीरता, आलस्य, अथवा उपेक्षा के लिए कोई स्थान नहीं है। सेवक का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए—सतत विकास, सृष्टि में समाहित हो जाने, उस के साथ एक रूप हो जाने तक विकास। यही चरम सेवा है, इसी में सेवा। का पर्यवसान है। यदि मनुष्य सृष्टि के सुख-दुःख, उसके आवेग-उद्वेग, उसके उत्थान-पतन और उसके जीवन-मरण के साथ एकरूपता प्राप्त कर ले तो फिर उसके लिए कौन-सी सेवा शेष रह जाती है ? इस सिद्धान्त के अनुसार संसार को सेवक की पूर्ण शक्ति का लाभ प्राप्त होगा। सेवक अपनी शक्ति को चुरा रखने अथवा उसे नष्ट कर देने का अपराधी न हो सकेगा।"

"यह सिद्धान्त श्रेष्ठ नहीं है, आचार्य। इसमें मनुष्य की कायरता, स्वार्थपरता और मिथ्याचार के लिए अवकाश है। अधिकतम की अधिक सेवा करने के नाम पर क्या वह अनन्त काल तक अपने कार्य को टालता नहीं रह सकता?"

"तत्त्व सच्चे लोगों के लिए होते हैं, मिथ्याचारियों के लिए नहीं।"

"तो साधारण लोगों के लिए क्या व्यवस्था है?"

"वे जिस परिधि तक जा सकेंगे, जायेंगे।"

"तो क्या गुणप्रधान सेवा का कोई मूल्य नहीं है?"

"गुणप्रधान और परिमाणप्रधान को पृथक् नहीं किया जा सकता। गुणप्रधान की श्रेष्ठता इसीलिए स्वीकार की जाती है कि उसमें अप्रत्यक्षरूप से परिमाणप्रधानता सन्निहित रहती है।"

"आपकी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। यदि किसी घर में आग लगी हो और उसके अन्दर एक नन्हा-सा बच्चा बन्द हो तो क्या मनुष्य का यह कर्तव्य नहीं होता कि वह अपने प्राणों को देकर भी उसकी रक्षा करे? यदि वह अधिकतम की अधिकतम सेवा का सिद्धान्त लिये बैठा रहेगा तो कभी किसी जोखिम में हाथ न डाल सकेगा। उसका काम तो नाप-जोख करते रहना ही हो जायेगा। जो सामने है उसी की सेवा करना श्रेष्ठ है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर, व्यक्ति से समष्टि की ओर और निकट से दूर की ओर जाना सम्भव होता है। आचार्य, मुझे इस श्रेष्ठ मार्ग से विमुख करने का प्रयत्न न कीजिए। गुण में जब परिमाण निहित ही है तो वह मुझे अनायास ही प्राप्त हो जायेगा।"

३३
भँवर में भँवर

चंचला अध्यापन की अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई और सेठजी के आग्रह से उसने कुछ समय के लिए आश्रम में ही अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया।

निर्मला पतिगृह चली गई और उसके जाने से चंचला की कोई अंतरंग सखी अब आश्रम में नहीं रही।

विवाह के सम्बन्ध में चंचला ने सेठजी को कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया और जब-कभी सेठजी उससे इस विषय पर बात करते तभी वह यह कहकर निकल जाती कि मैं सोच कर उत्तर दूँगी।

उधर जब कलकत्तेवाले लड़के के पिता ने जल्दी उत्तर माँगा तो सेठजी ने चंचला से कहा—"अब आगे बात टल नहीं सकती, तुम्हें तुरन्त निश्चय करना होगा।"

इस पर वह दूसरे दिन निश्चित उत्तर देने की प्रतिज्ञा करके चली आई। इसी सिलसिले में सेठजी ने उससे पूछा—"जीवन के सम्बन्ध में तो तुम्हारी अस्वीकृति ही है न ?"

"जी हाँ........नहीं, मैं कल ही बताऊँगी"—चंचला ने कहा।

सेठजी मुसकराये और बोले—"कल कौन-सा मुहूर्त है, जो तू सब बातें कल पर ही टाल रही है ?" और उन्होंने मन में सोचा—"क्या जीवन के बारे में इसने अपना विचार बदल दिया है ?"

सेठजी का प्रश्न सुनकर चंचला लजा गई। तय हुआ कि दूसरे दिन सायंकाल जब सेठजी घूमने निकलेंगे तो चंचला भी उनके साथ होगी और इस विषय को सदा के लिए निबटा दिया जायेगा।

जब वह आश्रम को लौटी तो विचारों में डूबी हुई थी। परन्तु उसके विचार गुथे हुए थे—भँवर के अन्दर भँवर उत्पन्न होती जाती थी। कभी वह

विवाहित जीवन के सुखमय, उत्साहमय, हरेभरे दृश्य देखती, प्रेम की गंगा में स्नान करती, शिशुओं के चंचल, चपल, मनोरम, आक्रोशमय, हास्यमय, स्पंदन-मय परिवेश में किलकारियाँ भरती, सुन्दर से घर, उसकी निर्मल साज-सज्जा, उसके दायित्व की कल्पना करती, और वह मुग्ध हो कर भावनाओं के प्रवाह में बह जाती और कह उठती—मैं इतने सुन्दर जीवन को कैसे ठुकरा सकती हूँ ! फिर उसे दूसरा दृश्य दिखलाई पड़ता—परिवार का बन्धन, बच्चों का रोना-चीखना, पति की डाँट-फटकार, स्त्री की दासता। पुरुष की आततायिता का चित्र उसके सम्मुख आता, उसका स्वार्थ और उसकी अहंता उसे कँपा देती। फिर वह अपने माता-पिता की याद करती, उनके काम को पूरा करने की बात उसके सामने आती और वह सोचती कि विवाह के बाद यह सब कैसे पूरा होगा ? और वह सोचती कि मैं हरिजन हूँ, हरिजन को सुख-शान्ति कहाँ ? पग-पग पर अपमान कौन सहेगा ? और फिर हरिजनों की संख्या बढ़ेगी।

और वह किसी निर्णय पर न पहुँच सकी। रात उसने जागकर इसी प्रकार के द्वन्द्वपूर्ण विचारों में काट दी। प्रातः काल जब वह उठी तो सभी को सन्देह हुआ कि उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया है।

वह कक्षा में पहुँची तो बालिकाओं ने आपस में कानाफूसी की और फिर एक छोटी लड़की ने कहा—"बहनजी आज पद्मावती की कहानी पढ़ाइए।" घंटा आरोग्यशास्त्र का था, परन्तु बालिकाएँ पद्मावती की कहानी पढ़ने पर तुल गईं और चंचला को उनका आग्रह स्वीकार करना पड़ा।

कहानी आरम्भ हुई और आगे बढ़ी—

"अलाउद्दीन खिलजी की विशाल सेना ने चित्तौड़ पर घेरा डाल दिया।"

चंचला ने मीमांसा की—कितनी क्रूरता ! क्या अधिकार था उसे पद्मिनी को माँगने का ? इसी प्रकार सदैव पुरुषों ने स्त्रियों पर अत्याचार किये हैं। घर के पुरुषों ने बचाया तो बाहर के पुरुषों ने नाश कर दिया और बाहर के पुरुषों से बची तो घर के पुरुषों ने जीवन भार बना दिया !............

कहानी और आगे बढ़ी—

"........सब स्त्रियों ने महल में एकत्र होकर उसमें आग लगा ली। महल धू धू करके जलने लगा। उसके अन्दर ज्वाला का आवाहन और स्वागत करने के लिए चित्तौड़ की वीर रमणियाँ नृत्य और गान में मग्न थीं........"

चंचला की मीमांसा भी आगे बढ़ी—और यह है चित्र नारियों का, जो अबला कही जाती हैं, तो सर्वथैव दासी मानी जाती हैं, जिनका सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, जिन्हें पुरुष अपने खेलने का खिलौना मात्र

मानता है, जिन्हें अपनी इच्छा के अनुसार नचाना पुरुष अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है...........

एक छात्रा ने कहा—"परन्तु बहनजी, पुरुषों ने भी तो उतनी ही वीरता से, हँसते-हँसते प्राण दिये ?"

दूसरी छात्रा बोली—"यह युद्ध भी तो सभी की मानरक्षा के लिए ही हुआ था ?"

इतने में समय-समाप्ति का घंटा हो गया। चंचला यह कहकर चली गई कि इस कहानी को कल पूरा करेंगे।

वह दूसरी कक्षा में गई तो उसने देखा एक नई छात्रा आई है और वह सबसे अलग थोड़े अन्तर पर बैठी हुई है। चंचला ने उसका नाम और निवास आदि पूछने के पश्चात् पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। उस छात्रा के पास पुस्तक नहीं थी, अतः चंचला ने उससे दूसरी छात्रा के पास बैठकर उसकी पुस्तक में देखने को कहा। बालिका ने उत्तर दिया—"मैं यहीं बैठी हूँ। कल तो पुस्तक आ जायेगी।"

"परन्तु दूसरी छात्रा की पुस्तक देखते जाने में कोई हानि है ?"

बालिका कुछ खिन्न हो गई। उसने कोई उत्तर न दिया।

एक छात्रा ने उससे कहा—"मेरे पास आ जाओ।"

दूसरी छात्रा बोल उठी—"मेरे पास जगह है।"

बालिका ने एक बार लज्जा के भाव से छात्राओं की ओर और फिर चंचला की ओर देखा। बाद में खिन्नता के साथ कहा—"मैं हरिजन हूँ।"

पता नहीं, सबने सुना अथवा नहीं, परन्तु चंचला के कानों में ये शब्द अवश्य पहुँचे और उसने विस्मय के साथ पूछा—"क्या ?"

बालिका बिना उत्तर दिये वैसे ही बैठी रही।

एक छात्रा चुपके से उठी और उसके पास जा बैठी। शेष छात्राओं ने उसके ही पास से पंक्ति बना ली।

चंचला ने कविता पढ़ानी शुरू की—"एक हरिजन बालक की फरियाद।"* आज उसका पढ़ाना बहुत मर्मस्पर्शी था। आज की जैसी भावुकता उसके पढ़ाने में पहले कभी न उतरी थी। कक्षा में एक प्रकार के ब्वेशाका का

---

*मन्दिर से मैं दूर खड़ा हूँ, नाथ, निकट आऊँ क्यों कर ?
सुनता हूँ, है मूर्त्ति मनोहर, पर दर्शन पाऊँ क्यों कर ?

वातावरण छा गया। एक बालिका ने कहा कि यदि हम मनुष्य के प्रति ऐसा अमानुषिक व्यवहार करते हैं तो परमेश्वर हमें कभी क्षमा न करेगा।

विद्यालय का समय समाप्त हुआ तो चंचला भारी हृदय से अपने कमरे को लौटी। उसके सामने अनेक समस्याएँ घूम रही थीं और उसे उनका कोई हल सूझ न पड़ता था। वह सोच रही थी कि यदि आज निर्मला यहाँ होती तो कितनी सहायता मिलती! उसने अपने बापू की याद की—अह! बापू! आप आज जीवित होते तो मैं आपके चरणों पर अपना सिर रखकर और अपने-आप को आपके ऊपर छोड़कर कितनी निश्चिन्त हो जाती!

उसने पुस्तकें रखीं और खिड़की से बाहर देखती हुई चिन्तामग्न हो गई। इसी बीच पीछे से किसी ने चुपके-चुपके आकर उसकी आँखें मूँद लीं। उसने अपने को संभाल कर कई नाम लिए, परन्तु आँखें न खुलीं। अब उसने आँखें मूँदनेवाली के शरीर पर हाथ फेरा और उसका चेहरा खिल उठा। उसने पूर्ण विश्वास के साथ कहा—"निर्मला!" और आँखों पर से हाथ हटा दिये।

निर्मला ने हँसते हुए कहा—"कैसे पहचान गई।"

चंचला ने उत्तर दिया—"देवता मेरे कानों में कह गये!"

दोनों हर्ष से फूली नहीं समाती थीं। चंचला ने पूछा—"कहाँ से कब आई?"

कहते हैं—"अछूत लोगों को दर्शन का अधिकार नहीं;
तेरे लिए देव-मन्दिर का खुल सकता है द्वार नहीं।"

यदि मैं भीतर आऊँ तो क्या नाथ करोगे मुझ पर कोप?
अथवा मेरी छूत के डर से इस मन्दिर से होगे लोप?
करुणानिधि! क्यों दिया आपने मुझ बालक को ऐसा शाप?
"यदि पवित्रता को भी छू दूँ तो उसको लग जावे पाप!"

इस मन्दिर से मैं निराश हो घर को लौटा जाता हूँ!
दर्शन-अमृत-अभिलाषा को मृगतृष्णावत पाता हूँ!
हैं संकीर्ण बहुत ये मन्दिर, बहुत कड़े इनके बन्धन,
फिर स्वतंत्र हो महि पर विचरो, हम भी चरण छुएँ भगवन्!

छोड़ो यह अस्पृश्य शुद्धता, मन्दिर से बाहर आओ!
बहुत रहे ऊँचे लोगों में, अब नीचों के घर आओ!

—श्री 'निवेदक'—गुलदस्ता भाग १ से उद्धृत।

"अभी चली ही आ रही हूँ।"

"पहले से समाचार भी नहीं दिया ?"

"अकस्मात् काकाजी का तार मिला। उन्होंने तुरन्त बुलाया था।"

"क्यों ?"

"फिर बताऊँगी।"

"अच्छा। मगर अभी-अभी मैं तेरी ही याद कर रही थी, निर्मला! कितना अच्छा हुआ! कितनी बड़ी आयु है तेरी!"

"किस लिए याद कर रही थी ?"

"बहुत-सी बातें हैं। तू भगवान की भेजी हुई-सी आ गई। परन्तु पहले स्नान-भोजन आदि से निबट लो, फिर सब बातें करेंगे। तुम्हें शीघ्रता तो नहीं है ?"

"नहीं, मैं काकाजी से मिल आई हूँ। उन्होंने दुपहर को फिर बुलाया है।"

"अच्छा, तो चलो! कपड़े निकालो।"

३४

वज्राघात

जब दोनों सखियां भोजनादि से निवृत्त हो गईं तो उनके बीच इतने दिनों की सारी बातें हुईं, यद्यपि यह बात निर्मला ने अब तक नहीं बताई कि 'काकाजी' ने उसे क्यों बुलाया है।

अंत में चंचला ने कहा—"काकाजी ने आज ही सायंकाल उत्तर माँगा है। मैं क्या कहूँ, निर्मला ?"

"मेरा तो निश्चित मत है कि अब तुम्हें विवाह कर लेना चाहिए। विवाह करने से तुम सुखी होगी।"

"तुम्हारी बातें बुद्धिगम्य तो हैं, परन्तु हृदय डरता है। मैं विवाहित जीवन का दायित्व न उठा सकूँगी। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और भावनाओं की हत्या मुझसे सहन न हो सकेगी।"

"तुम संसार की ओर गलत दृष्टि से देखती हो, चंचला ! जिनकी तुम सेवा करना चाहती हो उनकी दुरवस्था ने यदि तुम्हें इतना भयभीत कर दिया है, तो तुम सेवा कर ही कैसे सकोगी ? सेवक के हृदय में केवल एक ही भय हो सकता है और वह है, सेवा से बंचित होने का। तुम्हारी मनोवृत्ति तुम्हें सेवा से ही दूर कर रही है। मुझे आशंका है कि यदि तुमने अब भी अपने आपको न संभाला तो तुम अपने ही हाथों अपने सब मनोरथों को नष्ट कर डालोगी।"

"कैसे ?"

"वर्षों से तुम इसी उधेड़-बुन में लगी हो कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं। आज तक न तुम किसी निश्चय पर पहुँच सकीं और न किसी ठोस काम की ओर अग्रसर ही हुईं।"

"अब तक तो मैं पढ़ती ही रही ?"

"तुमने पढ़ने में भी पूरा चित्त लगाया ? तुम्हारा ध्यान सदैव बँटा हुआ नहीं रहा ? परमेश्वर ने तुम्हें जो असाधारण प्रतिभा दी है, उसका पूरा उप-

योग तुमने किया ? यह हुई है वास्तविक हत्या, महा भयंकर और गर्हणीय हत्या !........"

"मेरी जैसी परिस्थितियों में और क्या सम्भव था ?"

"सब की परिस्थितियों में कोई-न-कोई गुत्थी होती ही है। उसे पराक्रम से सुलझा लेनेवाले ही संसार में कुछ कर पाते हैं।"

चंचला को प्रतीत हुआ कि वार्तालाप आवश्यक विषय से दूर हो रहा है, या उसने ऐसा मान लेना सुविधाजनक समझा। अतएव उसने कहा—

"परन्तु इन सब बातों से मूल प्रश्न का क्या सम्बन्ध ?"

"मूल प्रश्न के हल न होने से ही तुम्हारी यह स्थिति रही है। हृदय की अदम्य और शाश्वत माँगों को क्षणिक परिणामकारी ठोकरों की पुनरावृत्ति से दबाया नहीं जा सकता। समय पाकर वे दूने वेग से उभड़ती हैं। या तो उन्हें पूरा किया जाये, या फिर योग की अग्नि में भस्म कर दिया जाये। नहीं तो वे स्वयं अपने आलम्बन को भस्म कर देंगी।"

"मैं उन्हें भस्म कर दूँगी।"

"मैं तुम्हें अधिक जानती हूँ। तुम उन्हें भस्म करने की शक्ति प्राप्त करने का विचार ही करती रहोगी, और वे तुम्हें भस्मकर देंगी।"

"तुम मुझे प्रभावित करना चाहती हो।"

"मेरा यह दृढ़ विश्वास है। परन्तु मैं मान भी लूँ कि तुम उसमें सफल हो जाओगी, तो भी अस्वाभाविक बनने की क्या आवश्यकता ? प्रेम से पूर्ण, स्निग्ध, सुन्दर और सरल जीवन के अवसर को ठुकराकर, रूक्ष और अनुर्वर जीवन को अपनाने में क्या आनन्द ?"

"मैं दलितों से, दीनों से, दुखियों से प्रेम करूँगी।"

"हाँ, यह हो सकता है; परन्तु मन के पीड़ित होने पर प्रिय के नहीं, प्रियतम के शीतल करस्पर्श की आवश्यकता होती है। तुम कैसे अनुभव कर सकती हो, चंचला, कि वह स्पर्श कितना शान्तिदायी, उन्नयनकारी, प्राणप्रद होता है !"

"और बच्चों का भार ? उनका तिरस्कार ? तिरस्कृतों की अभिवृद्धि ?"

"बच्चे कहीं भार होते हैं, बहन ! क्या तुम अपने माता-पिता के लिए भार थीं ? क्या एक के बाद दूसरे दिन, लगातार उन्होंने तुम्हारी हँसी और तुम्हारे प्यार से अपने श्रम का परिहार नहीं किया ? और तुम्हारा तिरस्कार होने से उन्हें सारे समाज को ऊपर उठाने का अक्षय, अक्षुण्ण, अविरल उत्साह प्राप्त नहीं हुआ ? बच्चे तो प्रेम के फूल और फल हैं। लोग उनके लिये मनौतियाँ

मनाते हैं, तपस्या करते हैं—और यदि तुम भी अपने हृदय को टटोल कर देखो तो उसके अन्दर बच्चों का प्रेम, उनकी लालसा छिपी हुई पाओगी। यदि ऐसा न होता तो अभी से तुम्हें उनके अपमान और तिरस्कार की चिन्ता क्यों होती? अपनी प्यारी वस्तु की हानि सहने में ही तो मनुष्य असमर्थ होता है? और, अपमानितों की अभिवृद्धि का प्रश्न भी उदारतापूर्ण नहीं है। यदि कोई हमारे वृक्ष पर पत्थर फेंकता है तो हम न उस वृक्ष को काट देते हैं और न दूसरे वृक्ष लगाना बन्द करते हैं। यदि कोई हमारे ऊपर कीचड़ उछाले तो हम घर में बन्द नहीं हो जाते। यदि ऐसा करें तो कायरता होगी, पराजय की मनोवृत्ति का परिचय देना होगा। बुद्धिमान और वीर परिस्थितियों से ऐसे भागते नहीं, डटकर उनका सामना करते हैं।"

"तुमने पीड़क और पीड़ित की शक्ति का अन्तर महसूस नहीं किया।"

"वीर अन्तर का विचार नहीं करते। वे उचित मार्ग पर चलते हुए केवल अपने कर्तव्य पर आरूढ़ करते हैं। हुतात्माओं का रक्त उनके अस्थि-चर्म से अधिक प्रबल होता है, चंचला! वह व्यर्थ नहीं जाता।"

"तो तुम मुझे हुतात्मा बनाना चाहती हो!"—चंचला ने हँसकर कहा।"

निर्मला ने कुछ हँसकर कुछ गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया—"मुझ में क्या शक्ति कि मैं किसी को कुछ बना सकूँ? परन्तु मैं जानती हूँ कि तुम्हारी जैसी युवती को वीर बनना ही होगा। बिना वीरता के तुम एक पग भी आगे न बढ़ सकोगी। और वीर भ्रान्तिपूर्ण बातें सोच-सोचकर अपने जीवन को अकर्मण्य तथा दुःखमय नहीं बना सकता।"

अन्त में चंचला को स्वीकार करना पड़ा कि विवाह उसके लिए कल्याणकारी होगा। घड़ी का काँटा डेढ़ पर पहुँच चुका था अतः निर्मला ने स्मरण कराया कि तुम्हारा विद्यालय का समय हो चुका है, अब जाओ। चंचला ने कहा कि मुझे तुम से बहुत बातें करनी हैं अतः आज मैंने छुट्टी ले ली है। और उसने कहा—

"जीवन और कलकत्तेवाले महाशय के बीच चुनाव का प्रश्न?"

निर्मला ने उत्तर दिया—"मैं तो मानती हूँ कि तुमने जीवन के प्रति बहुत अन्याय किया है। अब तुम बनाना भी चाहो तो उसके साथ बात शायद ही बनेगी।"

"तुम सदा यही आरोप करती रहती हो। मैंने क्या अन्याय किया है?"

"आगरे की बातें तुम्हें स्मरण नहीं हैं?"

"तो ग्वालियर जाकर हमने प्रायश्चित्त नहीं किया ?"

"प्रायश्चित्त तो तुमने नहीं किया। प्रत्येक बात का तुम विरोध ही करती रहीं।"

"मगर....उन्होंने न आकर क्या किया ?"

निर्मला कुछ मुसकरा दी। "उसने" से "उन्होंने" तक की प्रगति उसे बहुत मीठी मालूम हुई। उसने चंचला को छेड़कर कहा—'उसने' ही कहो, 'उन्होंने' क्यों ?"

चंचला ने रूठकर कहा—"अब यदि तू इन बातों पर उतरेगी तो मैं बातें बंद कर दूँगी।"

निर्मला ने मनाते हुए कहा—"अच्छा, छोड़ो। तो, मैं अबतक नहीं मानती कि वह न आया होगा। तुमने उसे ठीक तरह से गाड़ियों में देखा ही नहीं। बेचारा तुम्हारी खोज में भटकता फिरा होगा।"

"नहीं, वह आया ही नहीं।"

"तो भी मैं उसे दोष नहीं दे सकती। तुमने आगरे में उसका जो अपमान किया वह उसका हृदय टूक-टूक कर देने के लिए पर्याप्त था।"

"पिछली बातों को छोड़ो। आगे क्या किया जाये ?"

"अब क्या सोचना है ?"—निर्मला ने एक बार फिर छेड़ा—"कलकत्ते के हरीश बन्दोपाध्याय महाशय तैयार हैं।"

"देखो, सीधी बात करो, निर्मला ! बार-बार व्यंग्य मत करो"—चंचला ने फिर वैसे ही तिनक कर कहा।

और निर्मला ने स्पष्ट देखा कि चंचला के हृदय में जीवन के प्रति पुराना अनुराग नष्ट नहीं हुआ है। केवल उस पर धूमिलता छा गई है, जो सरलता से दूर हो सकती है। अतः उसने कहा—

"बात कठिन हो गई है, पर अब भी असम्भव नहीं दीखती। तुम जीवन से एक बार मिल आओ। चाहो तो मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।"

"उसे यहाँ बुलाया जाये तो ?

"यह ठीक न होगा। ग्वालियर जाने से हमें बहुत सी बातें सरलता से मालूम हो सकती हैं। हम उस लड़की से भी मिल लेंगे।"

"तो मैं काकाजी से यही कह दूँगी।"

बात समाप्त होते-होते ढाई बज गये। निर्मला सेठजी के पास चली गई और चंचला एकान्त में बैठकर अपने भविष्य का नया चित्र बनाने लगी।

परन्तु सेठजी के सामने ये सब बातें मुँह से कैसे निकलेंगी ?

अतएव उसने पत्र लिख देने का निश्चय किया और लेखन आरम्भ हो गया—

"पूज्य काकाजी ! मैं.........."

और जया ने दौड़ते हुए आकर उसकी लेखनी रोक दी। उसने समाचार दिया कि काकाजी अकस्मात् बहुत बीमार हो गये हैं। प्राणों को खतरा है !"

चंचला पर मानों एकाएक वज्रपात सा हो गया। पत्र जहाँ का तहाँ रहा और वह तत्काल उठकर दौड़ती-हाँफती हुई विद्यालय पहुँची। समाचार सच था और सब के मुखों पर उदासी छाई हुई थी।

उस दिन उसी समय विद्यालय में एक संत का प्रवचन था। सब छात्राएँ और कार्यकर्तागण सभाभवन में एकत्रित हो रहे थे।

संत पधारे। उन्होंने व्याख्यान आरम्भ करके एक-दो वाक्य ही कहे थे कि सेठजी के यहाँ से उनके लिए बुलावा आ गया। संत यह कहकर चले गये कि सेठ गंगाप्रसाद का स्वास्थ्य अकस्मात् बहुत खराब हो गया है। डाक्टरों का कहना है कि उनके मस्तिष्क की कोई नस फट गई है और हम सब पर दुःख का महासागर उमड़ रहा है।

सेठजी का आदेश था कि जब तक अनिवार्य न हो, संसार की घटनाओं से प्रभावित होकर अपने नियमित कार्य में व्याघात न पड़ने दो। अतएव यह सम्भव नहीं था कि आश्रम के लोग उन्हें देखने के लिए दौड़ पड़ते। अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार प्रार्थना-मात्र करना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात रह गई।

चंचला अपनी सब समस्याओं को क्षण-भर के लिए भूल गई। उसका सारा ध्यान सेठजी के स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रार्थनाएँ करने में लग गया !—भगवन् उन्हें प्राणदान दो ! स्वयं उनके लिए नहीं, तो उन सहस्रों व्यक्तियों के लिए जो उन्हें अपना एक मात्र आश्रय मानते हैं, उनके प्राणों की रक्षा करो ! अभी तो वह ५० वर्ष से थोड़े ही ज्यादा हैं ! उनके संसार में रहने से तुम्हारी इच्छा तो पूर्ण होती है ! सत् के प्रचार और असत् के निवारण का कितना महान् कार्य वह कर रहे हैं ! भलों को ले जाकर पृथ्वी की इतनी भारी क्षति करने में तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा, प्रभो !

और उसकी अन्तरात्मा कभी कहती कि काकाजी अवश्य अच्छे हो जायेंगे, कभी उसके अन्दर से आवाज आती—भले ही तो शीघ्र जाते हैं, कौन जाने भगवान की क्या इच्छा है ! कौन जाने हमारे हृदय की करुण प्रार्थना उसके कानों तक पहुँचती है या नहीं !

बाहर कोलाहल बढ़ गया। वह सहम उठी। उठकर देखने का साहस नहीं था—कहीं अशुभ समाचार......! परन्तु उसने अपने मन को झिड़क दिया—ऐसा अशुभ विचार ही क्यों !

कोलाहल बढ़ता ही गया। दौड़-धूप होने लगी। वह भीत होकर उठी। और उसका मन फिर अशुभ कल्पनाओं की ओर दौड़ा और उसने उसे फिर दाब दिया—ऐसा कैसे हो सकता है ? ११ बजे तो निर्मला मिलकर आई थी ! तब तो वह बिलकुल स्वस्थ थे !

बाहर से एक बालिका आँसू पोछती हुई आई। चंचला का रहा-सहा धैर्य भी अब टूट गया। अवश्य अनहोनी हो गई !

बालिका ने कहा—"बहन जी !" और उसका गला रुँध गया।

चंचला को विश्वास हो गया। उसके पैरों के नीचे की धरती जैसे खिसकने लगी। फिर भी उसने अपने विचारों को रोका और धैर्य एकत्रित करके डरते-डरते बालिका से पूछा—"क्या हुआ ? रोती क्यों हो ?"

वह उत्तर नहीं चाहती थी। कहीं कोई अवांछित उत्तर न मिल जाये ! परन्तु फिर भी वह उत्तर चाहती थी—

बालिका ने कहा—"काका जी !........"

चंचला पर वज्र टूट पड़ा। उसने संभलते हुए पूछा—"काका जी........क्या ?"

"काका जी........नहीं रहे !" और बालिका बाँध को तोड़कर फूट पड़ी।

चंचला उद्भ्रान्त होकर दौड़ पड़ी !

बाहर अध्यापक गिरधर कह रहे थे—विश्वास नहीं होता ! सुषमा देवी ने उत्तर दिया—फिर भी, सत्य तो सत्य ही है, भाई !"

चंचला दीवाल से टिक गई। उसके अन्दर-बाहर अंधकार छा गया, जिसमें उसने सुना—

"वह हजारों के पिता थे ! सब अनाथ हो गये !"

विराट् एवं कातर जन-समुदाय की उपस्थिति में चिता की लपटें आकाश ,को छूने लगीं। जो कुछ ही घंटों पूर्व तक अपने मन्द स्मित और मधुर वाणी से लोगों के हृदयों में आशा का संचार कर रहे थे, उनका स्थूल शरीर चन्दन की चिता में भस्म हो गया !

३५

सेवक और सेव्य

जीवन रात्रि को सो नहीं सका। सम्पूर्ण रात्रि किसी उलझन को मिटाने में जागते-जागते ही व्यतीत हो गई। प्रातःकाल वह उठा तो चारों दिशाओं के सौन्दर्य ने उसे आकर्षित किया। वह नदी के तट पर जाकर उसमें अपने अन्तरतर की वेदना के लिए किसी दिव्य आलेप के अन्वेषण में निरत हो गया, परन्तु उसे कहीं सान्त्वना प्राप्त न हुई। नदी की लोल लहरें, बालसूर्य की अरुण रश्मियाँ और चारों ओर की वनराजि, जिनसे उसे सदा अलौकिक आनन्द और स्फूर्ति की उपलब्धि होती थी, आज उसके हृदय को आश्रय देने में असमर्थ रहीं और वह अपने ही अन्तर के भावों में बहने लगा।

इतनी व्याकुलता क्यों? क्या तुमने धूप और छाँह नहीं देखी? सूर्य और चन्द्र का ग्रहण एवं पुनः उग्र होना, समुद्र का ज्वार और भाटा, झंझावात और स्निग्ध मलय पवन क्या तुम्हारी दृष्टि से कभी नहीं गुजरा? क्या तुमने इतिहास और पुराण, अंकगणित और रेखागणित, भूगोल और खगोल कभी नहीं पढ़ा? क्या तुमने उत्थान और पतन के दृश्य कभी नहीं देखे? क्या तुम जीवन और मरण का अर्थ भूल गये? फिर यह आकुलता क्यों? तुम्हारी विशालता, उदारता और दृढ़ता आज कंपित क्यों हो रही है? तुम्हारे अन्तर में ज्वालामुखी है और तुम हिम की निगूढ़ शीतलता से आच्छादित हो! तुम्हारी वह प्रस्तरमयी शीतलता द्रवित क्यों हो गई? तुम्हारा वह ज्वालामुखी शीतल क्यों होने लगा?

× × ×

नहीं, मैं उसे नहीं भूल सकता! मेरे शतशः प्रयत्न व्यर्थ होते जाते हैं। ....परन्तु मैं उसे भूल जाने का प्रयत्न ही क्यों करता हूँ? क्या उसकी

स्मृति को निरन्तर अपने मनःप्राण में संचित किये हुए मैं सेवा का कार्य नहीं कर सकता ? क्या उसके ही प्रेम के आकर्षण से मेरे जीवन में यह परिवर्तन नहीं हुआ ? उसे अपने पार्श्व में प्राप्त करने की आतुरता क्यों ?

क्यों ? अह ! फूल कितना सुन्दर होता है, कितना कोमल ! पौधे पर खिला हुआ वह कितने मनुष्यों के मुरझाये हुए हृदयों को हरा-भरा बनाता है। परन्तु मनुष्य इससे सन्तुष्ट नहीं होता। स्वार्थ के वशीभूत होकर वह उसे निर्दयतापूर्वक तोड़ लेता है। वह उसका स्वामी बन जाता है। अह ! स्वामित्व ! तेरी कल्पना अवश्य ही किसी हताश की चिता-भस्म पर उभारी गई होगी। तेरा दूसरा नाम होना चाहिए विनाश !

स्वामित्व और रक्षा ? नहीं, स्वामित्व और भोग ! स्वामित्व और बंदी-गृह ! स्वामित्व और छीना-झपटी ! स्वामित्व और संघर्ष ! स्वामी, तू जिसे अपनी साम्पत्ति कहता है वह तेरे पाश में फँसने के पूर्व कितनी स्वच्छन्द और कितनी प्राणप्रद, प्राणवान थी ! कितने उसका उपयोग करके कृतार्थ होते थे !

और वही स्वामित्व मैं भी चाहता हूँ। क्या मनुष्य के प्रेम का पर्य-वसान स्वामित्व में ही होता है ? बिना स्वामित्व के तुष्टि हो ही नहीं सकती ? क्या सुन्दर फूल को देखकर तोड़ना ही आवश्यक है ?

चन्द्र ! क्या तू भी अपनी सहस्र-सहस्र रश्मियों से अमृत-वर्षा करता हुआ स्वामित्व चाहता है ? ग्रह-नक्षत्रो ! क्या तुम भी स्वामित्व चाहते हो ?

और मैं ? मैं क्या स्वामित्व चाहता हूँ ? नहीं, मैं तो अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता हूँ।

परन्तु जीवन की पूर्णता के लिए क्या उसे प्रत्यक्ष, स्थूल रूप में प्राप्त करना आवश्यक है ? मैं अपने जीवन को पूर्ण करने के लिए उसके जीवन को मर्यादित कर दूँ ? आज उसका जो प्रेम समस्त विश्व को मिलता है उसे केवल अपने पर केन्द्रित करालूँ ? उसे उसके स्वीय जीवन से पृथक् करके अपना सुख-दुःख, अपने आदर्श-उद्देश्य, अपनी आकांक्षाएँ महत्वाकांक्षाएँ उस पर लाद दूँ ?

हाँ ! यही तो मार्ग है ! इसका ही अनुसरण तो राम और कृष्ण तक ने किया ! यह स्वामित्व नहीं, आदान-प्रदान का शान्त, स्निग्ध, शीतल आयो-जन है ! आत्मसमर्पण और आत्मव्याप्ति का गुरुमंत्र है।

किन्तु आदान-प्रदान तो दोनों पक्षों से होता है। यदि कहीं उसे स्वी-कार न हो !

क्या यह हो सकता है ?

क्या यह नहीं हो सकता ?

× × ×

मेरे जीवन में उसका आगमन उदीयमान सूर्य की भाँति हुआ था। सूर्य समस्त संसार को प्रकाश और ओज प्रदान करता है; किन्तु मेरे प्रकाश की किरणें उसके साढ़े तीन हाथ के देदीप्यमान शरीर से आती थीं—उसी में मेरी प्रतिभा थी, उसी में मेरी शक्ति।

अब क्या वह मेरे पास से चली गई है ? यह मेरी चारों दिशाओं में अक्षय अमावस्या की सी तमिस्रा क्यों छा गई ?

तिमिराच्छन्न रजनी को प्रकाशित करने के लिए असंख्य तारागण अपनी-अपनी शक्ति का प्रयोग किया करते हैं, किन्तु कितना व्यर्थ होता है उनका प्रयास ! तारक, तुम कितने महान हो ! जब अखिल सृष्टि सूर्य के प्रचण्ड तेज के प्रति नतमस्तक होती है, तब तुम अपने-आपको छिपा लेते हो और उसकी प्रतिष्ठा में हिस्सा बँटाने का अहंकार-युक्त प्रयास नहीं करते। जब चन्द्र की विमुग्धकारिणी चन्द्रिका विश्व के वक्षस्थल पर अठखेलियाँ करती है तब तुम उसकी प्रभुता एवं श्रेष्ठता को स्वीकार कर मुखमंडल पर झीनी ओढ़नी ओढ़ लेते हो। परन्तु, अमावस्या की घोर अँधियारी में पथिक को मार्ग बतलाने और भूले-भटके हुए को घर पहुँचाने में अपनी स्वल्प ज्योति का सदुपयोग करते हो !

परन्तु क्या तुम मेरी अमावस्या को समुज्ज्वलित कर सकोगे, तारक ? मेरे सिर पर घटाएँ छाई हुई हैं, मेरा पथ बीहड़ है, क्या तुम मुझे घर पहुँचा सकोगे, तारक ?

छिः ! तारक ! ऐसा अहंकार-युक्त प्रयास न करना ! मेरी रात्रि को प्रकाशित करने के लिए चन्द्र की ही आवश्यकता है ! और वह मुँह मोड़ गया है ! परन्तु वह फिर आयेगा, समय हो जाने पर वह फिर लौटेगा। मेरे घर में पूर्णिमा छिटकेगी—शायद, अरुण प्रभात भी खेलेगा !

हाँ ! यह मेरा आशावाद ही है। आशा जीवन का नव-प्रभात है। पवन के शीतल, मन्द झकोरों से जब वह सोये हुए मनुष्य को हौले-हौले थपकियाँ देकर जाग्रत करती है, तभी तो मनुष्य नवजीवन प्राप्त करता है। वह फिर से अपनी पराजय को विजय में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील होता है। मध्याह्न से गुजरता हुआ वह जब संध्या की गोद में पहुँचता है, तब फिर प्रभात की ओर टकटकी बाँधता है। बारबार संध्या आती है, रात्रि भी आती

है, किन्तु निराशा का संदेश लेकर नहीं, आशा के नव-प्रभात में जाग्रत करने के लिए, नवजीवन प्रदान करने के लिए, अरुण राग-रंजित विश्व के दर्शन कराने के लिए!

× × ×

मैं उसके लिए तपस्या करूँगा—अपने रोम-रोम को उसकी स्मृति में, उसकी आराधना में उत्सर्गित कर दूँगा। वह आयेगी—मेरी वीणा की झंकार उसके कानों में पहुँचे बिना रह नहीं सकती। पवन के रथ पर बैठकर सरिता की तरंगों में कल-कल करती हुई, पक्षियों के सुरम्य संगीत में प्रस्फुटित होती हुई, खिले हुए फूलों के साथ हास-परिहास करती हुई वह मुझे दिखलाई पड़ेगी।

किसी मंगलमय प्रभात में ग्राम के ये सरल, प्रेमी निवासी अह्लाद से पुलकित होकर दौड़ते-भागते मेरे पास आयेंगे और संदेश देंगे—वह आ गई! उसका असीम, पक्षपातहीन, निःस्वार्थ प्रेम पाकर ये भोले ग्रामीण विभोर हो उठेंगे। यहाँ अहर्निशि आनन्द मनाया जायेगा। मेरी कुटिया आनन्द से व्याप्त हो जायेगी!

× × × ×

तपस्या? किसके लिए तपस्या? किस लिए तपस्या? कैसी तपस्या? मनुष्य-मनुष्य की प्राप्ति के लिए तपस्या करे? दो पंचभूतों का पार्थिव व्यवधान दूर करने के लिए तपस्या? क्या दूर रहते हुए भी, स्थूल दृष्टि से परे होते हुए भी आत्माएँ एक नहीं हो सकतीं? जीवन-भर दर्शन और स्पर्शन न होने पर भी किसी व्यक्ति के साथ एकात्म्य अनुभव करने के उदाहरण क्या संसार में कम हैं?

सान्निध्य में सन्तोष है—संतोष मृत्यु का दूसरा नाम है। क्या मैं अपनी मृत्यु की कामना करूँ?

दूरत्व में लालसा है, वेदना है, अतृप्ति है—यही जीवन है, यही जाग्रति है। मैं निरन्तर इसकी कामना करूँगा। मेरे प्राण विशाल से विशालतर होते हुए निरन्तर उसके समीप पहुँचने का प्रयत्न किया करेंगे। मेरे प्राणों का विकास होगा, मेरा विकास होगा, और आनन्द से मेरा जीवन ओतप्रोत हो जायेगा। सृष्टि में भिदे हुए उसके प्राण, उसका श्वास, उसका स्पर्श करके आनेवाला पवन, सब मुझे उसकी कहानियाँ सुनाया करेंगे। मेरे आसपास, अन्दर-बाहर, सर्वत्र वह समाई रहेगी। वह निकट रहती हुई भी दूर और दूर रहती हुई भी निकट रहेगी। इससे अच्छी स्थिति और क्या हो सकती है?

परन्तु, यदि वह स्वयं न माने ? किसी शुभ प्रातर्वेला में यदि वह पैदल चलकर, नदी, पर्वत, जंगल पार करती हुई, ग्रीष्म, शीत और वर्षा के निर्दय आक्रमण सहती हुई, पैरों में छिदे हुए काँटों को निकाल-निकालकर, दौड़ती-हाँफती मेरे पास आकर खड़ी हो जाये और कहे—"अब तुम्हारे इस ग्राम-कार्य में मैं भी तुम्हारा हाथ बँटाऊँगी" तो ? तो, मैं आह्लादित होकर, प्रेम की पूर्ति मानकर, परमेश्वर का वरदान समझकर, अपने-आपको उसमें समाहित कर दूँगा।

क्या इस प्रकार मैं सन्तोष का वरण न करूँगा ? हाँ, वह सन्तोष अवश्य होगा, किन्तु उसमें आत्म-समर्पण की भावना जीवन की ज्योति को जाग्रत रखेगी। आत्म-समर्पण में कहीं मृत्यु होती है ? उसमें सतत कर्मशीलता, कर्तव्यनिष्ठा, हितचिन्ता और जागरूकता निवास करती है। वह पुलिस के हाथ में डाकू का अपने-आपको सौंप देना नहीं है, प्राणों की उत्कट वेदना, चैतन्य के उत्तरोत्तर विकास और जीवन की तरलता का प्रत्युत्तर है, अनुवाद है।

तो मैं तपस्या नहीं करूँगा। उसकी स्मृति को अपने हृदय-पटल पर अमिट अक्षरों में अंकित किये, अपने मानस में कल्पना की नौकाको खेता हुआ, अनन्त काल तक चलता रहूँगा।

मैं और मेरा यह ग्राम—सेवक और सेव्य—यही मेरा लक्ष्य होगा।

३६

काकाजी की अन्तिम इच्छा

सेठजी का निधन चंचला को अपने माता-पिता की मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी हुआ। 'बापू' और 'अम्मा' के चिर-वियोग के पश्चात् जब उसे सारा संसार अंधकारपूर्ण प्रतीत होने लगा था तब सेठजी ने उसे अपनी वत्सल गोद में लेकर उसके हृदय में आशा का उद्रेक किया था और धीरे-धीरे वह उनके प्यार में माता-पिता का अभाव भूलकर बढ़ने और खिलने लगी थी। उसे भरोसा हो गया था कि 'काकाजी' का हाथ सिर पर रहते हुए वह निधड़क जीवन की रंगभूमि पर विचरण कर सकती है और यदि भूल भी कर जाये तो उसके लिए क्षमा और उसके प्रक्षालन के लिए अवसर की उपलब्धि असम्भव न होगी। सेठजी के चले जाने से उसका यह सारा भरोसा भी चला गया और वह जीवन-संघर्ष में अपने-आपको अकेली महसूस करने लगी। अब तक उसने जितने मनोरथ बाँधे थे, जितनी अभिलाषाएँ और महत्वाकांक्षाएँ संचित कर रखी थीं, उन सब पर उसे पुनर्विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस प्रयत्न में कभी वह अपना सारा पराक्रम एकत्रित करते सिर ऊँचा रखने का संकल्प करती, कभी अपनी स्वल्प शक्ति का अनुमान लगाकर निराश हो जाती और सब-कुछ छोड़कर साधारण संसार का मार्ग अंगीकृत कर लेने का विचार करने लगती। इस समय उसे निर्मला की सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता थी, परन्तु निर्मला अपने पतिगृह में अपनी गृहस्थी संभालने में व्यस्त थी।

कई महीने इसी प्रकार की ऊहापोह में बीत गये। उसके हृदय पर गुप्त रूप से निराशा और उदासीनता का आवरण पड़ता गया और अन्त में उसका जीवन यंत्र के समान चलने लगा। जो सामने आ जाता उसे कर लेती और मानती रहती कि अन्तिम निश्चय अभी होनेवाला है। उसकी प्रतिभा और उसकी कार्यशक्ति में एक प्रकार का गतिरोध उत्पन्न होता गया, जिसे

दूसरे तो देखते ही थे, वह स्वयं भी कभी-कभी देख सकती थी; परन्तु उसकी ओर से उदासीन थी।

सेठजी अपने सेक्रेटरी हरिदास को अपना 'मानसपुत्र' बताया करते थे। हरिदास भी इसी हैसियत से उनकी भक्ति और सेवा करते थे। सेठजी की आकस्मिक मृत्यु से उनका जो जीवन-कार्य अवशिष्ट रहा, उसके अतिरिक्त अनेक तात्कालिक कार्य भी अपूर्ण रह गये थे। हरिदास ने इन तात्कालिक कामों को पूरा करने का बोझा उठा लिया और अपनी सारी शक्ति तथा योग्यता का उपयोग करके बहुत से कामों को निबटा भी दिया। जो अब भी शेष रहे थे उनमें उन्हें चंचला का विवाह अत्यन्त महत्वपूर्ण मालूम होता था। परन्तु यह प्रश्न जितना महत्वपूर्ण था उतना ही सुकुमार भी था। हरिदास जानते थे कि चंचला और सेठजी के बीच पुत्री तथा पिता का सम्बन्ध था, और यह केवल औपचारिक नहीं, हार्दिक था। सेठजी के स्वर्गवास के बाद इतने शीघ्र विषय को उठाने का अर्थ चंचला को और भी दुःखी मात्र करना होता और इसी आशंका से वह इसे टालते चले गये। उधर, वह यह भी अनुभव करते थे कि इतने शीघ्र इस प्रश्न को हाथ में लेना शोभनीय न होगा।

परन्तु जब उन्होंने देखा और सुना कि चंचला के जीवन में उदासीनता घनीभूत होती जा रही है तो उन्होंने अपने हृदय को कठोर करके केवल कर्तव्य और अन्तिम परिणाम की दृष्टि से विवाह के प्रश्न को उठा लेने का संकल्प कर लिया।

एक दिन उन्होंने चंचला से कहा—"काकाजी तुम्हारे और मेरे दोनों के ही काकाजी थे, इसलिए हम दोनों भी भाई-बहन हैं। क्या मैं तुम्हारे सुख-दुःख में हिस्सा बँटा सकता हूँ ?

हरिदास भावुक सज्जन थे। उनमें शिक्षा लेने की क्षमता और दूसरों को उपकृत करने की अदम्य महत्वाकांक्षा थी। बर्षों तक सेठजी के सम्पर्क में रहने से उन्होंने उनके अनेक गुण अपने में उतार लिये थे। सेठजी का उन पर अनन्य विश्वास था और वह उन्हें विकास के यथेष्ट अवसर दिया करते थे। परन्तु, संसार में जैसा होता आया है, छोटी आयु में ही, विश्वविद्यालय की शिक्षा के बिना, उनका सेठजी के सब कार्यों का उत्तरदायी हो जाना और बहुत से कार्यों का सूत्र अपने हाथ में रखना, अनेक व्यक्तियों को सहन न हुआ। अतएव उनके विरुद्ध ईर्ष्या और द्वेष का वातावरण उत्पन्न हो गया। बहुत कम लोग उनके हार्दिक मित्र और सच्चे हितैषी थे। परन्तु

हरिदास का प्रभाव इतना था कि कोई उनके मुँह पर उनके दोष बताने का साहस न करता और यदि कोई कभी कर ही बैठता तो वह अपनी व्यवहार-कुशलता से उसे निरुत्तर कर देते। हरिदास अपनी स्थिति को भली भाँति समझते थे और उसे कौशल के साथ संभालते हुए, बिना थके, बिना हारे, क्रोध का उत्तर सदैव मुसकराहट से देते हुए आगे बढ़ते जाते थे।

सामान्य लोगों के समान ही चंचला के हृदय में भी उनके लिए कोई स्नेह न था। परन्तु आज जब उसने उनका प्रश्न सुना तो उसे डूबते हुए सहारा जैसा प्राप्त हुआ। उसका निराश और पीड़ित हृदय उमड़ पड़ा। एक क्षण के लिए उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वरदात्री महामाया अपने दोनों हाथ बढ़ाकर उसे आशीर्वाद देने के लिए प्रस्तुत हों। उसका खोज-निरत मन जैसे सहसा कुछ पा गया।

परन्तु दूसरे ही क्षण निराशा ने उसे फिर धर दबाया। उसके सामने संसार अपने प्रवंचनापूर्ण रूप में प्रकट हुआ और वह इस "सु" और "कु", सत् और असत्, आशा और निराशा, संहति और विहति के भावों में डूबती-उतराती हुई साहस करके बोली—

"क्या सचमुच किसी का सुख-दुःख बँटाया जा सकता है, भाईजी ?"

"अवश्य, बहन !"—हरिदास ने उत्तर दिया—"निष्कपट सहानुभूति और प्रेम में असीम शक्ति है।"

हरिदास के कथन में उत्कट भावना और स्पष्ट सत्य का आभास उसे मिला। उसने प्रभावित होकर पूछा—"आप कैसे मेरे सुख-दुःख को बँटायेंगे?"

"अभी तो मेरे सामने एक ही बात है—स्वर्गीय काकाजी की इच्छाओं को यथाशक्ति पूर्ण करना। अन्तिम समय में वह तुम्हारे विवाह के सम्बन्ध में बहुत चिन्तित थे। तुम स्वीकार करो तो उस पुनीत कार्य को मैं अपने हाथों में ले लूँ।"

चंचला एकदम चौंक पड़ी। उसने विस्मय के साथ कहा—"क्या यह समय विवाह की बातें करने का है, भाईजी ? अभी तो काकाजी को गये तीन महीने भी पूरे नहीं हुए !"

हरिदास अपनी बात पर दृढ़ रहे। उनका मन स्वीकार ही नहीं करता था कि सेठजी संसार से बिछुड़ गये हैं। वह मनुष्य की इच्छा-शक्ति की श्रेष्ठता मानते थे। उनका विश्वास था कि सेठजी जीवनमुक्त थे और जीवनमुक्त का निधन कैसा ? वह कहते—सेठजी ने अपने-आपको पूर्णतया जनता-जनार्दन के हाथों में सौंप दिया था। शरीर रहते वह बन्धन में थे, उनकी शक्ति परिमित

थी; शरीर को छोड़कर वह मुक्त हो गये, उनकी शक्ति अपरिमित हो गई। मुक्त, अपरिमित शक्ति प्राप्त कर वह सम्पूर्ण रूप से जनता-जनार्दन में समा गये हैं। इस प्रकार वह निरन्तर हमारे बीच मौजूद रहते हैं। फिर, किसी के हित के कार्य में उनकी शारीरिक अनुपस्थिति का प्रश्न ही कैसा?

उन्होंने उत्तर दिया—"यह कार्य करना तो काकाजी की ही इच्छा पूर्ण करना है। इसमें यह आपत्ति नहीं होनी चाहिये।"

"काकाजी की इच्छा तो अब मेरे लिए दैव की इच्छा के समान पवित्र और मान्य हो गई है, परन्तु भावनाओं का भी तो कुछ प्रश्न होता है?"

हरिदास को निश्चय था कि वह जो कुछ कर रहे हैं वह उचित है। उन्होंने उसी धारा में उत्तर दिया—"जिस इच्छा को तुम दैव की इच्छा के समान मानती हो, उसमें तुम्हारी भावनाओं का प्रश्न ही नहीं रह जाता। तुम्हें केवल इतना विचार करना है कि काकाजी की वह इच्छा थी या नहीं। और इतना तुम जानती हो।"

"हाँ, उनकी इच्छा अवश्य थी और जिस समय उनका देहान्त हुआ, वही समय उन्होंने मेरे साथ इस विषय पर अन्तिम बातें करने के लिए निश्चित कर रखा था। इसी सम्बन्ध में उन्होंने निर्मला को तार देकर बुलाया था।"

"और निर्मला ने तुम्हें सब बातें बता ही दी होंगी?"

"सब तो नहीं, कुछ बातें उसने बताई थीं। काकाजी ने उसे दुपहर को और बातें करने के लिए बुलाया था। उससे बातें करते-करते ही वह बीमार हो गये थे। उनके देहान्त के बाद निर्मला से उस विषय पर क्या बातचीत हो सकती थी?"

"तब तो काकाजी की इच्छा ही नहीं, अन्तिम इच्छा भी यही थी।"

"मैं क्या कहूँ!"

"तुम 'हाँ' कहो, और मैं इस प्रश्न को उठा लूँ।"

"मैं काकाजी की इच्छा अमान्य नहीं करूँगी। परन्तु........"

"परन्तु कुछ नहीं। तुम मेरे ऊपर छोड़ दो। मैं काकाजी की इच्छा के विपरीत कुछ न करूँगा। मेरा विश्वास है कि इससे काकाजी की आत्मा को सन्तोष होगा।"

"आप क्या करेंगे?"

"काकाजी लगभग सभी बातें तय कर गये हैं। केवल अन्तिम उत्तर शेष था। तुमसे बातें करने के बाद वह अन्तिम स्वीकृति लिख भेजते। यही काम अब मैं करूँगा।"

"परन्तु मैं उनसे कुछ दूसरी ही बातें करना चाहती थी।"

हरिदास को भय हुआ कि चंचला फिर विवाह के प्रश्न को टालना चाहती है। अतः उन्होंने उसकी बात सुने बिना ही कहा—

"अपनी बातें तो तुमने उनसे बरसों तक कीं। अब उनका विचार छोड़ दो। केवल काकाजी की इच्छा का विचार करो।"

चंचला ने कोई उत्तर नहीं दिया। हरिदास ने फिर कहा—"हरीश बन्दोपाध्याय के पिता शीघ्रता कर रहे हैं। अब वह ठहरने को तैयार नहीं हैं। यदि उन्हें तुरन्त स्वीकृति न भेजी गई तो यह अमूल्य अवसर हमारे हाथ से निकल जायेगा।"

चंचला कुछ तीव्र हो गई। उसने कहा—"तो यह सब बातें आप उनके लिए कर रहे हैं?"

इन शब्दों का अर्थ हरिदास ने कुछ भी समझा हो, उनके मन में कोई भी तर्क काम कर रहे हों, उन्होंने उत्तर यह दिया—

"काकाजी की इच्छा यही तो थी!"

चंचला अवाक् हो गई। उसके मुख-मंडल पर व्याकुलता स्पष्ट दिखलाई पड़ रही थी। उसे ताड़कर हरिदास ने कहा—"काकाजी यदि होते तो यह शुभ कार्य अब तक कभी का हो चुकता।"

चंचला की व्याकुलता और बढ़ गई। उसने मन-ही-मन सोचा—"और जीवन? क्या उसका प्रश्न सदा के लिए दूर हो गया?" और उसने हरिदास से कहा—

काकाजी की इच्छा मुझे शिरोधार्य है, किन्तु मैं निर्मला को पत्र लिख रही हूँ। उसका उत्तर आने पर ही अन्तिम निर्णय कर सकूँगी।"

"अर्थात्, निर्मला का निर्णय तुम्हारा निर्णय होगा?"

"ऐसा मानना अनुचित तो न होगा।"

"तो मैं उन्हें पत्र लिखे देता हूँ। निर्मला के सम्बन्ध में मुझे विश्वास है।"

"कुछ दिन ठहर क्यों न जायें?"

"समय नहीं है, काम बिगड़ जायेगा।"

चंचला उठकर चली गई और हरिदास ने बन्दोपाध्याय महाशय को स्वीकृति का पत्र लिख दिया। उन्होंने उनसे अनुरोध भी किया कि जितने शीघ्र हो सके, संस्कार सम्पन्न कर दिया जाये।

३७

क्या यही सच है?

तो, क्या काकाजी यही चाहते थे कि मैं जीवन को भूल जाऊँ? क्या यह सम्भव है? उन्होंने उसके विरुद्ध कभी कोई बात मुझसे नहीं कही। उलटे, यही सलाह दी कि उसके प्रति अन्याय मत होने दो। उन्होंने कहा—ठीक बातें समझ लो, फिर किसी निर्णय पर पहुँचना। उन्होंने स्वयं उसकी प्रशंसा भी की। तो फिर हरिदासभाई ने कैसे कहा कि नये प्रस्ताव को पूर्ण करना ही उनकी अन्तिम इच्छा थी? निर्मला से भी तो काकाजी ने बातें की थीं। उसने मेरे हृदय की अवस्था से काकाजी को अवगत कराया ही होगा। तब भी काकाजी ने यह निर्णय किया? काकाजी! आपने इस मँझधार में मुझे छोड़ दिया? मैं कैसे जानूँ, आपकी इच्छा क्या है—आप मेरे लिए क्या निर्णय कर गये हैं? हरिदासभाई आपकी सब बातें जानते हैं, और उनका तो कहना है कि यही आपकी अन्तिम इच्छा है! किन्तु मेरा मन स्वीकार नहीं करता। अह! मैं सदा की भांति दौड़कर आपके पास आ सकती!........

चंचला फूट-फूटकर रोने लगी। इसके पूर्व कितने ही अवसरों पर छोटी-छोटी समस्याओं को हल करने के लिए भी वह 'काकाजी' की कुटिया को दौड़ी थी। कितनी उद्विग्नता से जाती और कितनी शांत होकर लौटती! और आज? आज जीवन की सबसे बड़ी समस्या उसके सामने है और उसे ढूँढ़ने पर भी कोई सहारा नहीं मिलता। 'काकाजी' की कुटिया खाली है और वह अपने जीवन का कठिनतम संघर्ष झेलने के लिए एकाकी छूट गई है! रोते-रोते आँखें फूल गईं। हृदय अविराम गति से 'काकाजी' को पुकारता रहा।

अन्ततः उसे प्रतीत हुआ कि उसका रोदन—उसकी आर्त पुकार व्यर्थ नहीं हुई। 'काकाजी' सशरीर नहीं हैं, किन्तु निर्मला तो उनकी साक्षी है।

उसे उन्होंने तार देकर बुलाया था और उससे सभी बातें की होंगी। वह चर्चा उन्हीं दुर्भाग्यपूर्ण क्षणों में बन्द हुई थी।

तो, निर्मला को क्यों न बुलाया जाय? परन्तु क्या उसे बार-बार गार्हस्थ्य दायित्व छुड़ाकर बुलाना उचित होगा? उसके सिवा मेरा है कौन? एकमात्र वही तो मुझे राह दिखा सकती है! वही तो काकाजी के अन्तिम संदेश की साक्षी बन सकती है! निश्चय ही वह कहेगी, यह गलत हो रहा है, काकाजी ने किसीको अपने हृदय की हत्या करने को नहीं कहा! और अवश्य ही मैं इस हत्या से बच जाऊँगी। मैं उसे पत्र लिखूँगी। उसके सामने अपना दिल खोलकर रखूँगी। आवश्यक हुआ तो वह आयेगी। पत्र का उत्तर तो देगी ही।

और चंचला आँसुओं को रोककर पत्र लिखने बैठ गई। उसने लिखा—

"मेरी निर्मला,

"यह पत्र देखकर तुम्हें क्या लगेगा, मैं नहीं जानती; न आज मुझे इसकी चिन्ता ही है। मुझे क्या लगता है, मेरी अवस्था क्या है, इसे तुमसे अधिक कौन जानता है? तो फिर मुझे क्या चिन्ता? बहन, आज मेरा मन बहुत उद्विग्न है। तुम पूछोगी, ऐसा कब नहीं था? किन्तु आज मेरे समक्ष जीवन-मरण की-सी समस्या है।"

"आज हरिदासभाई से कुछ बातें हुईं। कौन-सी बातें, शायद तुम कल्पना कर सको। हमारे काकाजी को गये तीन महीने भी नहीं हुए, इसी बीच इन बातों का आरंभ किया जाना मुझे बहुत अप्रिय लगा। परन्तु उनका कहना है कि यही काकाजी की इच्छा थी। मैं उनके कथन को अस्वीकार भी नहीं कर सकती, क्योंकि मैं जानती हूँ, काकाजी इस प्रश्न पर कितनी गहराई और चतुर्मुखी प्रज्ञा से विचार करते थे। फिर भी हरिदासभाई की बातों से आज चित्त अत्यन्त व्यथित हो गया। मेरा मन किसी भी तरह मानने को तैयार नहीं होता कि काकाजी सचमुच ही कलकत्तेवाले सम्बन्ध के पक्ष में थे। वह मेरी भावनाओं से परिचित थे। वह किसी के प्रति अन्याय नहीं कर सकते थे। इस अवस्था में मैं हरिदासभाई की बातें कैसे मानूँ?"

"और, सुनती हूँ, वे लोग ब्राह्मण हैं। और निर्मला, चिढ़ना मत; मेरे कल्पना-साम्राज्य पर रुष्ट न होना। परन्तु सोचो, क्या मेरा यह सम्बन्ध योग्य होगा? उनकी जन्मसिद्ध भावनाएँ हैं, स्वयंसिद्ध संस्कार हैं, पूर्वग्रह हैं, पक्षपात हैं। मेरी भी अपनी विचार-धारा, हरिजन होने का विषादयुक्त गौरव, पूर्वग्रह, सिद्धान्त और आदर्श हैं। क्या ये सब मेल खायेंगे? नारी का पत्नी के

रूप में जो दायित्व है—पति के चरणों में सर्वस्व-समर्पण करने का दायित्व — उसे मैं इन परिस्थितियों में पूर्ण कर सकूँगी ? बापू और अम्मा के प्रति उऋण होने की प्रतिज्ञा का इसके बाद मैं पालन कर सकूँगी ? जो भावना पति के नहीं है उसे पूरी करने में पत्नी बनने के बाद स्त्री समर्थ हो सकती है ? मेरे पत्नीत्व और पुत्रीत्व के धर्म-पालन में संघर्ष उत्पन्न नहीं हो जायेगा ? वह संघर्ष क्या उनके लिए, मेरे लिए, किसी के लिए भी कल्याणकारी होगा ? बहन, जितना ही सोचती हूँ उतनी ही ये सब बातें असम्भव प्रतीत होती हैं।

"किन्तु, हरिदासभाई का कथन—यह काकाजी की अन्तिम इच्छा थी ! ओह ! कैसी बात ! क्या यह सच है ? निर्मला, तुम ही बता सकती हो, यह सच है या नहीं। मेरी सब बातें तुमने उनसे कह दी होंगी। उन्होंने क्या कहा था ? तुम ही मुझे मार्ग दिखाओ !

"निश्चय ही काकाजी की इच्छा के सामने मेरी इच्छा का कोई मूल्य नहीं है। उनकी इच्छा मेरे लिए शिरोधार्य आज्ञा है। प्रत्येक परिस्थिति में मैं उनकी इच्छा पूर्ण करूँगी। अपने हृदय को आवश्यकता पड़ने पर कुचल डालूँगी। अपनी अभिलाषाओं को भस्म कर दूँगी। उनके बताये मार्ग पर तन को होम दूँगी। किन्तु मुझे मालूम हो कि वह सचमुच यही चाहते थे। निर्मला ! मैं तुम्हारे ही उत्तर की राह देख रही हूँ। बताओ, सचमुच काकाजी क्या चाहते थे ?

—तुम्हारी चंचला।"

पत्र भेजकर चंचला आकुलता के साथ उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। इतने दिनों तक उसने अपनी निराशा में संसार के सभी विचारों को डुबा रखा था। उसका जीवन यान्त्रिक स्निग्धता के साथ चल रहा था। परन्तु हरिदास की कल्याण-कामना ने उसे एक बार अपनी परिधि से बाहर देखने को उन्मुख किया। उसे विवाह के प्रस्तुत प्रस्ताव से कोई संतोष न था और वह सोचने लगी कि उसने विवाह न करने का संकल्प क्यों बदला, उसमें क्या त्रुटि थी ? क्या संसार में विवाह न करनेवाले लोग नहीं हैं ? मुझे विवाह का उद्देश्य जीवन को पूर्ण बनाना बतलाया गया, किन्तु मेरे विवाह की जो बातें की जा रही हैं उनमें पूर्णता के लिए अवकाश कहाँ है ? वहाँ तो पूर्ण आत्म-अवमानना, दासीत्व के अतिरिक्त कुछ दिखलाई ही नहीं पड़ता ! मुझे अपने समस्त आदर्शों की बलि करके पति के आदर्शों को स्वीकार करना होगा। इसमें आदर्शों का समन्वय कैसा ? हाँ, पति के आदर्शों की पूर्ति भले ही हो जाये। उसमें मैं बलि भले ही

हो जाऊँ। क्या इस स्थिति को सहन करने के लिए मैं तैयार हूँ? यदि नहीं, तो क्या इस विवाह से दोनों का जीवन नष्ट न हो जायेगा? मैं जानबूझ कर इस अशुभ कार्य में योग दूँ?

हाँ! काकाजी की इच्छा! यदि सचमुच ही उनकी यह इच्छा थी तो मैं अवश्य इसे पूर्ण करूँगी। यदि यह उनकी इच्छा नहीं थी तो संसार की कोई शक्ति मुझे इसके लिए बाध्य नहीं कर सकती!

चंचला को किंचित् शान्ति मिली। विद्यालय का समय हो चुका था, स्नान भोजनादि के बिना ही वह चल दी।

विद्यालय में आज एक नयी उदासी छाई हुई दिखलाई पड़ती थी। किसी के मुख पर हर्ष नहीं, किसी के हृदय में उल्लास नहीं। सभी एक-दूसरे से धीरे-धीरे, कभी-कभी कानों में बातें करते थे। जहाँ चंचला जाती, वहाँ से अधिकांश छात्राएँ हट जातीं। इसी बीच दो-चार लोगों ने उसके पास आकर बधाई भी दी। इतनी निष्प्राण बधाई शायद उपचार के लिए भी नहीं दी जाती।

चंचला कुछ समझ न सकी। वह सीधी कक्षा में चली गई। समय हो जाने पर भी बहुत-सी छात्राएँ कक्षा के बाहर घूम रही थीं।

चंचला ने साधारण प्रश्न किया—"शेष छात्राएँ कहाँ हैं? आज तो तुम लोग बहुत कम हो?"

किसी छात्रा ने कोई उत्तर न दिया। इस पर चंचला ने कहा—"तुम लोग बोलतीं क्यों नहीं!"

फिर कोई उत्तर न मिला। चंचला के मन में शंका हुई। उसने एक बालिका का नाम लेकर पूछा—"तुम बताओ शीला, क्या बात है? और छात्राएँ कहाँ हैं? तुम सब आज इस प्रकार चुप क्यों हो?"

शीला ने कहा—"बाहर हैं।"

"क्यों?"

"पता नहीं।"

"अच्छा जाओ, उन्हें बुला लाओ"—कहकर चंचला सोचने लगी कि बात क्या है। मुझसे कोई गलती हो गई है, क्या?

बालिकाएँ एक-एक करके कक्षा में आने लगीं। जब एक-दो को छोड़कर सब बालिकाएँ आगईं और शेष के आने की कोई आशा न रही, तो चंचला ने पूछा—"तुम सब अभी तक कहाँ थीं?"

किसी बालिका ने सिर ऊँचा न किया, न उसकी ओर देखा। किसी ने कोई उत्तर भी नहीं दिया। यह रुख देखकर चंचला की परेशानी तथा शंका

और बढ़ी। उसने फिर पूछा—"मुझसे कोई गलती हो गई है ?"

एक छात्रा ने उत्तर दिया—"हमने सुना है कि आपका विवाह होने वाला है ?"

चंचला ने बलपूर्वक अपने भावों को दबाकर और थोड़ा-सा मुसकरा कर कहा—"और यदि यह सच हो, तो क्या तुम सब इतनी रूठ गईं कि कक्षा में आने और मुझसे बोलने को भी तैयार नहीं हो ?"

उसकी मुसकान और शब्दावली का बालिकाओं पर कोई अनुकूल प्रभाव न पड़ा। एक दूसरी बालिका ने कहा—"सुना है, आपको यही समय अच्छा लगा ?"

अब चंचला अपने भावों को छिपा न सकी। फिर भी उसने शान्ति से पूछा—"तुम्हारा क्या अर्थ ?"

"शिक्षकालय में बातें हो रही थीं कि आप चाहती हैं, विवाह तुरन्त हो जाये...."

"मैं चाहती हूँ ?"

"हाँ !"

दूसरी बालिका बोल पड़ी—"और आपके भावी ससुरजी भी तो आ गये हैं ?"

चंचला को विश्वास हुआ भी और नहीं भी। कल ही बातें हुईं, आज ही पत्र गया होगा, और 'भावी ससुर' महाशय भी आ गये ! यह कैसे हो सकता है ! नहीं ? तो ये सब बातें कैसे फैलीं ? और मैं चाहती हूँ ?

उसने कहा—"ये सब व्यर्थ बातें हैं। तुम लोग अपनी पढ़ाई करो। निकालो पुस्तक।"

बालिकाएँ अपनी-अपनी पुस्तकें निकालने लगीं। इसी बीच एक बालिका ने कहा—

"काकाजी आपको बहुत प्यारे थे, न बहनजी ?"

चंचला क्या उत्तर देती ? शब्द तो तीर के समान उसके हृदय में जाकर लगे, परन्तु बालिकाओं को कैसे समझाया जाये कि उनके मन में भ्रान्ति है। उसने बात को अनसुनी करके पूछा—"क्या पढ़ना है, आज ?"

"वही, 'रोम जल रहा था, नीरो बंसी बजा रहा था' वाला पाठ"—एक छात्रा ने सचमुच या व्यंग्य से बताया।

नीरो बंसी बजा रहा था ! और चंचला आगे सहन न कर सकी। वह पुस्तक रखकर कक्षा से बाहर निकल गई।

३८

सहयोग धर्म

जीवन का कार्य-क्षेत्र दिन-दिन बढ़ता गया। अब उसके वटवृक्ष के नीचे प्रातःकाल और मध्याह्न में नियमित रूप से गाँववालों का जमाव होने लगा है। वे वहाँ आते हैं, विश्राम करते हैं और अनेक प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते हैं। अब वे ही बारी-बारी से उसके नीचे की सफाई भी कर लेते हैं। वहाँ की भूमि लीप-पोतकर स्वच्छ कर ली गई है और उसके टीले-गड्ढे बराबर कर दिये गये हैं! पक्षियों की गंदगी को मिटाने के लिए ऊपर टट्टों चँदोवा तान दिया गया है, जिससे अब वहाँ निर्बाध रूप से दिनभर बैठा-उठा और काम किया जा सकता है।

आनेवालों में लड़के-लड़कियाँ, युवक और वृद्ध सभी लोग सम्मिलित हैं। जीवन किसी को किसी विशेष प्रकार का कार्य अथवा व्यवहार करने के लिए बाध्य नहीं करता। उसके 'आश्रम' में न तो नियमित उपस्थिति की अनिवार्यता है, न कक्षाएँ हैं, न गुरु हैं और न शिष्य हैं। प्रत्येक अपना और दूसरों का गुरु है, प्रत्येक अपना और दूसरों का शिष्य है। जब कुछ लोग एकत्रित हो जाते हैं, तो जीवन कुछ ऐसी बातें निकाल देता है, जिससे वे अपने-अपने हृदय का उत्साह व्यक्त करने लगते हैं। इससे ही तरह-तरह की ज्ञानवर्धक कहानियों और अनुभवों का कहना-सुनना आरम्भ हो जाता है। जीवन भी यथासम्भव उन्हें सुनता है और फिर उन पर मीमांसा आरम्भ करा देता है। निश्चित और सुन्दर निष्कर्ष निकल आने पर विषय को बदल दिया जाता है।

उद्योगों में जीवन अधिक अभिरुचि प्रदर्शित करता है। वह स्वयं गाँववालों से छोटे छोटे हस्तोद्योग सीखता है और ऐसी वस्तुएँ बनाता है, जो बाजार में अथवा घर-घर बेची जा सकें। उसे देखकर अन्य लोग भी अनेक उद्योग सीखने लगे हैं। इस कार्य में वह सदा निर्माण्य वस्तु की आवश्य-कता और उपयोगिता का ध्यान रखता है और कोई ऐसा काम नहीं होने

देता, जिससे गाँव के छोटे-छोटे कारीगरों की जीविका पर बुरा परिणाम हो। फलतः उसके 'उद्योग विभाग' में मिट्टी, सीप, पत्थर, सींग, लकड़ी आदि की नई-नई वस्तुएँ तैयार होने लगी हैं और लोगों ने अपने हाथों तकलियाँ बना कर सूत कातना भी आरम्भ कर दिया है। कुछ किसानों को समझाकर उसने नये-नये शाकों की खेती शुरू करा दी है। अनाज के खेतों के बारे में भी वह किसानों से बहुधा बातचीत किया करता है और उसे विश्वास हो गया है कि आगामी ऋतु में जो जोताई-बोआई की जायेगी, वह पहले से अच्छी होगी।

गाँव में ईंटें बनाने की ओर अब तक किसी ने ध्यान नहीं दिया था फलतः यहाँ बननेवाले मकानों के लिए भी कच्ची-पक्की ईंटें दूसरे गाँवों से आती थीं। गाँव के लोग जाति-पाँति की मर्यादाओं का ख्याल करके इस उद्योग के लिए तैयार नहीं थे। जीवन ने अपने वट-वृक्ष के नीचे एकत्रित होनेवाले वृद्धों से इस विषय पर बात-चीत की और कुछ लोगों को यह प्रयोग करने की अनु-मति दिला दी। वृद्धों ने शर्त लगाई कि जो लोग काम करेंगे उन्हें प्रत्येक भट्ठे को उतारने के बाद सत्यनारायण की कथा सुनकर पवित्र होना पड़ेगा, और जीवन ने यह शर्त स्वीकार कर ली। ईंटें बनाने का काम भी इस प्रकार शुरू हो गया, परन्तु अभी उसका स्वरूप अवकाश के काम का ही था।

रात्रि को जीवन गाँव में चला जाता। वहाँ वह गरीब लोगों के सुख-दुःख सुनता और उन्हें यथासम्भव सहायता करने का प्रयत्न करता। अनेक मद्यपीयों से उसने मद्यपान छुड़ा दिया, जिसके लिए वे और उनके परिवार के लोग उसका उपकार मानते हैं। जमींदार के संकेत से कुछ गुंडे गाँव के लोगों को सदा आतंकित करते रहते थे। जीवन ने जमींदारों को समझाकर उनकी दुष्प्रवृत्तियों को रुकवा दिया है, और इससे गाँव के लोग बहुत प्रसन्न हैं।

इस प्रकार जीवन की प्रवृत्तियों के साथ-साथ उसका प्रभाव भी निरंतर बढ़ता जा रहा है। उसे व्यक्तिगत बातें सोचने का अवकाश ही नहीं, फिर क्या कोई अपने रक्त-मांस में भिदी हुई भावनाओं को दूर कर सकता है?

जब कभी भी उसे समय मिलता है, वह सबसे अलग होकर नदी-तट पर किसी एकान्त स्थान में जा बैठता है और सदा जाग्रत तरंगों की कल-कल वाणी में कोई नया संदेश सुनने का प्रयत्न किया करता है। निश्चय ही लहरें उसे प्रतिदिन आशा का नया संदेश देती हैं, जिससे उसका परिवेश गूँजता रहता है और उसके प्राण द्विगुणित शक्ति प्राप्त करते हैं।

निर्मला का प्रथम पत्र इन्हीं शुभ संदेशों की पूर्त्ति का आयोजन तो था ! अब तक जीवन इन बाह्य लहरों का अपने अन्तरतम की लहरों से समन्वय न कर पाया था। निर्मला का पत्र पाने पर यह समन्वय पूर्ण हो गया। अब उसे नित्य नया संदेश सुनने के लिए सरिता-तट पर जाने की आवश्यकता न रही। किसी भी स्थान पर, किसी भी क्षण, थोड़े से एकान्त का आधार पाने पर, वह अपने हृदय के अन्दर ही उन लहरों की वाणी सुन सकता था, उनके आन्दोलन का अनुभव कर सकता था। और उसने यह संदेश सुनने के लिए नित्यप्रति कुछ समय अपनी कुटिया के एक कोने में ध्यान लगाना आरम्भ कर दिया। उस कोने में मिट्टी का ऊँचा आसन बनाया गया, उस पर देव-छवि जैसी कोई वस्तु प्रतिष्ठित की गई और उस पर प्रतिदिन प्रातःकाल फूलों की माला चढ़ाई जाने लगी। छवि वस्त्र से सदा ढकी रहती थी, किन्तु उसके सम्मुख प्रतिष्ठित एक देव-मूर्ति का दर्शन सबको सुलभ था। आसन के ऊपर सुन्दर अक्षरों में खुदा हुआ था—

"गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागौं पायँ ?
बलिहारी गुरु आपकी, गोविंद दियो बताय।"

एक दिन विनायक, लीला आदि तीनों सखियाँ और करुणाशंकर जीवन से मिलने के लिए आये। जीवन ने अपने वट-वृक्ष के नीचे उनका स्वागत किया और अपने पूरे कार्य का परिचय दिया। मित्र-मंडली इतने थोड़े से समय में इतना कार्य देखकर चकित हुए बिना न रह सकी। यद्यपि सभी को जीवन की निष्ठा और शक्ति पर विश्वास था, फिर भी परिस्थितियों की दृष्टि से इतने शीघ्र इतने कार्य की आशा किसीने न की थी।

करुणाशंकर ने कहा—"जीवनभाई, आपने तो चमत्कार कर दिखाया।"

जीवन ने उत्तर दिया—"यह चमत्कार प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, करुणाभाई ! केवल मनोयोग और सहानुभूति के साथ लग जाने की बात है।"

"इतने लोगों को इस सब काम के लिए तुमने तैयार कैसे कर लिया ?"

"मैं स्वयं इनमें घुल-मिल गया। इनकी भावनाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और गुणों को मैंने अपना लिया। यही इनको मिलाने की कुँजी थी।"

"जरा समझाओ !"

"मैं प्रत्येक बात को इनकी दृष्टि से सोचने लगा। इनमें बहुत से लोग ऐसे थे, जो अपने को तरह-तरह की बातों में बहुत योग्य समझते थे। उनका दूसरे लोगों पर कुछ प्रभाव भी था। इधर मुझे कार्यकर्ताओं और शिक्षकों की

आवश्यकता थी। मैंने इनकी योग्यता का ठीक अन्दाजा लगाया और उसके अनुसार इनसे शिक्षा देने का कार्य लेने लगा। इनके अहंकार का पोषण हुआ और ये मेरे बन गये।"

"परन्तु अहंकार का पोषण करने में कोई हानि नहीं है?"

"है। परन्तु अहंकार सबमें होता है। उसे हम नष्ट करने लगें तो हमारा काम कभी पूरा नहीं हो सकता। मैंने इनके अहंकार पर सीधा प्रहार नहीं किया, उसे उचित दिशा में लगाने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर, कुछ दूसरे लोग इन्हें भी सिखाने के लिए नियुक्त किये गये, जिससे उनका यह ख्याल मिटने लगा है कि हम सब बातों में सबसे बड़े हैं। धीरे-धीरे ये महसूस करने लगे हैं कि जहाँ हम किसी एक बात में श्रेष्ठ हैं, वहाँ दूसरे दूसरी बातों में श्रेष्ठ हैं।"

"और दूसरे लोग कैसे आये?"

"गुणों के पारस्परिक आदान-प्रदान का यह पहलू तो प्रायः सभी पर लागू है। दूसरा मुख्य पहलू है आवश्यकता का। मैंने इनकी आवश्यकताओं का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि गरीबी को दूर किये बिना कोई काम नहीं हो सकता। इसलिए मैंने इनसे छोटे-छोटे उद्योग शुरू कराये। उनसे इन्हें हाथ के हाथ पैसे मिलने लगे और मेरे कार्य का महत्त्व इनके मन में जम गया। इस प्रकार संख्या बढ़ गई।"

"उद्योग सिखाता कौन है?"

जीवन को हँसी आ गई। उसने कहा—"भाई तुम समझते हो इनमें कला-कौशल अथवा साधारण ज्ञान की कमी है? यह धारणा भ्रांत है। इनके अन्दर इन सबका अगाध समुद्र छिपा हुआ है। हवा नहीं मिलती इसलिए उसमें आन्दोलन नहीं होता। मैंने थोड़ी सी कल्पनाएँ दीं, थोड़ी सी मदद की, और वह सब कला-कौशल तथा ज्ञान प्रकट होने लगा। यही आपस में सीखते-सिखाते हैं। मैं इन्हें केवल सहयोग धर्म की व्यावहारिक शिक्षा दे रहा हूँ।"

"और बौद्धिक शिक्षा के लिए क्या करते हो?"

"बुद्धि और ज्ञान की भी इनमें वही अवस्था है। मैंने इनके ज्ञान को स्फूर्ति दी तो वह अजस्र प्रवाह के रूप में बह चला। कमी इतनी ही है कि उसमें सुश्रृंखलता तथा परिष्कार नहीं है। मैं इनसे उसे निकलवाता हूँ और मीमांसा द्वारा उसको परिष्कृत करने का प्रयत्न करता हूँ।"

"भाई, तुम्हारा यह सहयोग धर्म चिरजीवी हो! परमेश्वर तुम्हें सदा सहायता करें!"

जीवन ने करुणाशंकर को गले लगा लिया।

इस बीच लीला अपनी दोनों सखियों के साथ इधर-उधर का दृश्य देखने निकल गई थी। घूमती-घामती तीनों सखियाँ जीवन की कुटिया में गईं। उन्होंने उसका सामान, उसकी पुस्तकों और उसकी बनाई हुई सभी वस्तुओं की परीक्षा की और उन्हें सन्तोष हो गया कि एक सन्त के लिए जितनी वस्तुओं की आवश्यकता है उससे अधिक इस कुटिया में कुछ नहीं है।

अन्त में उनका ध्यान देवासन के ऊपर लिखे हुए दोहे पर गया और उन्हें उसे देखकर 'गुरु' को जानने की जिज्ञासा हुई।

लीला ने कहा—"गोविंद के साथ तो कोई गुरु नहीं हैं, फिर वह दोहा लिखा क्यों गया?"

सरस्वती—"खोज करो, मिल जायेगा।"

यमुना—"तुम भी, सरस्वती, छोटी-छोटी बातों में फँसती रहती हो। गुरु मन में नहीं हो सकता?"

"नहीं, देवीजी, नहीं हो सकता; नहीं तो, इस स्थान पर इसे लिखने का कोई अर्थ न होता। खोजिए!"

और उसने आसन का परीक्षण प्रारम्भ कर दिया। वस्त्र हटाते ही फूल-माला से सजी हुई एक छवि दिखलाई दी। उसे आदर के साथ उठाकर उसने सब को दिखलाया।

चित्र वही था, जिसे दो वर्ष पूर्व जीवन ने ट्यूशन की आय से चाँदी में मढ़ाया था।

सखियाँ विस्मय-विमुग्ध होकर देखती रहीं।

३६

प्रतारणा

हरिदास ने चंचला से बातें करने के बाद बन्दोपाध्याय महाशय को पत्र तो लिख दिया किन्तु कुछ ही देर में उन्हें ज्ञात हुआ कि बन्दोपाध्याय महाशय स्वयं आगये हैं।

भेंट होने पर बन्दोपाध्याय ने कहा—"मुझे काशी आना था, सोचा आपसे भी मिलता चलूँ।"

"मैंने अभी-अभी आपको एक पत्र भेजा है"—हरिदास ने आदरपूर्वक कहा।

"अब तो शायद कार्य शीघ्र न हो सकेगा ?"

"मैंने बालिका को सहमत कर लिया है। आप जब चाहें, हो जायेगा।"

"भगवान मंगल करें ! तो पद्धति कौन सी होगी ?"

"काकाजी तो आश्रम-पद्धति ही मानते थे। फिर आप...."

"नहीं, नहीं ! आश्रम-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है, भगवान मंगल करें ! महात्मा-जी का आशीर्वाद तो प्राप्त होगा न ?"

"क्यों नहीं ? किन्तु विवाह-संस्कार हम वनिता आश्रम में ही करेंगे।"

"कोई आपत्ति नहीं, भगवान मंगल करें ! यह स्थान तो सेठ गंगाप्रसाद का है। हमारे लिए तीर्थ के समान है। भगवान मंगल करें ! आप कब ठीक समझते हैं ?"

"जब आपकी आज्ञा हो !"

"तो, भगवान मंगल करें ! मैं यहाँ तक आया ही हूँ, इसे निबटाकर ही क्यों न जाऊँ ? वृद्धावस्था में यात्रा करना कष्टदायी होता है।"

"आप तैयार हों तो मैं कल ही व्यवस्था कर सकता हूँ।"

"मैं हरीश को तार देकर बुला लेता हूँ। वह अपनी माता और भाई-बहनों के साथ आ जायेगा। आज चतुर्थी है। भगवान मंगल करें ! नवमी को

शुभ होगा। उस दिन तैयारी कर लीजिए। भगवान मंगल करें !"

"जैसी आज्ञा !"

"भगवान मंगल करें ! तो मैं तार दे दूँ ?"

"दे दीजिए।"

"भगवान मंगल करें !"—कहकर बन्दोपाध्याय महाशय चले गये।

हरिदास ने यह समाचार आश्रम की आचार्या और संचालिका को दिया, तो किसी को भी अच्छा न लगा। फिर भी इसका द्रुत गति से शिक्षकालय में प्रसार हो गया।

एक शिक्षिका ने कहा—"चंचला को जरा भी ख्याल न हुआ ! इतनी शीघ्रता क्या थी ?"

दूसरी ने उत्तर दिया—"चंचला का इसमें क्या दोष ? यह सब हरिदासभाई की कृति है।"

और जिसके मन में जो कुछ आया, उसने वही कहा ! यही सब बातें कुछ छात्राओं ने सुनी थीं, जिनकी प्रतिक्रिया उस दिन चंचला की कक्षा में देखने को मिली थी।

दूसरे दिन सायंकाल आचार्या ने चंचला को बुलाकर कहा—"नवमी निश्चित हुई है।"

"किस लिए ?" चंचला ने आशंकाकुल होकर पूछा।

"क्यों, तुम्हें नहीं मालूम ?" आचार्या ने अपने कटु व्यंग को नियंत्रित करने का प्रयत्न करते हुए कहा—"तुम्हारे विवाह के लिए !"

"मेरे विवाह के लिए ? तिथि भी निश्चित हो गई ? यह नहीं हो सकता"—चंचला ने आवेश से कहा।

आचार्या को शंका हुई। उनका व्यंग्य विलुप्त हो गया। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"क्यों, क्या तुम्हें सचमुच कोई जानकारी नहीं है ?"

"मुझसे कहा गया है कि यह काकाजी की इच्छा थी। मुझे विश्वास नहीं है। जब तक विश्वास न हो जाये, मैं कुछ स्वीकार न करूँगी।"

"किसने तुमसे कहा ?"

"हरिदासभाई ने।"

आचार्या ने मुँह बना लिया और थोड़ी देर बाद पूछा—"तुम्हें विश्वास कैसे होगा ?"

"काकाजी ने अन्तिम बातें निर्मला से की थीं। मैंने उसे आज ही पत्र लिखा है। वह जो कुछ लिखेगी, मैं मान लूँगी।"

और यह बात भी आश्रम में उसी तीव्रता से फैल गई कि चंचला ने विवाह करने से इंकार कर दिया है। थोड़ी ही देर में छात्राओं और शिक्षिकाओं का समाज उसके कमरे में एकत्रित हो गया। अनेक ने उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त की, अनेक ने बधाइयाँ दीं और अनेक आश्चर्य-चकित होकर सुनती रहीं। चंचला ने समय के अनुसार अपने-आपको संभालकर सब को उत्तर दिया, और सचमुच किसी को भी उत्तर नहीं दिया।

भीड़ मिटने पर उसने कमरे के दरवाजे बन्द कर लिये और अपने उद्वेगों का बाँध तोड़ दिया--हरिदासभाई इस विषय में इतने सचेष्ट क्यों हैं? वह क्यों मेरा जीवन नष्ट कर देने पर तुल गये हैं! मैंने तो उनसे स्पष्ट कह दिया था कि निर्मला का उत्तर आये बिना मैं कोई बात स्वीकार न करूँगी। फिर भी यह सब कैसे? क्या सचमुच काकाजी यही चाहते थे? क्या हरिदासभाई ने पहले ही निर्मला से परामर्श कर लिया होगा? निर्मला! निर्मला! आज तू इतनी दूर क्यों है! और शायद तुझे बुलाया भी न जायेगा! तुझे तार क्यों न दे दूँ? तू अवश्य आयेगी!

चंचला ने तुरन्त निर्मला को तार लिखा—"विवाह नवमी को निश्चित। पत्र लिख चुकी हूँ। पहली गाड़ी से आओ। तुम्हारी और उत्तर की आकुल प्रतीक्षा में हूँ।"

उसने तार भेज दिया और उससे शुभ परिणाम की कामना करती हुई फिर से विचारों में लीन हो गई।

आज कोई ऐसा परिचित नहीं था, जिसकी चंचला ने याद नहीं की। सखियों से लेकर परमेश्वर तक, दूर और निकट, दृश्य और अदृश्य, सब से मन-ही-मन उसने सहायता की याचना की और सभी उसे विमुख प्रतीत हुए। उसने भगवान् से प्रार्थना की और उसकी अन्तरात्मा ने उत्तर दिया—"उद्विग्न मत हो! शान्ति और धैर्य से परिस्थिति का सामना कर!" परन्तु अन्तरात्मा के इस उपदेश का पालन करने के लिए उसमें बल कहाँ रहा था?

क्षणभर के लिए उसने जीवन की याद की। उसने अत्यन्त कठिन समय में मेरी सहायता की थी। कदाचित् आज भी वह मेरी सहायता कर सकता है। परन्तु उसे लिखूँ कैसे?

विचारों की धारा बदली—क्या दूसरों की सहायता के बिना काम नहीं चल सकता? सबको दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है? इसीलिए विवाह आवश्यक है?

और यह सूत्र बढ़ता ही गया। उसके श्रान्त और क्लान्त मनःशरीर को निद्रा देवी ने अपने स्निग्ध अंचल में ले लिया।

प्रातः काल जब वह उठी तो फिर वही मनस्ताप लेकर। सबसे पहले उसने सोचा आज पत्र और तार दोनों मिल जायेंगे। आज ही निर्मला उत्तर दे देगी। अधिक-से-अधिक कल प्रातः तक उसका उत्तर अवश्य आ जायेगा। कल सायंकाल तक वह भी आ जायेगी। अह! शीघ्र आओ, निर्मला! तुम्हारी मुझे कितनी आवश्यकता है!

वह घंटे गिनने लगी। संध्या आई और चली गई, रात भी बीत गई! दूसरे दिन दस बजे, ग्यारह बजे, बारह बजे, एक भी बज गया, परन्तु तार का कोई पता नहीं! क्या हो गया! क्या निर्मला वहाँ नहीं है! शाम के पाँच बज गये और तारवाले ने नाम पुकारा। उसने उछलकर तार ले लिया। खोलकर पढ़ा—

"पत्र और तार दोनों मिले। कार्यक्रम स्थगित कर दो। पत्र लिखती हूँ। रुग्णता के कारण आने में असमर्थ हूँ।"

ओह! निर्मला! यह क्या उत्तर है! क्यों नहीं लिखा कि काकाजी की यह इच्छा नहीं थी? इस उत्तर से क्या लाभ? मेरी कौन सुनेगा? तुम्हारा यह 'आदेश' कौन मानेगा? मैं जहाँ की तहाँ हूँ! कोई विराम नहीं, कोई सहायता नहीं!

फिर भी, चंचला ने वह तार आचार्या को दे दिया और उनसे कह दिया कि मैं इसे और निर्मला के आगे के पत्र को मानने के लिए बाध्य हूँ।

आचार्या ने वह तार हरिदास के पास भेज दिया। हरिदास ने उसे पढ़ा, थोड़ा मुसकराये और जेब में डाल लिया।

इधर चंचला का घंटे गिनना जारी ही रहा। अब तक तार के लिए था। अब पत्र के लिए। वह जानती थी कि हरिदास तार पर कोई ध्यान न देंगे। और विवाह की तिथि के लिए केवल एक दिन बीच में रह गया था।

दूसरे दिन, अपेक्षा के अनुसार निर्मला का पत्र आ गया। चंचला ने काँपते हुए हाथों और धड़कते हुए हृदय से उसे खोला और पढ़ना आरम्भ किया—

"मेरी चंचला,

"बेहद प्यार! तुम्हारा उद्विग्न होना मैं समझ सकती हूँ। परन्तु क्या तुम अपने काकाजी को नहीं पहचानतीं? क्या वह कभी किसी के प्रति अन्याय कर सकते थे?"

चंचला की धड़कन बढ़ गई ! यह आगे क्या लिखनेवाली है ? पत्र भी लिखना नहीं आता। पहले ही वाक्य में साफ बात क्यों नहीं कह दी ? और वह शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने लगी—

"हरिदास भाई ने जो बात तुमसे कही, वह उनकी समझ के अनुसार ठीक ही है..."

ओह ! निर्मला ! क्या यही उत्तर सुनने के लिए मैंने तुझे लिखा था ? क्या तू भी मेरे प्राण लेना चाहती है ? तू भी षड्यंत्र में सम्मिलित है ? और पत्र आगे बढ़ा—

"परन्तु वही पूरी बात नहीं है......."

तो क्या है ? शीघ्र क्यों नहीं कहती ? स्पष्ट क्यों नहीं कहती कि काकाजी की यह इच्छा नहीं थी ? आगे—

"मुझे अत्यन्त दुःख है कि हम दोनों उस समय इतने व्यग्र थे कि उस विषय में बातें करने का अवसर ही नहीं आया......."

तेरा सिर ! मुझे यह सब नहीं सुनना। सीधी-सीधी बात कर !

"किन्तु उनका निश्चित मत यह था कि तुम्हें जीवन से मिलना चाहिए......"

काकाजी ने कहा था ? और ?

"और सब बातों को ठीक-ठीक जाने बिना कोई निर्णय नहीं करना चाहिए।"

यह पहले ही लिख देती तो क्या हो जाता ? अच्छा फिर ?

"तुम्हारी शंकाओं का पूर्ण निवारण काकाजी परम आवश्यक समझते थे।"

चंचला के हृदय की धड़कन बन्द हुई और उसमें साहस आया। अब वह अधीरता के बदले उत्कंठा से पढ़ने लगी—

"और चंचला, मुझे अब इस बात को बताने का गौरव प्राप्त है कि कुछ प्रयत्नों के बाद मैं आज भी अपनी बात पर दृढ़ हूँ—कि जीवनचन्द्र एक आदर्शवादी, परम आदरणीय नवयुवक हैं और वह तुम्हारी श्रद्धा तथा प्रेम के लिए पूर्ण योग्य हैं !"

क्या तुम सच कहती हो, निर्मला ? क्या सचमुच भगवान मुझ पर प्रसन्न हैं ?

"इतना ही नहीं, तुमने उनके साथ जो व्यवहार किया, वह

न केवल घोर अन्यायपूर्ण वरन् मिथ्या आत्माभिमान से प्रेरित भी था...”

केवल मेरी गलती है ? उसकी कोई गलती नहीं ? अह ! मैं इस संवाद को सुनने के लिए ही तो व्याकुल थी !

“तुम पूछोगी, यह सब मैं कैसे कह रही हूँ। वहाँ से आने पर मैंने अपनी ओर से तुम्हारे 'जीवन' के साथ पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। उसके फल-स्वरूप अब तक उनके चार शुद्ध, सुन्दर, स्पष्ट पत्र मेरे पास आ चुके हैं और सुरक्षित हैं। तुम देखोगी तो स्वयं लज्जित होगी कि तुमने उस सज्जन के प्रति कितना अन्याय किया !....”

लज्जित नहीं, यदि तेरी बात सच हो तो मैं उसके पैर चूम लूँगी, निर्मला !

“अब बात यह है कि उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र का संदर्शन करने और अपने 'अमूल्य परामर्श' से उन्हें 'उपकृत' करने के लिए हम दोनों को 'सादर आमंत्रित' किया है।”

आखिर ईश्वर ने सुन ली ! भगवन्, तुम्हारा कितना अनुग्रह !

“हमें काकाजी की इच्छा के अनुसार कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ है। जितना शीघ्र हो सके, तुम यहाँ आ जाओ। आने पर सब बातें विस्तारपूर्वक होंगी।”

मैं अवश्य आऊँगी, निर्मला ! कल ही रवाना हो जाऊँगी।

“मैं रुग्ण हूँ इसलिए आ नहीं सकती। अधिक लिखा भी नहीं जाता। नहीं तो चंचला की आवश्यकता पर निर्मला को कौन रोक सकता ?”

निःसन्देह ! मुझे तुझपर ऐसा ही विश्वास है। पर तुझे रोग क्या हो गया है ?

“शान्त रहो, बहन ! काकाजी का आशीर्वाद-हस्त सदा हमारे सिर पर है, हम उसे पहचानें और उसके योग्य बनें !”

कहीं आज काकाजी स्वयं विद्यमान होते !

“मुझे उत्तर नहीं चाहिए, चंचला चाहिए।

—तुम्हारी निर्मला।”

आई निर्मला, मैं तुरन्त आई। परसों पहुँच जाऊँगी।

और चंचला ने पत्र आचार्या को देकर कह दिया कि मैं कल निर्मला के पास जाऊँगी।

४०

मा की थाती

लीला, यमुना, सरस्वती और विनायक की पाठशालाएँ पूर्ववत् उत्साह के साथ चल रही हैं। अपने हृदय-परिवर्तन के पश्चात् करुणाशंकर भी उनकी मंडली में घुल-मिल गया है। पहले तो तीनों सखियों ने उसे अपने साथ रखने का विरोध किया था, विनायक के हृदय में भी बहुत उत्साह नहीं था, परन्तु धीरे-धीरे उन्हें विश्वास हो गया कि हृदय-परिवर्तन सच्चा है और उन्होंने उसे अपने साथ ले लिया और यह सम्बन्ध लगातार घनिष्ठ होता गया। अब तो करुणाशंकर की मानसिक स्थिति इतनी बदल गई है कि वह इस मंडली के कार्य के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार है और बहुधा ऐसे प्रसंग आ जाते हैं, जबकि वह अपने इन साथियों से आगे दिखलाई पड़ता है।

उस दिन जीवन का कार्य देखकर यह सारी मित्रमंडली बहुत प्रभावित हुई और अपनी पाठशालाओं के कार्य को भी उसी ढंग पर ढालने के विषय में परस्पर परामर्श करने लगी।

विनायक ने कहा—"हमारे कार्य-क्षेत्रों में गाँव और शहर का अन्तर है। इसके अतिरिक्त जीवन ने अपना सारा समय और ध्यान अपने कार्य में लगा दिया है। हम उतना नहीं कर सकते। अतएव हमारे लिए यही काम ठीक है।"

"हाँ, यह भी तो जीवन ने सोच-विचारकर ही आरम्भ किया था। हमें इसी को अच्छे से अच्छे तरीके पर चलाना चाहिए"—यमुना ने समर्थन किया।

"सहयोग धर्म का प्रसार सर्वत्र समीचीन और आवश्यक है। उसके लिए नगर और ग्राम का क्या अन्तर? हमें उसका आश्रय अवश्य लेना चाहिए"—करुणाशंकर ने विरोध किया।

"परन्तु इसके लिए पूरा समय कौन देगा ?"—विनायक ने प्रश्न किया।

"तुम योजना बनाओ, आवश्यक होगा तो मैं कालेज छोड़ दूँगा।"

"तुम कालेज छोड़ दोगे, करुणाभाई ?"—सरस्वती ने आश्चर्य से पूछा।

"क्यों नहीं ? यदि जनता का इतना बड़ा कल्याण हो सकता है, तो मैं कालेज में पढ़कर क्या करूँगा ? ईश्वर ने धन दिया है। उसके लिए कालेज की पढ़ाई आवश्यक नहीं; परन्तु यदि धन न भी होता तो दो रोटियाँ किसी तरह मिल ही जातीं। रही मान-मर्यादा की बात, सो कालेज में पढ़कर जो मान-मर्यादा प्राप्त होगी, उससे इस कार्य की मान-मर्यादा कहीं अधिक है"—करुणाशंकर के कथन में निष्कपटता की स्पष्ट छाप थी।

लीला—"मैं तो नहीं समझती कि हमें एकदम छलाँग मारनी चाहिए। जीवन की बराबरी हम नहीं कर सकते।"

"बराबरी भले न कर सकें, परन्तु उसके पदचिह्नों पर तो चल सकते हैं ?"—करुणाशंकर बोला।

"नहीं, यह भी सम्भव नहीं है"—लीला ने उत्तर दिया।

"क्यों ?"

"क्योंकि जीवन किसी अज्ञात प्रेरणा से काम कर रहा है और उसे कोई महान गुरु प्राप्त है।"

"अज्ञात प्रेरणा ? जो प्रेरणा है वह तो हम सब जानते हैं। वह अज्ञात कैसी ? फिर, हो भी तो हमारे और उसके काम के बीच अंश का ही तो अंतर रहेगा, मूल आधार का तो नहीं ? और गुरु की क्या बात कही ? हमने तो कभी कोई गुरु देखा नहीं ?"

"नहीं, मूल आधार का भी अंतर रहेगा, क्योंकि उसका काम उसी की भावना से सम्भव है, और यदि तुम अकेले उस भावना को विकसित कर भी लो तो हम सब पीछे रह जायेंगे। तुम अकेले शहर का काम न सम्भाल सकोगे।"

"मेरी समझ में नहीं आता।"

"तो, जीवन से ही सलाह करो।"

"हाँ, मैं उससे बातें करूँगा। परन्तु वह गुरु की बात क्या कह रही थीं तुम ?"

लीला ने उस दिन जीवन की कुटिया में जो कुछ देखा था, उसका

यथावत् वर्णन कर दिया और कहा—"मैं नहीं जानती चित्र किसका था, परन्तु वही, निश्चय, उसकी गुरु—कदाचित् आध्यात्मिक गुरु—हैं।"

विनायक मुसकरा दिया और बोला—"तो आप लोगों ने अब तक चोरी की आदत नहीं छोड़ी ?"

"अब तक का क्या अर्थ"—सरस्वती ने आवेश से कहा—"क्या कभी हम चोरी भी करती थीं ?"

"क्यों ? भूल गईं जीवन की उस पुस्तिका और पत्र की बात ? अभी तो दो ही वर्ष हुए होंगे ?"

"ओह ! बड़ी चोरी !"

"तुम्हें पता है, जीवन को उससे कितना कष्ट हुआ था ?"

"सब पता है। अब जीवन वह पुराना जीवन नहीं रहा।"

"ऐसा होता तो वह उस चित्र को छिपा कर क्यों रखता ?"

"बात तो ठीक है," यमुना ने कहा।

"और आप लोग जानती हैं, वह चित्र किसका है ?"

"नहीं तो।"

"वह उसी बालसखी का है, जिसे वह पत्र लिखा गया था।"

"असम्भव ! बालसखी गुरु कैसे बन जायेगी ?"

"यह सही है। जीवन के पास चाँदी के फ्रेम में मढ़ा हुआ और कोई चित्र नहीं था। और उसे मढ़ाने की भी एक कहानी है।"

"क्या !"

"वह चित्र जब जीवन को मिला तो उसने ट्यूशन करके बीस रुपये कमाये और उन्हीं रुपयों से उसे मढ़ाया। यह दो-ढाई वर्ष पूर्व की बात है।"

"हमने तो उसे कभी नहीं देखा ?"

"वह तुम्हारे लिए नहीं था। उसे सदैव इसी प्रकार छिपाकर रखा जाता था।"

"तुमने कैसे देखा ?"

"मैंने केवल चित्र ही नहीं देखा, मैं और भी बहुत सी बातें जानता हूँ, जिन्हें तुम सबको बताना मना है।"

"तो वह उसकी गुरु है ?"

"हाँ, उसकी गुरु, उसका प्राण, उसका सब-कुछ है। जिस दिन उसका अस्तित्व न रहेगा, उस दिन जीवन भी समाप्त हो जायेगा !"

"फिर वह आ क्यों नहीं जाती ?"

"यह सब गूढ़ रहस्य है, जिसे या तो वह स्वयं बता सकती है, या जीवन, मैं नहीं।"

करुणाशंकर यह सब वार्तालाप चकित होकर सुनता रहा। अन्त में उसने कहा—"हमारे सहयोग धर्म प्रचार में यह बात भी बाधक कैसी होती है ?"

"इस तरह कि जो 'प्रेम करना चाहता है, वह सिर देने को तैयार हो।' हम अभी इतने तैयार नहीं हैं और हम तुम्हें अकेले उस मार्ग पर जाने न देंगे।"

इसी बीच विनायक की माता ने आकर कहा, तुम सब चाय पी लो, बहुत देर से शास्त्रार्थ में लगे हो। करुणा, तेरे लिए मैंने अपने हाथों सेब छाँटे हैं।

"मा, तुम इसे इतना प्यार मत किया करो, यह भी जीवन की राह पकड़ने की सोचता रहता है"—विनायक ने हँसकर कहा।

मा ने खिन्न होकर उत्तर दिया—"और क्या, सब-के-सब कफनी बाँध के घूमने लगो; फिर सब संसार के दुःख मिट जायेंगे! इतना अच्छा लड़का है, कितना होनहार, गाँव में जाकर फकीर बन गया। उसकी जगह इसको देखकर थोड़ा-बहुत जी भरता है, सो यह भी चला जाये! आजकल हम बूढ़ों की तो कोई पूछ ही नहीं रही।"

मा सचमुच दुःखी हो गई। विनायक ने मन-ही-मन पछताकर उसे सान्त्वना देने के लिए कहा—"मा, जीवन के लिए कुछ न भेजोगी ?"

"कोई ले जानेवाला हो और वह खाने को तैयार हो तो मैं रोज ही अपने हाथों उसके लिए खाना बना दिया करूँ।"

करुणा ने कहा—"मैं कल ले जाऊँगा, मा! कल बना देना।"

"तो जरूर ले जाना; नहीं मैं बनाकर रखूँ और वह यों ही जाये। सबेरे बनाऊँगी।"

"जरूर बनाना। मैं दस बजे आऊँगा।"

और सब मित्र-मंडली हँसी-खुशी से नाश्ता करने लगी।

मा ने पूछा—"तेरी मौसी यहीं हैं, करुणा ?"

"हाँ, मा। उन्हीं के सहारे तो सारा घर चलता है। एक दिन न हों, तो नौकर खाना भी न दें"—करुणा ने उत्तर दिया।

"बड़ी अच्छी स्त्री है। चाहती तो राजरानी हो जाती, परन्तु उसने भी दूसरों की सेवा में अपना जीवन न्योछावर कर दिया। मैं, वह और तेरी मा साथ-साथ पढ़ीं, साथ खेली थीं।"

'मेरी मा भी ?"

"हाँ। उसकी जैसी स्त्री तो मैंने देखी ही नहीं।"

"क्या बात थी मा, उनमें ?"—करुणा ने अपनी मा की प्रशंसा सुनकर गद्‌गद होकर पूछा।

"क्या बात थी ? क्या नहीं था उसमें ? वह दूसरों के लिए ही तो जी और मरी !"

"मुझे बताओ, मा ! मैं तो कुछ जानता ही नहीं।"

"तू नहीं जनता ? सुन। तेरे पैदा होने के थोड़े ही दिन बाद यहाँ एक भीषण महामारी फैली। सैकड़ों लोग प्रतिदिन मरने लगे। कोई किसी की सहायता न करता था। उस समय तेरी मा ने एक सहायता दल बनाया। सबके रोकने पर भी वह दिन-रात बीमारों के बीच जा-जाकर उनकी सेवा करती, उन्हें सान्त्वना देती। अन्त में उसी लपेट में वह भी आ गई और हमसे सदा के लिए बिछुड़ गई........" मा का हृदय भर आया और आँखों से आँसू बरसने लगे।

सबने करुणाशंकर की ओर देखा। वह मानो ध्यानावस्थित था। आँखों से अजस्र जलधारा प्रवाहित हो रही थी।

खाना जैसा-का-तैसा रहा। कहानी और आगे बढ़ी। मा ने कहा—"वह हँसती-हँसती गई और अन्त समय एक और भी बड़ा कार्य कर गई।..."

सरस्वती ने पूछा—"वह क्या मा ?"

मा ने कहा—"उसने अपनी तिजोरी की चाभी मुझे देकर कहा—इसमें एक लाख से अधिक के रत्नाभूषण हैं। इन्हें दुःखियों की सेवा में लगा देना। तेरे पिता की ओर संकेत करके कहा—इनके और तेरे सिवा कोई मेरा नाम न जाने।"

अब किसी की भी आँखें सूखी न रहीं। मा ने आँसू बहाते हुए गद्‌गद हृदय से कहा—"हम दोनों ने मिलकर उसका सेवा-कार्य जारी रखा। उस धन में से लगभग आधा व्यय कर डाला।"

"और शेष, मा ?" करुणा ने श्रद्धा के साथ पूछा।

"शेष तेरे पिता के पास अब भी होगा। विनायक के पिता और उनके बीच एक मुकदमे के सम्बन्ध में कुछ कहा-सुनी हो गई। तबसे हम दोनों का मिलना-जुलना रुक गया। पता नहीं, उन्होंने उस धन का क्या किया।"

"कितना होगा मा ?"

"पचास हजार से कम तो क्या होगा !"

"तुमने उसके लिए क्या सोचा था ?"

"मैंने कभी कुछ सोचा ही नहीं। पर आज तेरे पिता मुझसे पूछें तो मैं कहूँ कि आधा जीवन को दे दो और आधा तुम लोगों की पाठशालाओं को।"

सबने सुना, परन्तु उत्तर किसीने नहीं दिया। उसी उदात्त भाव-मंडित वातावरण में उस दिन की बैठक विसर्जित हो गई।

दूसरे दिन जब करुणाशंकर जीवन के लिए भोजन लेने आया तो उसके हाथ में एक लिफाफा था। उसे मा के हाथ में देकर उसने कहा—"पिताजी ने एक लाख कुछ हजार रुपयों का चैक दिया है और कहा है, इसे आप जैसे चाहें, व्यय कर दें !"

मा क्षण-भर के लिए अवाक् हो गईं। बाद में उन्होंने वर्षों अधिक वृद्ध होकर कहा—"इतना बड़ा दायित्व अकेले मेरे कंधों पर !"

"यह तुम्हारे नाम मेरी मा की थाती है, बड़ी मा !"—कहता-कहता करुणाशंकर बाहर निकल गया।

४१

विवाह ?

"चंचला, तुम आज जाना चाहती हो ?—हरिदास ने मधुरवाणी में पूछा।

"हाँ"—चंचला ने उत्तर दिया।

"कल तो विवाह है ?"

"उसे स्थगित कर दीजिए।"

"परन्तु तैयारी पूरी हो चुकी है।"

"पाँच-दस दिन आगे भी उसका उपयोग हो सकता है।"

"बन्दोपाध्याय महाशय का सारा परिवार आ गया है, दोनों ओर लोगों को निमंत्रण दिया जा चुका है........"

"इस सबका उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं"—चंचला ने संतप्त होकर उत्तर दिया।

"हम सब तुम्हारी ही भलाई का तो काम कर रहे हैं ? इसमें हमारा स्वार्थ तो नहीं है ?"—हरिदास ने वाणी में और भी माधुर्य भरकर कहा।

"आप समझते क्यों नहीं, भाई जी ! मुझे यह विवाह नहीं करना"—चंचला का संताप और भी बढ़ा।

"तो तुम काकाजी की इच्छा पूरी न करोगी ? उनकी अन्तिम इच्छा !"

"काकाजी की यह इच्छा नहीं थी।"

"तो क्या थी ?"

"जो निर्मला ने लिखी है। मैं निर्मला का निर्णय मानने के लिए बाध्य हूँ।"

"मेरी बात कोई मूल्य नहीं रखती ? तुम समझती हो, निर्मला काकाजी की इच्छाओं को मुझसे अधिक जानती है ?"

"अन्तिम बात काकाजी ने उससे ही की थी।"

"और मेरे पास काकाजी के लिखित प्रमाण हैं। ये देखो"—कहकर हरिदास ने ब्याह-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार की फाइल चंचला के सामने खोलकर रख दी। फिर अपने नाम सेठजी के एक पत्र के ये वाक्य पढ़ सुनाये—"हरीश बन्दोपाध्याय के बारे में मैंने अपना समाधान कर लिया है। उच्च विचारों और आदर्शों का युवक है। परिवार भी उत्तम है। जाति-पाँति की दृष्टि से भी यह सम्बन्ध आदर्श होगा। समय लगना अनिवार्य है। स्वामी अभयानन्दजी को लिख दो कि यह लड़का हाथ से जाने न पाये। ईश्वर चाहेगा तो चंचला सुखी होगी।"

और उन्होंने चंचला से पूछा—"अब भी तुम्हें शंका है ?"

चंचला ने कहा—"काकाजी को मेरे हृदय की अवस्था अन्तिम दिन ही ज्ञात हुई थी। उसके उपरान्त जो बातें हुईं, वही अन्तिम हैं, वही सच्ची हैं। वे बातें निर्मला ने अपने पत्र में लिखी हैं। मैं उनसे ही बाध्य हूँ।"

"देखो चंचला, काकाजी किस तरह विचार करते थे, वह कितना लम्बा सूत्र बाँधते थे, लोगों को किस तरह घुमा-फिराकर ठीक रास्ते पर लाते थे—ये सब बातें तुम नहीं समझ सकतीं, निर्मला तो बिलकुल ही नहीं समझ सकती। जो लोग उनके साथ वर्षों रहे, वे भी बहुधा उनके निर्णयों से भ्रम में पड़ जाया करते थे। इसलिए यदि तुम उनकी इच्छा का पालन करना चाहती हो तो मेरी बात मान लो।"

चंचला कुछ विचार में पड़ गई और हरिदास ने देखा कि मेरा यह तर्क सफल हो रहा है; अतएव उन्होंने इसे आगे बढ़ाया—

"भला बताओ, यदि काकाजी की यह इच्छा न होती तो वह हरीश को इतने दिनों रोके क्यों रहते ?"

परन्तु हरिदास ने अपने तर्क के विषय में गलत अनुमान लगाया। वास्तव में चंचला का ध्यान जीवन पर चला गया था। वह सोचने लगी थी कि क्या अब यह चिर-संचित कामना नष्ट हो जायेगी ? क्या मुझे उसको छोड़कर ब्राह्मण के साथ विवाह करना होगा ? और क्षणभर में उसे अपनी समस्त महा-त्वाकांक्षाओं की चिता धू-धू करके जलती हुई दिखलाई देने लगी। नारी का दासीत्व और हरिजन-गौरव का भग्नावशेष मूर्त रूप धारण करके उसके सम्मुख उपस्थित हुआ। उसने एक बार सोचा—मैं अपना मनःप्राण बहुत पहले उसे समर्पित कर चुकी थी। और उसने उत्तर दे दिया—

"यह काकाजी की इच्छा हो, तो वह भी थी। मैं ग्वालियर गये बिना कोई निर्णय नहीं कर सकती।"

हरिदास कुछ सहमे। उन्हें तर्क संगठित करने में कुछ समय लगा। अन्त में उन्होंने कहा—

"इस कार्य को स्थगित करने में तो किसी का कल्याण नहीं है, सबको पछताना पड़ेगा।"

"मैं किसी के कल्याण-अकल्याण से बँधी हुई नहीं हूँ। मुझपर कोई उत्तरदायित्व भी नहीं।" और चंचला उठकर शीघ्रता से बाहर चली गई। हरिदास ने उसे रोकने का प्रयत्न किया, पर वह व्यर्थ हुआ।

हरिदास इस प्रकार हार माननेवाले नहीं थे। वह जो निश्चय कर लेते थे उसे पूर्ण करने के लिए अन्त तक संघर्ष करते थे। बहुधा सफल हो जाते थे, किन्तु जब असफलता हाथ लगती तो एक अच्छे खिलाड़ी की तरह उसे स्वीकार कर लेते और भविष्य की तैयारी में जुट जाते थे। उन्होंने क्षणभर विचार किया और घर से बाहर निकल गये। एक घंटा भी न हो पाया था, उन्होंने लौटकर चंचला को संदेश भेजा कि सारनाथ में महात्माजी ने उसे अभी बुलाया है। मोटर तैयार है, तुरन्त आ जाये।

चंचला के सामने कोई उपाय न रहा। महात्माजी के आदेश की अवज्ञा करना उसके लिए असम्भव था। हरिदास पर खीझती हुई वह आ पहुँची। हरिदास स्वयं उसके साथ गये, किन्तु मार्ग में कोई बातचीत नहीं हुई।

महात्माजी ने चंचला को प्यार से आशीर्वाद देते हुए कहा—"हरिदास कहता है, तू रूठ गई है?"

चंचला इसका क्या उत्तर देती? और उत्तर देने की उसकी मनःस्थिति ही कहाँ थी? वह चुपचाप रही।

महात्माजी ने आगे कहा—"गंगाप्रसाद मुझसे भी तो हरीश की प्रशंसा करते थे। कहते थे, विवाह हो गया तो दोनों ही आश्रम के लिए उपयोगी होंगे।"

अब चंचला से रहा न गया। उसने कहा—"प्रश्न व्यक्ति का है, हृदय का है, महात्माजी!"

"मैंने तो सुना, गंगाप्रसाद की इच्छा का प्रश्न आ पड़ा है?"

"जी हाँ! इच्छा क्या थी, यही प्रश्न है।"

"हरिदास तो कहता है, उनकी इच्छा यही थी?

चंचला ने निर्मला का कथन सुना दिया।

महात्माजी ने कहा—"यदि तुझे ग्वालियर जाने के बाद संतोष न हुआ, तो फिर हरीश से ही विवाह करेगी?"

"मुझे स्वीकार है !"

"इसका अर्थ तो यह हुआ कि प्रश्न केवल पहली और दूसरी पसंदगी का है ?"

चंचला ने कोई उत्तर नहीं दिया।

महात्माजी ने फिर कहा—"जहाँ आत्म-समर्पण नहीं कर दिया गया, वहाँ अन्य हिताहित को देखते हुए दूसरी पसंदगी बुरी नहीं होगी। इस सम्बन्ध से एक लाभ और भी होगा—समाज को ब्राह्मण-हरिजन विवाह का उदाहरण मिलेगा। नहीं ?"

"मैं यह नहीं चाहती।"

"तब तो इस विवाह का ही विरोध हुआ। पसंदगी का प्रश्न कहाँ रहा ?"

"केवल काकाजी की इच्छा !"

"काकाजी तेरी इच्छा के विरुद्ध तेरे सिर पर कोई चीज थोड़े ही लाद सकते थे ?"

हरिदास ने देखा कि बात बिगड़ रही है, तो वह बीच में बोल उठे—परन्तु चार-पाँच दिन पहले तो इन्होंने इस सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं किया था।"

चंचला—"मैंने स्वीकार भी नहीं किया। वही स्थिति आज भी है।"

इस पर महात्माजी ने कहा—"यह स्थिति इतनी तैयारी हो जाने के बाद उचित नहीं है। या तो स्वीकार करो, या अस्वीकार करो ! जो कुछ करो सोच-विचार कर करो। इतना स्मरण रखो कि अस्वीकार करने से हरीश के परिवार को असुविधा होगी।"

"मैं अस्वीकार करती हूँ।"

इस पर हरिदास बोले—"यह कैसे हो सकता है, महात्माजी ? इस से तो उस परिवार पर असह्य अन्याय होगा ?"

"अन्याय तो होगा"—महात्माजी ने कहा।

"परन्तु इस अन्याय की उत्तरदायी मैं कैसे ? मैंने आपको समय पर सूचना दे दी थी"—चंचला ने प्रत्युत्तर दिया।

"अच्छा जाओ, अब मुझे दूसरा काम है। जो कुछ करो, सोच-विचार कर करो, इतना ही मैं कह सकता हूँ"—कहकर महात्माजी ने उन्हें विदा कर दिया।

चंचला ने माना कि महात्माजी ने मेरे पक्ष का समर्थन किया, हरिदास

सोचने लगे कि चंचला की हठधर्मी की भी कोई सीमा है ? महात्माजी का कहना भी मानने को तैयार नहीं है !

दोनों आश्रम लौट आये। मार्ग में फिर कोई बातचीत नहीं हुई। किन्तु, हरिदास बराबर आगे का सूत्र बाँधते रहे।

चंचला की गाड़ी के लिए बहुत कम समय रह गया था, अतः वह आश्रम पहुँचते ही जाने की तैयारी करने लगी। इसी बीच हरिदास ने आचार्या, प्रभावशाली शिक्षिकाओं और संचालिका से कुछ बातें कीं और जब तांगा आकर खड़ा हुआ तो इनमें से कुछ ने चंचला के पास जाकर बातें करनी शुरू कीं।

आचार्या ने कहा—"जाना ही निश्चित रहा ?"

"जी हाँ"—चंचला ने संक्षेप में उत्तर दे दिया।

"अवसर चला जाने पर पछताना तो नहीं पड़ेगा ?"

"पछताना पड़ेगा तो पछता लूँगी।"

"अभी सोच-विचार क्यों नहीं कर लेतीं ?"

"सम्भव नहीं है।"

"परन्तु चंचला, तुम्हारे ऐसा करने से आश्रम की कितनी बदनामी होगी !"—एक शिक्षिका ने कहा।

गाड़ी का समय कम होता जाता था। ताँगावाला बार-बार पुकार रहा था पर उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं था।

"इसका दायित्व मुझ पर नहीं"—कहकर चंचला चलने लगी।

शिक्षिका ने उसे रोककर कहा—"जरा सुनो तो। गाड़ी तो कल भी है, बात हाथ से सदा के लिए निकल जायेगी।"

चंचला को सामान हाथ में लिये-लिये रुकना पड़ा।

शिक्षिका ने कहा—"बदनामी का दायित्व तुम्हारे ऊपर न हो, तो भी तुम उसे बचा तो सकती हो ? जिस आश्रम से तुम्हारा इतना हित हुआ, उसे बदनामी से बचाने के लिए क्या तुम कुछ भी न करोगी ? और तुम जानती हो कि तुम्हारे इस काम का आश्रम पर क्या परिणाम होगा ?"

"नहीं जानती, न अभी जानना चाहती हूँ। मुझे जाने दीजिए"—और वह फिर चलने को तैयार हो गई।

इस समय तक संचालिका भी वहाँ पहुँच गईं। उन्होंने कहा—"गाड़ी तो अब मिल नहीं सकती। केवल दस मिनट शेष हैं। आप सब बैठ क्यों नहीं जातीं ?"

और चंचला के मन पर सीधा आघात हुआ—जान-बूझकर गाड़ी छुड़ा दी गई, परन्तु इससे क्या ? कोई बाँधकर तो विवाह नहीं करा सकता ? वह सामान रखकर बाहर निकल गई।

उस दिन उससे किसी ने और बातें नहीं कीं। किन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल से ही सर्वत्र विवाह की धूम-धाम दिखलाई पड़ने लगी। छात्राओं ने सुन्दर-सुन्दर फूल चुने और उनकी मालाएँ, गुलदस्ते तथा आभूषण बनाये जाने लगे। एक स्थान पर मंडप तैयार हो रहा था। केले के खम्भों और तोरण-बंदनवारों से उसे सजाया जा रहा था। भोजन-गृह में मिष्ठान्न बनाने की तैयारियाँ थीं। जो भी विचार, वार्तालाप और काम होते थे वे सब विवाह-सम्बन्धी थे। जो विवाह-सम्बन्धी नहीं था, वह आज मानो वर्जित था ! और बालिकाएँ और साधारण शिक्षिकाएँ चंचला के पास जा-जाकर उसे बधाइयाँ देती थीं और उसके लिए शुभ कामनाएँ करती थीं। और उससे अनेक बातें पूछी जाती थीं और उससे उत्तर प्राप्त किये जाते थे।

कुछ समय तक चंचला ने यह सब देखा और सहा, परन्तु जब सहनशक्ति से बाहर हो गया तो वह दूर जाकर एक एकान्त स्थल पर बैठ गई और फूट-फूटकर रोने लगी। वह सोचती क्या हरिदास भाई ने बलात् विवाह कर देने का निश्चय किया है ? क्या आश्रम के लिए यह सब शोभनीय है ? अब मैं किसी प्रकार बच न सकूँगी ? परन्तु यह बलिदान होगा। ठीक है, होने दो ! इसका परिणाम देखकर संसार आगे के लिए सचेत होगा।

आश्रम की प्रतिष्ठा, सबकी सुविधाएँ यथावत् रहें। मैं ही अपना बलिदान करूँगी !

और उसने विरोध छोड़ देने का निश्चय किया। एक घोर संकल्प की छाया उसके मुखमंडल पर दृष्टिगत होने लगी।

अपने कमरे में लौटकर उसने निर्मला को पत्र लिखा—"आश्रम की प्रतिष्ठा, दूसरों की सुख-सुविधा और काकाजी की कथित इच्छा पर—जिसकी वास्तविकता पर मेरा कोई विश्वास नहीं है—मैंने अपने-आपको बलि कर देने का संकल्प किया है। दो घंटे बाद मैं श्री हरीश बन्दोपाध्याय की पत्नी बन जाऊँगी। भविष्य में क्या होगा, सो आज कैसे लिखूँ, परन्तु तुम्हें सदा अनिष्ट समाचार सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए।"

पत्र चला गया। चंचला जड़वत् आगे के कार्यक्रमों की प्रतीक्षा करने लगी। लोगों ने अनुभव किया कि उसका विरोध मिट गया है, तो उनका उत्साह भी बढ़ गया।

शिक्षिकाओं और बालिकाओं ने उसे स्नान कराया, नये वस्त्र पहनाये और फूलों से सजाया। मुहूर्त्त आने पर वह मंडप में ले जाई गई और आधे घंटे के अन्दर विवाह संस्कार सम्पन्न हो गया। सबने उसे बधाइयाँ दीं और सबने उसके प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट कीं।

वृद्धा सास ने कहा—"मेरे घर लक्ष्मी आई!"

वृद्ध बन्दोपाध्याय महाशय बोले—"भगवान मंगल करें! हम अनुगृहीत हुए!"

हरीश मन में सोचने लगा—"तुमने कितनी प्रतीक्षा कराई!"

इधर हरिदास ने कार्य के सम्पन्न होने से शान्ति की साँस ली! उन्हें गौरव-युक्त हर्ष था कि उन्होंने काकाजी की एक इच्छा और पूरी की!

और चंचला? वह हर्ष-विषाद के परे हो गई थी। कदाचित् वह इस वातावरण में थी ही नहीं।

४२
परिवार की परिधि में

नये परिवार की स्वच्छता, शुद्धता और सद्‌वृत्तियों का चंचला के मन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उसे न तो आदर और प्रेम की कमी प्रतीत हुई और न भद्रता तथा सद्‌व्यवहार की। उसका मन धीरे-धीरे वहाँ रमने लगा। ननँद और देवरों के आग्रह से वह बंगला भाषा सीखने लगी और उसका दिन-भर का कार्यक्रम ऐसा बन गया कि उसे सूर्योदय से सूर्यास्त तक सोचने-विचारने का अवसर ही न मिलता। सास और ससुर की वह तन-मन से सेवा करती और हरीश की आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखती। उसके व्यवहार-माधुर्य ने सारे परिवार पर मोहिनी डाल दी।

परन्तु, वह हरीश के साथ एकान्त में मिलने के अवसर प्रयत्नपूर्वक टालती रही। पहले कुछ दिनों तक तो परिवार के लोगों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, किन्तु जब उन्होंने देखा कि हरीश के व्यवहार में खिन्नता आ रही है, तो इस विषय पर विचार किया गया और इसके उपाय किये जाने लगे।

एक दिन विधवा ननँद शालिनी ने बड़े प्यार के साथ उससे कहा—"छोटी बहू, हरीश का मनःस्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है।"

"क्यों?" चंचला ने सशंक होकर पूछा।

"पता नहीं, पर उसमें चिड़चिड़ापन आता जाता है। रात को सोते-सोते चौंक पड़ता है और बड़बड़ाने लगता है।"

"तो किसी डाक्टर को दिखाना चाहिए।"

"मा कहती हैं, दो-तीन दिन पहले बार-बार तुम्हारा नाम पुकार उठता था।"

"मेरा नाम!"

"हाँ। तुमसे कुछ नहीं बताया?"

"नहीं तो।"

"तुम पूछती क्यों नहीं?"

"अब पूछूँगी।"

ननँद को सन्तोष हुआ। उसने अपने माता-पिता का भी समाधान करा दिया।

उसी दिन तीसरे पहर जब सब लोग चाय पीने बैठे—और परिवार के सब छोटे-बड़े सदस्य एक साथ ही चाय पीते थे—तो चंचला ने चाय देते-देते हरीश से कहा—"दीदी कहती हैं, आपका स्वास्थ्य बिगड़ रहा है। किसी डाक्टर को क्यों नहीं दिखा देते ?"

हरीश पहले चकित और फिर संकुचित होकर बोला—"मेरा स्वास्थ्य तो अच्छा है !"

सबने दोनों की ओर देखा और फिर मा ने कहा—"तू तो रात-रात भर सोता नहीं, सोता है तो चौंक पड़ता है, बड़बड़ाता है। स्वस्थ कैसे है ?"

हरीश चुप रहा। उसने ऊपर सिर करके किसीकी ओर देखा भी नहीं। उसकी छोटी-सी भानजी ये सब बातें बड़े ध्यान से सुन रही थी। उसे कुछ बोलने की इच्छा हो पड़ी और उसने कहा—

"नानी, रात को मामा सोते-सोते मामी का नाम पुकारते........"

हरीश ने संकोच में गड़कर उसका हाथ पकड़कर झकझोर दिया और आँखों से उसे ऐसा डाँटा कि वह आगे बोल ही न सकी। इससे किसीको सन्ताप हुआ, किसीको हँसी आई, परन्तु सबने अपने भावों को दाब लिया। वृद्ध बन्दोपाध्याय महाशय ने कहा—

"उसे क्यों डराता है, हरीश ? भगवान मंगल करें !"

इसके बाद कोई कुछ न बोला और चाय-पान का कार्यक्रम समाप्त हो गया।

रात्रि को बन्दोपाध्याय महाशय ने अपनी पत्नी से पूछा—"बहू और हरीश का सम्बन्ध ठीक तो है ?"

वृद्धा ने उत्तर दिया—"ठीक तो दीखता है, परन्तु बहू उसका सम्पर्क टालती रहती है।"

"अभी नई-नई आई है, संकोच करती होगी। प्रयत्न करके दो-चार बार उन्हें मिला दो, सब ठीक हो जायेगा। भगवान मंगल करें !"

तत्काल शालिनी को निर्देश दिया गया कि वह आवश्यक कार्रवाई कर दे। शालिनी ने अपने हाथों एक कमरा साफ किया और उसमें एक स्वच्छ बिस्तर डाल दिया। हरीश को उसमें सोने के लिए कहकर उसने चंचला से कहा —"बहू, हरीश को दूध दे आना और उसके पास ही रहकर देखना कि वह रात को सोता है या नहीं।"

चंचला इनकार कैसे करती? अपरिहार्य समझकर उसने आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। शालिनी मन में पछताई—"मैंने पहले ही यह आयोजन क्यों नहीं किया!"

चंचला जब हरीश के कमरे में गई उस समय हरीश एक पुस्तक आँखों के सामने खोले पड़ा हुआ था। चंचला को देखते ही उठ बैठा और मंद हँसी के साथ दबे स्वर में बोला—"आखिर डाक्टर आ गया?"

चंचला ने प्रकट आश्चर्य के साथ उत्तर दिया—"डाक्टर! डाक्टर कहाँ है?"

हरीश ने 'यह' कहकर उसका हाथ पकड़ने की चेष्टा की, परन्तु चंचला गंभीरतापूर्वक पीछे हट गई और बोली—"दीदी का कहना है कि मैं आप पर पहरा दूँ और देखूँ कि आप अच्छी नींद सोते हैं या नहीं।"

हरीश हताश होकर पीछे हट गया। उसने खिन्नता से कहा—"पहरे की क्या आवश्यकता है?"

"मुझे आज्ञा का पालन करना होगा। आप दूध पीकर सो जाइए"—कहकर चंचला ने दूध का कटोरा आगे बढ़ा दिया।

हरीश ने हाथ बढ़ाते हुए कहा—"मैं रोज रात को तो दूध नहीं पीता, आज क्या बात है?"

"दीदी की आज्ञा।"

और हरीश दूध पी गया। चंचला उसे फिर से सोने का आदेश देकर और बिजली की बत्ती बुझाकर पास की एक आराम कुर्सी पर चुपचाप लेट गई।

थोड़ी देर में हरीश ने कहा—"तुम मेरे पास नहीं बैठोगी?"

"पास ही तो हूँ!"

"इस पलंग पर आ जाओ।"

चंचला उठकर पलंग के एक किनारे बैठ गई। हरीश उसके पास सरक कर बोला—"मुझसे दूर-दूर क्यों रहती हो?"

"मेरे भाग्य!" चंचला ने सूक्ष्म उत्तर दे दिया।

"भाग्य!"—हरीश ने आश्चर्य से कहा—"भाग्य कैसे?"

"इससे अधिक मुझ से न पूछिए कृपा करके मुझे अकेली छोड़ दीजिए"—चंचला ने वेदना के साथ विनय के स्वर में कहा।

हरीश का आश्चर्य और बढ़ा। उसने कहा—"क्या यह सम्भव है, चंचला? तुम्हारे मन की अवस्था मैं नहीं जान सकता?"

चंचला दीन हो उठी। बोली—"मेरी विनय-मात्र है। फिर आप

जोर देंगे तो मुझे सब-कुछ कहना पड़ेगा। परन्तु मेरा जीवन दूभर हो जायेगा।"

"मैं तुम्हें कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता। परन्तु सार रूप में तो मुझे कल्पना दे दो!"

"बस, कुछ दिनों के लिए मुझे दूर रहने दीजिए। इस बीच मैं आपकी जितनी सेवा कर सकूँगी, करती रहूँगी। जब कभी सम्भव होगा, आपसे सब-कुछ कह दूँगी।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा! पर यह अस्वाभाविक होगा। हम दोनों पर इसका बुरा परिणाम होगा।"

"मेरी चिन्ता छोड़ दीजिए। आप कृपा कर अपने को संभालिए।"

"मैं प्रयत्न करूँगा, पर एक शर्त पर!"

"क्या शर्त?"

"तुम मुझसे एकान्त में मिलने के अवसर मत टाला करो।"

"मुझे स्वीकार है।"

"मुझे भी स्वीकार है।"

उस दिन से यद्यपि दोनों के हृदय में पीड़ा समा गई, फिर भी दोनों ने प्रकाश्यतः अपने सम्बन्धों का स्वाभाविक रूप कायम रखा। जब कोई उसे कायम रखने में असमर्थ हो जाता तो वह उस अवसर के लिए कोई-न-कोई बहाना बनाकर एकान्त का सेवन करता। दोनों के इस रुख के कारण परिवार की शान्ति में कोई बाधा नहीं पड़ी।

हरीश के भद्र एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार से चंचला अपनी ही लज्जा में विगलित होती रहती थी। दूसरी ओर, हरीश चंचला के आत्म-निग्रहपूर्ण जीवन पर आश्चर्य करता, मुग्ध होता और उसका रहस्य जानने को उत्सुक रहता था। उसे आशा थी कि समय बीतने पर चंचला कुछ कहेगी, परन्तु जब उसने देखा कि उसका मौन भंग होता ही नहीं तो उसका धैर्य टूट गया। एक दिन उसने चंचला से कहा—

"यह जीवन अब सहन नहीं होता। हमें कुछ उपाय करना होगा।"

"आप जैसा चाहेंगे, वैसा ही होगा, परन्तु मैंने आपको अपनी बात बता दी है"—चंचला ने उत्तर दिया।

"बात कहाँ बताई? बता देतीं तो शायद गुत्थी सुलझ जाती।"

"मैं इतना ही बता सकती हूँ कि मैं आपके योग्य नहीं हूँ।"

"यह तो अन्धा भी नहीं मानेगा।"

"मुझे भरोसा है कि आप मान लेंगे।"

"पर मेरा धैर्य टूट गया है।"

"उसे संभालने में ही हित है।"

"संभाल सकता तो बात ही क्यों करता ?"

"मैं आपकी मनःस्थिति की कल्पना कर सकती हूँ। आपके व्यवहार की मेरे हृदय पर गहरी छाप पड़ी है। परन्तु, यह सब होने पर भी मैं विवश हूँ। मुझे क्षमा कीजिए।"

"तुम्हें बन्धन थोड़ा-बहुत शिथिल करना होगा।"

"मैं जिस सीमा तक जा सकती थी, चली गई हूँ। इसके आगे आप मुझे यंत्र से अधिक नहीं पा सकते।"

"मुझ में शक्ति होगी तो मैं यंत्र में प्राण-प्रतिष्ठा कर लूँगा।"

"आगे मेरा क्या अधिकार है ?"—कहकर चंचला चुप हो गई।

दूसरे दिन से हरीश अधिक प्रसन्न दिखलाई देने लगा; परन्तु चंचला एकदम उदास और अन्यमनस्क हो गई। स्वाभाविक संस्कारों के कारण वह अपनी स्थिति को दूसरों पर प्रकट न होने देती, परन्तु कभी-कभी ऐसी घटनाएँ अवश्य हो जातीं, जिनसे उसका परिवर्तन स्पष्ट हो जाता और उसे लज्जित होना पड़ता। और वह स्थिति लगातार बढ़ती गई। उसका शरीर और चेहरा सूखने लगा और सास-ससुर को चिन्ता हुई कि कहीं वह बीमार तो नहीं है। हरीश भी चिन्ता से मुक्त न रह सका।

चंचला के हृदय पर हरीश के व्यवहार का प्रभाव नित्यप्रति बढ़ता जाता था और जैसे-जैसे यह प्रभाव बढ़ता, वह अधिकाधिक अशान्त होती जाती थी। वह बार-बार अनुभव करती कि उसके रुख से एक ऐसे व्यक्ति के साथ अन्याय हो रहा है, जो उसके प्रेम की आशा में व्याकुल है, जिसके पास स्वयं प्रेम का कोष लबालब भरा हुआ है, जो चारित्र्य का आदर्श है और सबसे अधिक, जो नितान्त निर्दोष है। वह अपनी ओर से इस अन्याय के निवारण का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहती थी, परन्तु जब कभी भी वह आगे कदम बढ़ाती, उसे प्रतीत होता, मानो कोई प्रच्छन्न शक्ति उसे पीछे खींच रही है। वह आत्मा और शरीर के, वर्तमान जीवन और आकांक्षित जीवन के संघर्ष में पड़ गई और यह स्थिति दिन प्रतिदिन उसे खाई से कुए की ओर बढ़ाती गई।

उसे संसार में केवल एक व्यक्ति का सहारा मालूम होता था, और वह था निर्मला का। विवाह के दिन उसने निर्मला को जो घोर निराशा का पत्र

लिखा था उसके पश्चात् उसे आशा थी कि निर्मला आ जायेगी। किन्तु वह आशा व्यर्थ हुई। निर्मला का स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया और उसे पुनः स्वास्थ्य-लाभ करने में इतना लम्बा समय लग गया। आज वह आ रही है, यह सोच कर चंचला को किंचित् धैर्य तो बँधा है, किन्तु वह उसका स्वागत करने के लिए पुराना हार्दिक उत्साह कहाँ पाये ? उसके पास तो उल्लास का औदासीन्य-ग्रस्त भग्नावशेष मात्र रह गया है, और उसे वक्षस्थल से चिपटाये निर्मला के सामने होने का भी साहस उसे नहीं होता।

अन्ततः निर्मला आई। स्टेशन पर चंचला और हरीश उसे लेने के लिए गये थे और दोनों के मिलते समय हरीश ने ईर्ष्यापूर्ण हृदय से देखा कि इस द्विधारा-संगम में जीवन अनवरुद्ध गति से प्रवाहित हो रहा है।

घर पहुँचने पर सारे परिवार ने भी आत्मीय के रूप में उसका स्वागत किया। वृद्ध दम्पति के वात्सल्य, शालिनी के प्रेम, बच्चों की ममता और हरीश के भाइयों की विचारशीलता ने उसे कुछ ही घंटों में मुग्ध कर लिया और वह महसूस करने लगी कि चंचला ने कुछ भी खोया हो, पति के रूप में उसे जो-कुछ मिला है उसमें पश्चात्ताप के लिए कोई अवकाश नहीं है।

रात्रि को दोनों सखियाँ एकान्त में वार्तालाप करने लगीं। निर्मला ने कहा—"चंचला, तू ने तो जो कुछ पाया वह ईर्ष्या के योग्य है। मैं तो इतने ही समय में विभोर हो उठी।"

"हाँ, निर्मला ! मेरा भी अनुभव यही है। कितना अच्छा होता, मैं इस सब का प्रत्युत्तर दे पाती !"—चंचला ने नितान्त दयनीयता के साथ कहा।

"तुझे इन सुन्दर परिस्थितियों को स्वीकार कर लेना चाहिए।"

"मैं चाहती हूँ, और पूरी शक्ति से प्रयत्न भी करती हूँ; परन्तु हृदय पर नियंत्रण नहीं रहा, निर्मला !"

"अब तुम्हें पुरानी बातें भूल जाना चाहिए, बहन !"

"भूलूँ कैसे ?" जिन आदर्शों और आकांक्षाओं को शैशव से संचित करके रखा, इतनी आयु तक प्रतिदिन, सोते-जागते, जिन्हें पूर्ण करने के मनोरथ बांधे, उन्हें भूल जाना क्या सरल है, निर्मला ? और उस व्यक्ति को भी भूल जाऊँ, जिसके प्रति अज्ञात रूप से आत्म-समर्पण कर चुकी थी ?"

"तू ने जीवन के विषय में अन्तिम निर्णय तो नहीं किया था ? ग्वालियर जाकर निश्चय करनेवाली थी।"

"नहीं, वह भ्रम था—विवाह के दिन पूरी तरह कट गया। उस दिन मैंने अनुभव किया कि आत्म-समर्पण बहुत पहले—लगभग चौदह वर्ष की आयु

में हो चुका था, जब मुझे गुरुकुल में उसका पहला पत्र मिला था। उसके बाद मैं उससे कभी विलग नहीं हुई। गत वर्ष-दो-वर्ष जो मैं विलग दिखलाई पड़ी, वह विलगता नहीं थी, केवल रूठना था—अभिमानी हृदय के माने हुए अपमान की अस्थायी वेदना-मात्र थी।"

"यह सच हो तो भी पिछली बातों को भूलने और वर्तमान में रस लेने में ही कल्याण है!"

"निर्मला! यदि तू मेरी दशा का अनुभव कर सकती!"—कहते-कहते चंचला का कंठ अवरुद्ध हो गया और उसकी आँखों ने चंचला के वक्षस्थल को आर्द्र करना आरंभ कर दिया।

निर्मला ने बहुत कठिनता से अपने-आपको सँभालकर उसे सान्त्वना देते हुए पूछा—"तो फिर उपाय क्या है?"

"आत्म-बलिदान के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। हरीशबाबू को मैं देवता मान सकती हूँ, प्राणेश्वर नहीं! सात करोड़ हरिजनों से विलग होकर बापू और अम्मा के प्रति की हुई प्रतिज्ञाओं की अन्त्येष्टि करके, स्त्री-पुरुष समानता के आदर्श को तिलांजलि देकर न मैं जीवित रह सकती हूँ, न पत्नी के रूप में हरीशबाबू को सुखी कर सकती हूँ।"

"यह तो सभी के दुःख का आयोजन हुआ। जो किसी को सुखी नहीं कर सकता उसे दूसरे को दुःख पहुँचाने का क्या अधिकार?"

"तुम ठीक कहती हो, निर्मला! किन्तु अब मेरे सामने अधिकार और विचार का प्रश्न ही नहीं रहा। वह सब मेरे परे हो गया है। केवल हृदय धू-धू करके जल रहा है। मुझे अब अपनी कोई चिन्ता नहीं रही, किन्तु हरीश बाबू की स्थिति पर दया आती है। यदि किसी प्रकार उस निर्दोष दुःखी को सुख दे सकती, उल्लसित देख सकती, तो कृतकार्य हो जाती।"

निर्मला ने दूसरा लक्ष्य-संधान करते हुए कहा—"आदर्शों का पालन तो यहाँ रहकर भी सम्भव है, चंचला! रही जीवन की बात, सो तुमने एक पहलू पर विचार नहीं किया। क्या तुम नहीं जानतीं कि विवाह का आधार विशिष्ट संस्कार है और जब तक वह संस्कार नहीं होता, विवाहेच्छुकों का पारस्परिक सम्बन्ध भाई-बहन का ही हो सकता है?"

"ओह! निर्मला! तू समझती क्यों नहीं?"—चंचला ने खीझकर कहा—"संस्कार-विधि का आत्मा और हृदय से क्या सम्बन्ध? वह समाज की व्यवस्था के लिए मनोवैज्ञानिक तथा कानूनी आयोजन से अधिक क्या है?" और चंचला ने इस लक्ष्य को भी विफल कर दिया।

निर्मला क्या करती? वह देख रही थी कि उसकी प्राणाधिक सखी और हरीश के सामने विनाश मूर्त्त रूप धारण करके नाच रहा है, विकराल भविष्य की अशुभ छाया उन दोनों पर पड़ चुकी है, फिर भी वह कुछ सहायता करने में असमर्थ है। आज जैसे संकट से उसका साक्षात्कार कभी न हुआ था। अन्त में उसने घबड़ा कर कहा—

"कुछ भी हो, तुम्हें हरीशबाबू को स्वीकार करना ही होगा, चंचला! ईश्वर ने तुम्हें अनुपम अवसर प्रदान किया है, उसे भले ही विकल्प मानकर स्वीकार करो, किन्तु ठुकराओ मत।"

"मैं इस प्रयत्न में ही अपने प्राण होमूँगी, बहन!"

"अच्छा, अब जाओ, हरीशबाबू तुम्हारी राह देख रहे होंगे"—कहकर निर्मला ने उसे हाथ पकड़कर उठा दिया और उसके चले जाने के बाद रातभर चिन्ता-सागर में गोते लगाती रही।

हरीश वास्तव में चंचला की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने द्वार पर देखते ही उसे अपने स्वाभाविक प्रेम तथा आदर से बुलाया और पास बैठाकर कहा—"प्राण-सखी के आने पर भी उल्लास नहीं?"

चंचला ने समय के अनुसार बात का रुख बदलकर, मुसकराते हुए कहा—"जिस दिन देवता को प्रसन्न कर सकूँगी उस दिन उल्लास आप-ही-आप फूट पड़ेगा।"

"किन्तु जिसे देवता कहती हो उसे तो दूर-दूर रखती हो!"

"फिर भी उसके चरणों की दासी हूँ।"

"देवता को दासियाँ तो बहुत मिल सकती हैं, उसे देवी की आवश्यकता है। वह कुम्हलाये हुए फूल की नहीं, नव-प्रफुल्लित, परागयुक्त, सौरभपूर्ण प्रसूनों की आकांक्षा और याचना करता है!"

चंचला के हृदय पर एक शिला का भार और बढ़ गया, फिर भी उसने हँसने का प्रयत्न करते हुए मधुर स्वर में कहा—"ईश्वर करे, वह सुयोग आये!

४३

कर्मवीर

निर्मला ने थोड़ा स्वास्थ्य-लाभ करते ही जीवन को चंचला के विवाह की सूचना दे दी थी और क्षमा-याचना की थी कि अवसर उपयुक्त न होने के कारण वे दोनों शीघ्र उसका आश्रम और कार्यक्षेत्र देखने न जा सकेंगी।

जीवन पर पत्र का प्रथम परिणाम सहसा वज्राघात के समान हुआ—अब तक आशा थी, अब वह भी नहीं रही! और जब उसने पुनः वह अवस्था प्राप्त की, जिसे चेतना कहते है, तो वह उद्‌भ्रान्त के समान इधर-उधर भटकने लगा। आज वह सरिता-तट, जिस पर बैठकर उसने उद्वेग के अगणित क्षणों में शान्ति, सान्त्वना और स्फूर्त्ति उपलब्ध की थी, उसे काटने दौड़ता है; वनराजि का मनोहर लास्य उसे ताण्डव जैसा प्रतीत होता है। वट-वृक्ष और ग्रामीण समाज में, कुटिया के अन्दर और बाहर—कहीं उसे कोई सहारा नहीं मिलता। दिन-भर बीत गया, आधी रात्रि भी मुँह छिपा कर चली गई। किन्तु जीवन को प्राण-वेदना में कोई कमी न हुई। वह मन-ही-मन स्मरण करने लगा—

"बाल्यवस्था में मैंने अपनी मौसी के घर तोता पला हुआ देखकर मा से कहा—'अम्मा! मैं भी एक सुन्दर-सा तोता पालूँगा।' मा ने अपने हृदय की समस्त करुणा और समवेदना को कंठ में भरकर समझाया—'बेटा स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता से विचरण करते हुए प्राणी को पिंजरे में बन्द कर लेना अच्छा नहीं होता; ऐसा करने से बड़ा पाप लगता है।'

"मा की वह शिक्षा मेरे अन्तःपटल पर अंकित हो गई। मैं बड़ा हुआ, मूछों की रेख आई, साथी-संगी बढ़े, अच्छे और बुरे, कर्तव्य और अकर्तव्य का भान हुआ, बचपन का अल्हड़पन गया, गम्भीरता आई। मा ने प्रस्ताव

किया—'बेटा, ब्याह करले ! छोटी-सी बहू आ जाये, मेरे घर में चाँदनी छिटक जाये !'

"मुझे बचपन में सुने हुए मा के वे शब्द याद आये—'स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता से विचरण करते हुए प्राणी को पिंजरे में बन्द कर लेना अच्छा नहीं होता......!'

"मेरा हृदय भावनाओं से परिपूर्ण हो गया। अपने जीवन पर दृष्टि फेरी—अन्धकार में मुझे कुछ सूझ न पड़ा, प्रचण्ड दीप्ति में आँखें चौंधिया गईं ! मैंने दो निश्चित शब्दों में उत्तर दे दिया—'नहीं, अम्मा !'

"मा का आग्रही हृदय मेरा उत्तर सुनकर बैठ गया। मा ने शब्दों में कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु उनके नेत्र बराबर उलाहना देते रहे— 'मैं तेरी मा हूँ, क्या तू मेरी इतनी-सी बात भी न मानेगा ?'

"तथापि मेरा मन दृढ़ रहा।

"दिन बीते। धीरे-धीरे जीवन में कुछ हलकापन, कुछ सूनापन, कुछ खालीपन महसूस होने लगा। यह क्या था, मैं समझ न सका। परन्तु अनजाने, अनवरत किसी की खोज करता रहा। महत्वाकांक्षाएँ पुकार करतीं, युवावस्था का वेग धक्के देता, और मैं किसी अनजान लक्ष्य की ओर दौड़ता चला जाता था। मैं जितना भागता, वह रिक्तता, वह अन्वेषणशीलता अधिकाधिक प्रबल होती जाती।

"मा की कही हुई पिंजरे की बात मैं कभी नहीं भूला। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, मैं एक विलक्षण अनुभव करता गया। मैं महसूस करने लगा—'मनुष्य-जीवन भी एक पिंजरा है। संसार में जितने मनुष्य हैं, उन सब का जीवन एक-एक पिंजरा है। पक्षी का पिंजरा जड़ होता है, गति-हीन है; ये पिंजरे चेतन हैं, गतिमान हैं, अनुभूतिक्षम हैं। वह केवल कारागार का प्रतिरूप है, इनमें चुम्बकत्व भी है; उस में कोई दूसरा व्यक्ति पक्षी को पकड़कर बन्द कर देता है, ये स्वयं अपने बन्दी को खींच लेते हैं, बन्दी स्वयं भी इनके अन्दर खिंच आता है; उसमें बन्दी विवश रहता है, इसमें वह विजयी होकर राज्य करता है। मानव-जीवन के ये पिंजरे अधिक भयंकर हैं और ये सब पिंजरे एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं—खड़खड़ाते हुए भी पृथक् नहीं हो सकते।

"एक दिन मैंने अपने पिंजरे में फड़फड़ाहट सुनी—बहुत मंद और अस्पष्ट। मैंने सोचा—कोई बन्दी आ गया। मन में कुछ प्रसन्नता-सी हुई—

कोई खिलौना आ गया। फिर कुछ भय हुआ—यह मुझपर शासन करेगा, मेरी स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा।

"डरते-डरते मैंने उसे देखने का प्रयत्न किया, परन्तु मेरे नेत्र भय से बन्द हो गये थे, मुझे कुछ भी दिखलाई न पड़ा।

"उस दिन से प्रायः नित्य ही मुझे वह फड़फड़ाहट सुनाई देती—हर-बार मैं उसे देखने का प्रयत्न करता। धीरे-धीरे मेरा भय कम होता गया, आकर्षण बढ़ता गया। मुझे पहले अस्पष्ट रूप में और तदुपरान्त स्पष्टतया एक मूर्ति दिखलाई पड़ने लगी। अब वह मुझसे बातें भी करती।

"एक दिन उसने पूछा—तुम मेरे पिंजरे में कैसे आये?

"मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने उत्तर दिया—तुम ही तो मेरे पिंजरे में हो।

"वह हँसी और बोली—तुम मेरे पिंजरे में हो और मैं तुम्हारे पिंजरे में!

"तो फिर अधिपति कौन है?—मैंने पूछा।

"तुम्हारे पिंजरे की मैं और मेरे के तुम—उसने उत्तर दिया।

"हम दोनों हँस पड़े और हँसते रहे।"

"उसने अपने अधीन पिंजरे को सारी शक्ति और ध्यान लगाकर संभाला। उसमें कहीं कमजोरी न आ पाई।

"मैं बहुधंधी था। अपने न्यास की पर्याप्त देखभाल और रक्षा न करके, दूसरे पिंजरों की कड़ियाँ जोड़ता फिरा। वह पिंजरा जंग खा गया और मेरी वह मूर्ति विलीन हो गई।

"उसकी रक्षा का हाथ अब मेरे पिंजरे पर नहीं दीखता। मेरा पिंजरा भी जंग खाने लगा है।

"क्या यह टूट जायेगा?"

× × × ×

जीवन को वट-वृक्ष के नीचे बैठनेवाले अपने समाज का, गाँव में रहनेवाले दीन-दुःखियों का, अपने सेवाकार्य का, ग्वालियर की पाठशालाओं का स्मरण हो आया। समस्त देश के दीन-दुखियों का एक विशाल चित्र-पट उसके मनश्चक्षुओं के समक्ष नाच उठा। उनकी वेदना ने उसके हृदय के तार को हिला दिया और उसने सोचा, क्या ये सब इसी तरह कराहते रहेंगे? इन्हें एक जीवन से जो आशा-संदेश मिल सकता था वह भी नहीं मिलेगा? जो छोटे-छोटे सेवा-कार्य आरम्भ हुए हैं, सब बंद हो जायेंगे? और यह सब इस लिए कि वह स-शरीर मेरे पास न रहेगी?

तब मैंने उससे क्या सीखा ? मैंने उसका क्या आदर किया ? नहीं, यह कदापि नहीं हो सकता। मैं शरीर के साथ आदर्शों का सौदा नहीं कर सकता। मैं रहूँ, मेरे आदर्श रहें, मेरी सेवा रहे—यही उसको आत्मा की प्रेरणा है, और मैं इस प्रेरणा की अवज्ञा नहीं करूँगा। कल से मेरा कार्य दूने उत्साह के साथ होगा। सेवा के लिए मुझे जीना होगा, जीने के लिए हृदय को सदा प्रफुल्लित रखना होगा।

और वह उठा। उसने 'गुरु चंचला' के चित्र का आवरण हटाकर उसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। उसने माना, जो चाहिए था वह मिल गया। अब आशा की आवश्यकता नहीं, उसके भंग होने का भय नहीं।

वह सूर्योदय के पूर्व उठ बैठा। उसका हृदय असीम आनन्द से पुलकित था, और उसकी स्फूर्ति अनेक गुनी बढ़ गई थी। उठते ही वह झाड़ू, फावड़ा और टोकरी लेकर हरिजन बस्ती में सफाई के लिए जा पहुँचा। बस्ती के निवासियों ने सोते-सोते आवाज सुनी तो आश्चर्य किया कि आज किस भले आदमी को इतने तड़के सफाई की सूझ पड़ी। परन्तु जब उन्होंने देखा कि जीवन सफाई कर रहा है तो वे भी उसके साथ हो लिये और थोड़े ही समय में बस्ती की बाहरी सफाई पूरी हो गई। जीवन का आज यह नया आयोजन था और उसका कोई काम एक बार आरम्भ होकर बन्द नहीं होता था। उसने बस्तीवालों को बताया कि यह कार्य प्रतिदिन किया जायेगा और इसके साथ दूसरे सांस्कारिक कार्य भी होंगे। शीघ्र ही वहाँ दो पाठशालाएँ भी खुल गईं—एक बच्चों के लिए और दूसरी प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों के लिए। ये पाठशालाएँ परंपरागत पाठशालाएँ नहीं थीं, जिनमें अक्षरज्ञान कराकर संतोष मान लिया जाता। इनमें आर्थिक उन्नति के आधार पर सभ्य एवं संस्कारी जीवन की शिक्षा दी जाती थी, जो हरिजनों के उत्थान के लिए उपयोगी तो थी ही, साथ ही समस्त मानव-समाज के लिए लाभकारी थी। जीवन ने आज आगरे की सभा का स्मरण करके अपनी आत्मा के समक्ष स्वीकार कर लिया कि मैं हरिजन हूँ और उसने संकल्प किया—"मैं सात करोड़ हरिजनों को छोड़ नहीं सकता, उनके ही साथ डूबूँगा, उनके ही साथ उबरूँगा।"

गाँव के पुराने विचार के लोगों ने जीवन की इस नई प्रवृत्ति पर प्रत्यक्ष और परोक्ष आपत्ति प्रकट की, तो जीवन ने कहा—मेरा काम दीन-दुःखियों की सेवा करना है। हरिजनों का स्थान इन दुःखियों में पहला है। उनकी सेवा छोड़ी नहीं जा सकती। वास्तव में तो सब सेवा का आरम्भ ही वहाँ होना चाहिए। जो लोग मेरी हरिजन-सेवा पर आपत्ति करते हैं, वे स्वयं सेवा कराने

के अधिकारी नहीं है, क्योंकि उनमें बड़प्पन का झूठा अभिमान मौजूद है।

उसके इस कार्य के कारण उसके सहयोग-समाज के कुछ सदस्य घट गये, किन्तु हरिजनों की पूरी संख्या उसे प्राप्त हो गई। उसने उन्हें परंपरागत व्यवसायों में उन्नति करने और उन्हें प्रतिष्ठित बनाने की नई-नई कल्पनाएँ दीं और सहयोग धर्म द्वारा उन्हें कार्यन्वित कराने की व्यवस्था कर दी। हरिजनों को शिक्षा देने में वह आत्म-गौरव के विकास पर सबसे अधिक जोर देता और उन्हें सिखाता कि निष्ठापूर्वक कर्तव्य, नम्रता और शिष्टाचार के बिना आत्म-गौरव यथार्थ नहीं हो सकता।

उस दिन से जीवन प्रायः प्रतिदिन कोई-न-कोई नया अनुष्ठान करता और उसका कोई अनुष्ठान ऐसा न होता, जिसमें उसे कुछ-न-कुछ सफलता न मिलती हो।

उस क्षेत्र में मैले की खाद का उपयोग पीढ़ियों से वर्जित था। अतएव सारा मैला यों ही नष्ट हो जाता था। जीवन ने किसानों और काछियों को उसकी उपयोगिता समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु जाति-भ्रष्ट कर दिये जाने के भय से वे उसे काम में लाने के लिए तैयार न हुए। आखिरकार उसने स्वयं अपनी कुटिया के पास थोड़ी-सी भूमि में शाक की खेती की और उसमें अपने हाथों मैले की खाद ढोकर डाली। थोड़े ही दिनों में खेती लहलहा गई। इस उदाहरण को सामने रखकर उसने लोगों फिर समझाया। कुछ लोग उसकी सलाह मानने को तैयार हो गये, परन्तु इससे जाति में झगड़े उत्पन्न हुए और जीवन भी संकट में पड़ने से बच न सका।

जिन गुंडों को जीवन ने दबा दिया था, उन्होंने अवसर देखकर फिर सिर उठाया। पुराने विचारों के कुछ किसानों को भड़काकर उन्होंने जीवन को गाँव छोड़ देने की चेतावनी दिलाई, और जब जीवन ने उस चेतावनी को मानने से इनकार कर दिया तो एक दिन चुपचाप उसकी कुटिया में आग लगा दी।

जीवन को बहुत दुःख हुआ। कुटिया में उसका वह प्यारा चित्र, जिसे उसने वर्षों से संभालकर रखा था, भस्म हो गया। परन्तु, उसने इस स्थूल स्मारक को नष्ट करने की परमेश्वरीय इच्छा समझकर संतोष किया और भविष्य में कोई सम्पत्ति न रखने का संकल्प कर लिया।

उस दिन से वट-वृक्ष की घनी छाया ही उसकी कुटिया बन गई।

४४

विस्फोट

"निर्मला, तुम चली जाओगी आज ?"—कहते-कहते चंचला का गला रुँध गया।

सखी से भेंट करने के लिए और उसके साथ एक-दो दिन रहने के लिए आई हुई निर्मला हरीश के आग्रह से, वृद्ध दम्पति के वत्सल अनुरोध की अवहेलना न कर सकने के कारण, समस्त परिवार के निष्कलंक प्रेम से मुग्ध होकर और, सर्वोपरि, चंचला के हृदय को यथासाध्य दृढ़ कर सकने की आशा में दो मास तक वहाँ रुक गई। घर-बार और पति, सभी की चिन्ता इस अभिन्नहृदया सखी के सुखी जीवन की आशा में विलीन हो गई। किन्तु अब अधिक विलम्ब से उसकी गृहस्थी पर अति अन्याय हो जाता। चंचला इस स्थिति को महसूस करके उसे जाने की अनुमति देने के लिए बाध्य हो गई।

निर्मला ने साहस से काम लेकर अपने विछोह-दुःख को संवरण करते हुए कहा—"मैं तेरे पास से जा सकती हूँ, चंचला ? शरीर भले ही चला जाये, पर मेरा मन तो सदा तेरे पास ही रहेगा। तेरे दो शब्द शरीर को भी यहाँ खींच लाने के लिए पर्याप्त होंगे"—किन्तु उसने कितना भी रोका, अन्त में कंठावरोध हो ही गया। और दोनों सखियाँ कई मिनटों तक एक-दूसरी को छाती से दबाये निर्वाक् स्थिति में खड़ी रहीं।

इन दो महीनों में निर्मला बहुत-कुछ कर सकी। चंचला की देव-प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा होती दिखलाई पड़ने लगी। हरीश महसूस करने लगा कि उसकी प्रियतमा के स्वयंवृत 'दासीत्व' से उठकर स्वयोग्य 'देवीत्व' तक पहुँचने में अब विलम्ब नहीं है। इसका सारा श्रेय बिना किसी संकोच के उसने निर्मला को दिया।

किन्तु शीतल उपरितल के अन्तराल में अभी ज्वालामुखी प्रसुप्त है, इस सत्य को निर्मला जानती थी। बहुत-कुछ परिवर्तन हुआ। वह सच्चा भी था।

चंचला अपने पति के प्रति आत्मसमर्पण करने को तैयार हो गई। आत्म-बलिदान करके अपने प्रति किये गये अन्याय का प्रतिकार करने की इच्छा उसने दबा ली। परन्तु, अभी बहुत-कुछ शेष था। निर्मला यह जानती थी और इस जानकारी से विदाई के समय वह सबसे अधिक भयभीत थी।

उसने अपने आँसुओं को बलपूर्वक रोककर हँसते हुए पूछा—"अब ?"

चंचला ने कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ क्षण इसी प्रकार मौन में व्यतीत हो गये। निर्मला ने ही उसे भंग करके फिर पूछा—

"क्यों चंचला, अभी तुम्हें मेरी आवश्यकता प्रतीत होती है ?" और वह फिर हँसने लगी।

"निर्मला !" चंचला की आवाज भारी थी, स्वर तीव्र और उलाहने से भरा हुआ था।

"क्यों ?" परिहास कायम रखने का प्रयत्न करते हुए निर्मला ने फिर प्रश्न किया। परन्तु वह जानती थी, चंचला की मनःस्थिति उस समय परिहास ग्रहण करने अथवा आत्मसंवरण के योग्य नहीं थी।

"निर्मला, तुम जा रही हो; अब मैं क्या करूँगी ?"—चंचला के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

यही चंचला थी, जो अपने हृदय में अपार संघर्ष का भार वहन करती हुई वनिता आश्रम के सब कामों में दक्षतापूर्वक भाग लेती थी। एक दिन ऐसा था जब घोर विपत्ति में भी दूसरों के सामने वह हँसकर बात कर सकती थी। परन्तु आज बात-बात पर उसके नेत्र वर्षा करने लगते हैं।

निर्मला ने मन-ही-मन डरते हुए स्नेह के साथ पूछा—"क्यों चंचला, अब भी कुछ भय है ? अपने हृदय में कुछ छिपाकर तो नहीं रखा ?"

चंचला सहसा उत्तर न दे सकी। कुछ रुककर अपने को संभालते हुए उसने कहा—"अब तक मैं तुमसे शक्ति पाती थी। अब ?"

"मेरी बहन, स्वयं तुममें शक्ति का अभाव है ? और अब दूसरे की शक्ति किस लिए चाहिए ?"

"अपने आन्तरिक संघर्ष को जीतने के लिए, हृदय को स्थिर रखने के लिए।"

"चंचला, यह शक्ति अब तुम्हें हरीशबाबू से लेनी है। वह इसके योग्य हैं।"

"हाँ !"—चंचला ने उत्तर दिया—"योग्यता उनमें है, परन्तु उसका उपयोग करने का अधिकार मैं कहाँ से पाऊँगी ?"

"पगली !"—निर्मला ने एक हलका सा चपत उसके गाल पर लगाकर कहा—"अभी अधिकार नहीं पाया ? या पाये हुए अधिकार का उपयोग करने की तैयारी नहीं है ?"

"निर्मला !"—चंचला ने कातर होकर कहा—"तुम नहीं समझतीं। मुझे सब-कुछ प्राप्त है। साधारण स्थिति की भारतीय नारी जो-कुछ चाह सकती है, वह सभी मुझे प्राप्त है। फिर भी, फिर भी...."

"फिर भी तुम सन्तुष्ट नहीं हो ! चंचला, तुम्हें जो प्राप्त है, उसका मूल्य यदि तुम समझ सकतीं !"

"मैं समझती हूँ, निर्मला ! उसी के भार से मैं दबी जा रही हूँ। उसका प्रतिदान करने के प्रयत्न में मैं अपने-आप को मिटा रही हूँ। किन्तु...."

"किन्तु क्या ? कुछ कहो भी, चंचला ! क्या इसी उद्विग्नता के साथ मुझे विदा करोगी ?"

चंचला अपने को संभालने का जी-तोड़ प्रयत्न कर रही थी। उसने कहा—"मैं नहीं चाहती ऐसा हो, निर्मला ! परन्तु तुम्हारे जाने से शायद मेरी रही-सही शक्ति भी........"

"नई बात क्या हो गई ? अब तो मुझे कोई डर नहीं दीखता ?"

"साधारण लोगों के लिए कदाचित् मेरा जीवन आदर्श बन गया है। सभी कहेंगे, मुझसे अधिक भाग्यशालिनी कोई नहीं...."

"और यह अक्षरशः सत्य है"—निर्मला ने बीच में ही टोककर कह दिया।

"हाँ, एक सीमा तक सच है, किन्तु पूर्णतया नहीं।"

"क्यों ?"

"तुम मुझे जानती हो, मेरी महत्वाकांक्षाओं और मेरे दायित्व से परिचित हो। मैं कौन हूँ, निर्मला ?"

"कौन हो !" निर्मला ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—"श्री हरीश बन्दोपाध्याय की धर्मपत्नी ! और कौन ?"

"हाँ ! किन्तु स्वर्गीय रामलालभाई की औरस पुत्री भी हूँ, निर्मला ! यह बात मैं भूल नहीं सकती।"

"इससे हानि क्या ?"

"इससे हानि ?"—चंचला आवेश में आ गई—"हानि यह कि जब उनकी पुत्री-मात्र थी, तब मुझे हरिजन होने का गौरव था। मैं हरिजनों को पद-दलित और अन्याय-पीड़ित समझती थी, परन्तु हीन नहीं। आज श्री हरीश

बन्द्योपाध्याय की धर्मपत्नी होने के पश्चात्, मेरे सामने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में उनकी हीनता का चित्रण होता है और मैं असहाय बनकर उसे देखती हूँ, उसकी साक्षी बनती हूँ। मुझे भी इसलिए सौभाग्यशालिनी माना जाता है कि मेरा विवाह एक श्रेष्ठ कुलोत्पन्न ब्राह्मण के साथ हुआ है। मेरा सारा आत्म-गौरव नष्ट कर दिया गया है।"

निर्मला के हृदय को एक नया धक्का लगा। चंचला के अभियोग का कोई उपयुक्त उत्तर उसे तत्काल सूझ न पड़ा और उसने कहा—

"तुम्हें हरिजनों की सेवा करने से तो कोई रोकता नहीं ?"

"ब्राह्मण के साथ विवाह करके मैं हरिजनों की सेवा कर सकती हूँ ?"

"क्यों नहीं ?"

"उन पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? यही न, कि हमें नीच समझ कर ऊँचों के घर चली गई ? यदि मैं उन्हें नीच समझूँ तो हरिजनत्व का गौरव रखने की शिक्षा कैसे दूँ, जो सबसे आवश्यक है ?"

"तुम अपनी ओर से उन्हें नीच मत समझो और अपना कर्त्तव्य करती जाओ।"

"मान लो, ऐसा भी हो; तो मुझे अपने संस्कारों, सामाजिक प्रथाओं, सहानुभूतियों और व्यक्तिगत, जातीय तथा पारिवारिक सम्बन्धों के कारण उनमें घुलना-मिलना होगा, उनसे किंचिन्मात्र भी भेदभाव न करना होगा। क्या ब्राह्मण परिवार यह सब सहन कर सकेगा ? किस सीमा तक सहन करेगा ? फिर भी मेरा जीवन दुःखमय न बना दिया जायेगा ? इस सबका क्या यह अर्थ नहीं हुआ कि हरिजन समाज, जो मुझे प्यारा है, मुझसे सदा के लिए छूट गया ?"

निर्मला ने चलते-चलते इस प्रश्न को बढ़ाना उचित नहीं समझा, अतः उसने कहा—"तुम्हें सोचने का रोग हो गया है, चंचला ! इसका उपचार सर्वप्रथम आवश्यक है।"

चंचला कुछ कहना ही चाहती थी कि हरीश ने कमरे में आकर कहा—निर्मलाजी, आपके प्रान्त के नेता श्रीकृष्णभाई हमारे कालेज में आनेवाले हैं। आप लोग उनसे मिलने चलेंगी ? मैं अभी जा रहा हूँ।"

निर्मला को डूबते हुए सहारा जैसा मिल गया। वह जानती थी कि श्रीकृष्णभाई पर चंचला की अनन्य श्रद्धा है। मन-ही-मन उसने सोचा कि यदि श्रीकृष्णभाई उससे कुछ उत्साहवर्धक बातें कहेंगे तो उनका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। गाड़ी के लिए अभी समय भी बहुत था। उसने तुरंत हरीश

से कह दिया, "हाँ, हम भी चलेंगे।" और फिर चंचला से पूछा—"ठीक है न?" चंचला को स्वीकृति देनी पड़ी और कुछ ही मिनटों में तीनों घर के बाहर हो लिये।

जब दोनों सखियाँ श्रीकृष्णभाई के पास पहुँची, उस समय वह व्याख्यान के लिए जाने की तैयारी में थे। दोनों को देखकर कुछ चकित होकर बोले—"अरे! तुम यहाँ कैसे?"

"आपके दर्शनों के लिए"—निर्मला ने आत्मीयता-मिश्रित श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा।

"अच्छा! बड़ी-बड़ी दूर से लोग मेरे दर्शनों के लिए आये हैं!"—कहकर श्रीकृष्णभाई ने चंचला से कहा—"तुझे तो बधाई देना बाकी है। बहुत अच्छा लड़का मिला तुझे।"

हरीश पास ही बैठा था। उसने सोचा कि मेरे विषय में बातचीत छिड़ गई, अतः संकोच के कारण वहाँ से उठकर बाहर चला गया। इधर निर्मला ने देखा, बात ठीक निशाने की शुरू हो गई है। उसने उसे थोड़ा-सा बढ़ा देने के लिए कहा—

"इतना अच्छा वर तो ढूँढे-ढूँढे नहीं मिलता, भाईजी!"

"हाँ, हाँ! मुझे खेद इतना ही है कि सेठ गंगाप्रसादजी की यह अन्तिम इच्छा मेरे हाथों पूरी नहीं हुई। पछतावा रह गया!"

निर्मला का मन डर गया—यह 'अन्तिम इच्छा' की बात फिर निकल पड़ी! परन्तु वह चक्कर में पड़ी कि यह भी इस विवाह को काकाजी की 'अन्तिम इच्छा' ही बता रहे हैं। क्या मेरी समझ की कोई गलती थी? उसे विश्वास तो न हुआ, फिर भी उसने सोचा कि जब कार्य हो ही गया है तो 'अन्तिम इच्छा' मानने में लाभ ही है। मेरी बात गलत सिद्ध हो जाये तो हो जाये, इनके मुँह से 'अन्तिम इच्छा' का समर्थन करा दिया जाये—इससे चंचला की मनःस्थिति सुधारने में सहायता मिलेगी और मैं उसका इतना भार कम लेकर यहाँ से जा सकूँगी। यह सब सोचकर उसने कहा—

"आप इसे काकाजी की 'अन्तिम इच्छा' क्यों कहते हैं, भाईजी?"

चंचला चुपचाप सिर नीचा किये सुनती रही।

श्रीकृष्णभाई ने कहा—"सेठजी ने उस दिन बीमार पड़ जाने के बाद मुझे पत्र लिखाया था। मैंने सुना, उन्होंने उसे खास तौर से मँगाकर हस्ताक्षर किये। उसके बाद ही वह बेहोश हो गये। फिर कभी नहीं बोले"—श्रीकृष्णभाई का गला भर आया।

अब चंचला बोल उठी। उसने धीरे से नम्रता के साथ कहा--"क्या लिखा था, काकाजी ने आपको ?"

निर्मला के सिर में ठनका लगा। उसका हृदय धड़कने लगा—क्या कहेंगे भाईजी ?"

श्रीकृष्णभाई ने कहा—"लिखा था, तुम लोग आओगी। मैं जीवन से मिला दूँ और फिर विवाह की व्यवस्था करा दूँ। वह स्वयं जीवन की बातें सुनकर बहुत प्रसन्न थे। मगर लिखा था, चंचला कुछ गलत धारणाएँ बाँध बैठी है, उनका निवारण करा देना........"

दोनों सखियों के दिल जोरों से धड़क रहे थे। निर्मला का चेहरा विवर्ण हो गया। चंचला सिर नीचा किये, नाखून गिनती आँसुओं से भूमि को भिगोती रही। वैसे ही बोली—

"भाईजी, आप काकाजी की यह 'अन्तिम इच्छा' पूर्ण क्यों नहीं कर सके ?"

उसकी आवाज में रोते हुए हृदय की वेदना स्पष्ट थी। किन्तु उन्होंने समझा, वह उनके कुछ न कर सकने के कारण ही दुःखी है, क्योंकि सेठजी के बाद उसके पिता के रिक्त स्थान की पूर्ति करने का नम्बर उनका ही था। उन्होंने क्षमा-याचना करते हुए कहा—

"बेटी, दूसरे ही दिन सेठजी के निधन का समाचार पा जाने से मेरा सब उत्साह ठंडा पड़ गया—हाथ-पैर ढीले हो गये। फिर, तुम लोग भी नहीं आईं, नहीं तो तुम्हारी ही प्रेरणा से कुछ कर लेता। खैर, अब तो विवाह हो गया। मैं उपस्थित रहा या न रहा, इससे क्या अन्तर पड़ता है ?"

"अन्तर बहुत बड़ा पड़ा, भाईजी ! मेरा सर्वनाश कर दिया गया...." और वह एकदम फूट पड़ी। निर्मला स्तब्ध बैठी थी, मानो उसके शरीर में प्राण ही न हों। परन्तु उसकी ओर इस समय कौन ध्यान देता !

श्रीकृष्णभाई ने चंचला का सिर अपनी गोद में लेकर उसे सान्त्वना दिलाते हुए कहा—"शुभ कार्य के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहते, बेटी ! जीवन बहुत ही अच्छा लड़का है। तुम्हारे प्रति उसका एकनिष्ठ प्रेम है, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। कुछ झगड़ा हो गया हो तो उसे मिटा लो। वह है कहाँ ?"

"मुझे क्या पता ?"

"क्यों क्या लापता हो गया है ?" अब श्रीकृष्णभाई ने विनोद किया। अब चंचला से न रहा गया। उसने रोते-रोते कहा—"मेरा विवाह

यहाँ श्री हरीशचन्द्र बन्दोपाध्याय के साथ हुआ है। यह मुझे काकाजी 'की अंतिम इच्छा' बताई गई।

"उफ ! मैंने क्या किया !"—बरबस श्रीकृष्णभाई के मुँह से निकल पड़ा। थोड़ी देर तक उनके मुँह से और शब्द न निकले ! बाद में उन्होंने बात को संभालने की दृष्टि से कहा—

"परन्तु वह भी तो अच्छा लड़का होगा ? तुम इतनी व्याकुल क्यों हो ?"

"वह मेरे लिए आवश्यकता से अधिक अच्छे हैं।"

समय बहुत अधिक हो गया था। हरीश ने अन्दर आकर श्रीकृष्ण-भाई से कहा—"अब आपको ज्यादा देरी हो जायेगी। चलना चाहिए।"

श्रीकृष्णभाई ने दोनों बालिकाओं से पूछा, "तुम क्या करोगी ?"

हरीश ने उत्तर दिया—"आपको भेजकर मैं इन्हें घर पहुँचा दूँगा।"

और सब लोग एक ही मोटर में सवार हो गये। चलते-चलते श्रीकृष्ण-भाई ने निर्मला से कहा—"हरीशबाबू से कहना, मुझसे मिल लें।"

हरीश ने सामने आकर विनयपूर्वक प्रणाम किया और अपना नाम बताया। श्रीकृष्णभाई ने पितृ-प्रेम के साथ उसे हृदय से लगाकर आशिष देते हुए कहा—"छिप-छिपकर रहते हो !"

४५

पश्चात्ताप की ज्वाला

निर्मला गई—हृदय में तीव्र वेदना और पश्चात्ताप लेकर; चंचला रही—प्रति पल मरण की कामना करती हुई !

गाड़ी छूटते-छूटते निर्मला ने कंठ और नेत्रों से हृदय को प्रवाहित करते हुए अनुनय की—"मेरी बहन ! अपने को सँभालना !"

चंचला ने नेत्रों की करुण वाणी में उत्तर दिया—"अब भी सँभालना शेष है ?"

बहुत देर तक चंचला खोई-खोई-सी रही, परन्तु जब वह अपने-आपमें लौटी, तो फूट पड़ी। परिवार के लोगों ने उसे धैर्य बँधाने का प्रयत्न किया—सखी-सहेलियाँ जीवनभर किसी के साथ थोड़े ही रह सकती हैं; और फिर निर्मला तो जब बुलाओ, आजायेगी ! हरीश ने उसे अपनी ओर खींचने का प्रयत्न किया—मेरे हृदय में तुम्हारे लिए प्रेम की अविरल धारा विद्यमान है, उसे अपना लो ! परन्तु इस सबसे चंचला का कोई समाधान न हुआ।

समाधान कैसे होता ? चंचला तो किसी दूसरे जगत में ही विचरण कर रही थी। आज उसका हृदय जीवन की स्मृतियों से ओतप्रोत था, वह जीवनमय थी। वह सोचती—यदि मैंने उस जीवन का तिरस्कार न किया होता तो निश्चय ही मेरा सम्पूर्ण जीवन सुखमय, उल्लासमय और स्फूर्तिमय हो जाता। उसे अपने समस्त अन्याय, सारी गलतियाँ याद आईं और वह एक गहरे पश्चात्ताप-सागर में डूब गई।

हरीश उसकी यह स्थिति देखकर व्याकुल था। आज पहली बार उसने अनुभव किया कि वास्तव में उसकी प्रियतमा के हृदय में छिपी हुई पीड़ा असाधारण है और यदि उसका मूलोच्छेद न कर दिया गया तो अनतिदूर भविष्य में ही सर्वनाश का सामना करना पड़ेगा। अतएव उसने जबरन उसे अपने निकट लेकर अत्यन्त आर्द्रता के साथ पूछा—"प्रिये, मैंने तुम्हारा बहुत

दुःख देखा, किन्तु आज के दुःख से तो हृदय को सँभालना ही असम्भव हो रहा है। क्या मुझे उसको बँटा लेने का भी अधिकार न दोगी ?"

चंचला उत्तर देना चाहती तो भी उसके योग्य स्थिति में नहीं थी। हरीश की इस अवस्था को देखकर उसका रहा-सहा धैर्य भी बन्धन तोड़ बैठा और उसकी हिचकियाँ बँध गईं। हरीश ने अपने को सँभालकर कहा—"तुम्हारी यह वेदना तो केवल निर्मलाजी के वियोग की वेदना नहीं मालूम होती। कम-से-कम मुझे बता तो दो !"

चंचला ने कठिनता से उत्तर दिया—"अभी मुझे छोड़ दीजिए। आप शांत हो जाइए। मन की हालत ठीक होने पर सब-कुछ बता दूँगी।"

"तुम्हारी जैसी इच्छा !"—कहकर हरीश ने उसका सिर तकिया पर रख दिया और स्वयं बाहर चला गया ! वह अपने हृदय में जो उत्कट वेदना छिपाये था, उसे कौन समझता !

इसी प्रकार कई दिन बीत गये। चंचला ने घर के सब काम-काज में पूर्ववत योग देना आरंभ कर दिया, किन्तु उसके चेहरे से प्रसन्नता कदाचित् सदा के लिए विदा ले चुकी थी, और उसका शरीर अपने ही रक्त-मांस को चूसकर जीवित था।

अवसर देखकर हरीश ने बात निकाली—"किसी डाक्टर को दिखा देना ठीक न होगा ?"

चंचला ने निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो, अब अन्याय न करूँगी, अधिक धोखे में न रखूँगी। उसने कहा—

"मेरा रोग मनुष्य के वश का नहीं रहा।"

"ऐसा कौन-सा रोग है वह, प्रिये ?"

"रोग यह है"—उसके मुँह से शब्द निकलना कठिन हो गया और उसे जोर देकर कहना पड़ा—"कि आपका अजस्र और ईर्ष्या-योग्य प्रेम व्यर्थ हो रहा है।"

"मेरा प्रेम व्यर्थ नहीं हो सकता, प्रिये ! तुम यह चिन्ता छोड़कर अपने को सम्भाल लो !"—हरीश ने आर्द्र कंठ से कहा।

"यही तो मेरी वेदना का और भी बड़ा कारण है, कि आप इतने सज्जन हैं"—चंचला ने उसी तरह उत्तर दिया।

"मन की बात क्यों नहीं कह डालतीं ?"

"कहना चाहती हूँ। अब तक आशा रोकती रही कि शायद सुधर जाये, परन्तु अब आशा बिलकुल नहीं रही, इस लिए सब-कुछ कह दूँगी।

आप सुन सकेंगे? हृदय टुकड़े-टुकड़े तो नहीं हो जायेगा?"

"आज की पीड़ा से उसका टुकड़े-टुकड़े हो जाना भी अच्छा है। तुम कहो।"

"एक वादा कर सकेंगे?"

"क्या?"

"मैं कैसी भी रहूँ, आप मेरी चिन्ता छोड़कर प्रसन्न रहेंगे—कीजिए प्रतिज्ञा!"

"यह प्रतिज्ञा मनुष्य कर सकता है, प्रिये? हाँ, मैं दूसरी प्रतिज्ञा कर सकता हूँ।"

"क्या?"

"तुम्हारा दुःख कितना भी भयानक क्यों न हो, मैं उसे मिटा लूँगा!"

चंचला निराशा की शून्य हँसी हँस पड़ी और बोली—"मनुष्य में अब तक यह सामर्थ्य नहीं आया, मेरे देवता! पर आपको प्रयत्न करने का अधिकार है।"

और उसने कहा—"सुनिये, आज मैं सब-कुछ कहूँगी!......."

और उसने कुछ रुककर फिर कहा—"मैं एक अन्य व्यक्ति की आत्म-समर्पिता पत्नी हूँ......मेरा स्वयंवृत पति यहाँ से एक हजार मील पर जीवित-जाग्रत है......."

उसने हरीश की ओर देखा। उसकी आँखें बन्द थीं और वह ध्याना-वस्थित की भाँति सुन रहा था। चंचला के रुकने पर उसने आँखें खोले बिना ही कहा—"बात पूरी कर लो!"

और चंचला आगे बढ़ी—"उसके साथ मेरा आत्मिक विवाह सामाजिक संस्कारों से पक्का नहीं किया गया था, अतः 'काकाजी की अन्तिम इच्छा' की भ्रान्त धारणा पर मुझे आपके गले में फाँसी के समान डाल दिया गया। मेरा सब विरोध व्यर्थ हुआ।"

उसने फिर रुककर हरीश को देखा—अब भी वह उसी भाँति बैठा हुआ सुन रहा था। अन्तर केवल इतना था कि उसके नेत्रों से कुछ अश्रु-बिन्दु उसके कपोलों पर ढुलक गये थे। उसने कहा—"फिर चंचला?"

चंचला ने तार आगे बढ़ाया—"मेरी हरिजन सेवा की आकांक्षाएँ, मेरा हरिजनत्व का गौरव, माता-पिता से उऋण होने की प्रतिज्ञा, नारी को दासीत्व से मुक्त करने की अभिलाषा—सब-कुछ नष्ट हो गया......"

"और?"

"और मुझे मिले आप, जो मेरे प्रेम में पागल हैं, प्राण न्योछावर करने को तैयार हैं; मेरी आत्मा के अधिकारी हैं, किन्तु उससे वंचित हैं; सज्जनों में अग्रगण्य हैं, किन्तु प्रतारित हुए हैं। मुझे स्वयं तो दुःख सहना ही है, आपको भी सहना पड़ता है।"

"बस ?" हरीश ने आँखें खोलकर कहा। उसकी आँखों में विलक्षण तेज समा गया था।

"बात इतनी ही है !"

"बहुत कठिन नहीं है, चंचला ! मैंने अब तक तुम्हारे साथ जो भी अवांछित व्यवहार किया है, उसे एक बार भूल जाओ ! भविष्य में कभी वैसा न होगा......"

"इससे क्या होगा, स्वामी !"

"कम-से-कम तुम प्रतिदिन की पीड़ा से बच जाओगी।"

किन्तु स्थायी पीड़ा का क्या उपचार ? मुझे समाप्त कर देने के लिए तो वही पर्याप्त है !"

"मैं तुम्हारे हृदय को स्वतन्त्र करता हूँ, और तुम्हारे सब सेवा-कार्य में तन-मन से योग देने की प्रतिज्ञा करता हूँ ! तुम सुखी हो जाओ !"

चंचला सिहर उठी। बोली—"आपसे यही आशा थी। किन्तु आप कम अन्याय-पीड़ित नहीं हैं ! आपको प्रतिदान किये बिना आपसे लेते ही रहने का भार मैं वहन नहीं कर सकती !"

थोड़ी देर तक दोनों कुछ न बोल सके। फिर हरीश ने कहा—

"चंचला !......."

"देव !......."

"और कोई उपाय ? मैं सब-कुछ करने को तैयार हूँ—" हरीश ने कातर होकर कहा।

"आत्मा जीवन के पास है, शरीर आपके पास—सह सकें तो यही स्थिति कायम रहने दीजिए, स्वामी !"—चंचला ने निरुपाय होकर कहा।

"यह तो सुख का मार्ग नहीं, प्रि....!" हरीश 'प्रियतमे' कहता-कहता रुक गया। उसे प्रतीत हुआ कि पत्नीव्यंजक शब्द उसके अधिकार से परे हो गये हैं, उनमें चंचला का अपमान है !

"सुख अब मेरे लिए नहीं है—यह आत्मबलिदान का मार्ग है, देव !" और चंचला ने जब से हरीश की धर्मपत्नी का पद प्राप्त किया, एक बार भी उसे 'प्राणेश्वर' कहकर सम्बोधित नहीं किया। 'देव' और 'स्वामी'

कहने में उसे कोई आपत्ति न थी। वह मानती कि 'देव' हरीश के स्वभाव और चारित्र्य के सम्बन्ध में मेरे हृदय के सच्चे भावों का द्योतक है और 'स्वामी' शरीर का स्वामी हो सकता है, जो निःसन्देह हरीश है।

और हरीश उसके मुँह से एकबार भी 'प्राणेश्वर' सुन सकने के लिए कितना लालायित था ! आज उसकी सारी लालसा एकबारगी नष्ट हो गई और उसे स्वयं उपयुक्त सम्बोधन के लिए अपना भाषा-ज्ञान छानना पड़ा !

"आत्मबलिदान का मार्ग !"—वह काँप उठा—"इतने शीघ्र सब-कुछ समाप्त हो गया !"

चंचला कोई उत्तर न दे सकी। उसकी दृष्टि शून्य में पहुँच चुकी थी, होठों से किसी संकल्प का परिचय मिलता था।

हरीश हताश होकर बाहर निकल गया।

उस दिन से दोनों मिलते, दोनों एक-दूसरे से बातें करना चाहते, किन्तु घंटों बैठे रहते, एक-दूसरे की ओर करुणा एवं आशापूर्ण दृष्टि से देखा करते, बातें कुछ न होतीं।

अन्यत्र, चंचला फिर पहले के समान ही कामकाज में लग गई। उसने हरीश की सेवा का प्रत्येक कार्य अपने हाथों में ले लिया। किन्तु उसका शरीर दिनों-दिन क्षीण-से-क्षीणतर होता गया और उसे किंचित् ज्वर भी रहने लगा।

हरीश की भी प्रायः यही अवस्था थी। अध्ययन-अध्यापन में, खाने-पीने में, गोष्ठियों-सत्संगों में और कालेज के खेलों में अब उसकी कोई रुचि नहीं रही। कर्त्तव्य और स्वभाव के कारण करता सब-कुछ, किन्तु प्रत्येक कार्य में उसके योग से संख्या मात्र बढ़ती, विधिमात्र पूर्ण होती।

दो तीन माह बीत गये। स्थिति में सुधार के स्थान पर बिगाड़ ही होता गया। इस बीच चंचला सूखकर काँटा हो गई। हरीश ने उसे समझाने और सान्त्वना देने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया, चंचला ने उसे सद्भावना-पूर्वक सहयोग भी दिया, किन्तु कोई वांछित परिणाम न निकला। अन्त में उसने निर्मला को एक लम्बा पत्र लिखकर उससे एक बार फिर कलकत्ते आने का अनुरोध किया।

इसी बीच एक दिन हरीश की माता ने बड़े हर्ष और स्नेह से बहू को चेतावनी दी कि अब तुम्हें अपने स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि अब तुम एक और प्राण की रक्षा करने की अधिकारिणी बन गई हो। चंचला चौंक उठी। क्या ? एक नया प्राण !

निर्मला के रहते हुए चंचला के जो थोड़े से दिन शान्ति और सुख की

राह पर बीते, उनमें उसने हरीश की प्रेम-वेदी पर सर्वस्व समर्पित कर देना अपना कर्त्तव्य समझा था। इससे उसे एक प्रकार का सन्तोष भी हुआ था। किन्तु, इसके परिणाम की कल्पना उसने कभी नहीं की। गत दिनों की घटनाओं के बाद, जिन्होंने उसकी जीवन-गति को ही रोक दिया और प्राण-रक्षा को अनावश्यक कर दिया, इस नये समाचार से वह सिहर उठी—"मैं माता बननेवाली हूँ!" उसके मन ने बार-बार कहा कि यह असम्भव है, किन्तु सास के उल्लास और उनकी चिन्ताकुलता ने शंका के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ा।

ओह! कैसी बात! मा? मैं मा बनूँगी? भगवन्! यह कैसी विडम्बना! मा बनने का मुझे क्या अधिकार है? जिसने सच्चे प्रेम को पहचानने से हठपूर्वक इनकार किया, जो उसकी पवित्र वेदी पर अपने मिथ्याभिमान की बलि चढ़ाने में असमर्थ रही, जिसने अपने को छोड़कर कभी दूसरे को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया, वह स्वार्थपरा नारी मा बनेगी? अपने संघर्षमय जीवन में एक नये प्राण को उलझाने का मुझे क्या अधिकार?

आत्मसमर्पण एक जगह और शरीरावलंबन दूसरे स्थान पर—इस प्रकार के विभाजित जीवन में पुत्र का क्या स्थान होगा? माता के गौरव से मैं उस पुत्र का पालन कैसे कर सकूँगी? मेरा तिरस्कृत जीवन माता के महनीय स्थान की पूर्ति कैसे कर सकेगा? मेरा पुत्र या तो संकर कहलाकर निन्दित होगा, या अपने पिता के वंश के कारण आदर प्राप्त करके, वस्तुतः निन्दा का ही पात्र बनेगा। भगवन् मैंने क्या किया! गलती-पर-गलती क्यों की?

जीवन! मेरे जीवन! ओह! मेरे जीवन? उसकी पदधूलि भी शिर में लगाने योग्य मैं नहीं हूँ! उसकी बराबरी करने चली थी। अपने को उससे बढ़कर आदर्शवादिनी समझने लगी थी। उसकी अवहेलना करने की धृष्टता में भी संकोच न किया। परन्तु आज? जो काम मेरा था, सो वह कर रहा है; जो प्रतिज्ञा मैंने की थी, उसे वह पूर्ण कर रहा है; जिस हरिजनत्व को अभिमान से अपनाने का ढिंढोरा मैंने पीटा, उसे वह अपना रहा है। और मैं? मैं अपने कर्तव्य को ठुकराकर, अपने उचित स्थान को छोड़कर, एक ब्राह्मण की पत्नी और उनके पुत्र की माता बन रही हूँ! इसके पश्चात्?

चंचला का शिर घूमने लगा। उसकी विचार-शक्ति स्तम्भित हो गई। वह विह्वल हो उठी।

परिवार के फलते-फूलते रहने का उपक्रम देखकर वृद्ध दम्पति के हृदय हर्ष से भर आये। किन्तु, जो दो व्यक्ति उस हर्ष में सम्मिलित होने के मुख्य

अधिकारी थे, उनके हृदय भिन्न-भिन्न प्रकार के भार से दब गये। चंचला की मनःस्थिति और हृदयगति को समझने तथा उसका आदर करने योग्य निश्चल हृदय और पवित्र प्रेम हरीश के पास था। उसने सब समझा, परन्तु स्थिति सुधारने का उपाय उसकी सूझ से परे हो चुका था।

चंचला का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता ही चला गया। जब भारग्रस्त शरीर में स्वाभाविक अशक्ति बढ़ने लगी और जीने की इच्छा उसने स्वयं ही छोड़ दी तो शरीर के क्षीण होने में विलम्ब क्या लगता? हरीश के प्रयत्नों और वृद्ध दम्पति की व्याकुलतापूर्ण सेवाओं का कोई सुपरिणाम नहीं हुआ। अन्ततः वह शय्यावलम्बिनी ही बन गई। डाक्टरों ने क्षय रोग की चिकित्सा कराने का निर्देश किया।

४६

पूर्णाहुति

चंचला के कष्ट का समाचार पाकर निर्मला अपना सब कुछ छोड़ कलकत्ते आ गई और उसने अपनी प्राणाधिका सखी की शुश्रूषा में अपने-आपको तन-मन से लगा दिया। एक मास की अविराम सेवा और प्रार्थनाओं के बाद आज चंचला के स्वास्थ्य में सुधार के कुछ लक्षण दृष्टिगत हुए। उसका ज्वर कम था और मन कुछ शान्त मालूम होता था। उसने परिवार के सभी सदस्यों से मीठी बातें कीं और हरीश को धैर्य बँधाने का प्रयत्न किया। उसने कहा—

"पुरुषों को इतना दुर्बल-हृदय नहीं होना चाहिए।"

हरीश जानता था कि इस समय इसे कोई भी उत्तेजना मिलने का परिणाम भयानक हो सकता है। अतः उसने उसके मन को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से हँसकर कहा—

"तुम स्वस्थ तो हो जाओ, फिर देखना कि मुझमें कितना बल है!"

"मनुष्य की परीक्षा तो संकट में ही होती है"—चंचला ने मंद, दुर्बल, किन्तु शान्त वाणी में कहा।

उत्तर तो बहुत थे, परन्तु इन सुकुमार क्षणों के लिए हरीश को कोई उत्तर उपयुक्त न मालूम हुआ और उसने हँसकर बात टाल दी।

चंचला ने फिर कहा—"आपको दुःखी और चिन्ताग्रस्त देखकर मेरा साहस और भी टूट जाता है।"

"मैं प्रसन्न रहूँ तो तुम शीघ्र अच्छी हो जाओगी?"

"मुझे शान्ति तो अवश्य मिलेगी"—चंचला ने झूठी आशा को टालने के लिए सावधानी से कहा।

और अब हरीश ने देखा कि इस तार को आगे बढ़ने देना खतरे से खाली नहीं है। उसने चंचला की उदात्त भावनाएँ जाग्रत करने और इस

प्रकार उसका उत्साह बढ़ाने का प्रयत्न करते हुए कहा—"तुम्हें मालूम है, तुम शीघ्र ही मा बननेवाली हो ? तुम्हारी गोद में फूल खिलेगा !"

वह बेचारा क्या जानता था कि मातृत्व की कल्पना ने ही उसकी प्रियतमा को अन्तिम ठोकर दी है ! चंचला एकदम उत्तेजित हो उठी। उसने तीव्र स्वर में कहा—"हाँ, जानती हूँ। और यह भी जानती हूँ कि उस फूल को लोग लातों के नीचे कुचलेंगे !"

उसका श्वासोच्छ्वास बढ़ गया, हृदय की गति तीव्र हो गई, शरीर काँपने लगा। उसने टूटे स्वर में किन्तु आवेश के साथ कहा—"वह नारी के गौरव का प्रतीक नहीं, उसकी दयनीयता की फहरती हुई पताका होगा !..."

उससे आगे बोला न गया। थककर लेट गई और आँसुओं से तकिया को भिगोने लगी।

निर्मला उसे हरीश के साथ एकान्त में वार्तालाप करने का अवसर देने के लिए दूसरे कमरे में चली गई थी। उत्तेजना का आभास पाकर शीघ्रतापूर्वक दौड़ी आई। आकर उसने देखा, आज की शान्ति भभकनेवाली ज्योति की अन्तरिम स्थिरता मात्र थी !

निर्मला ने उसे संभालने का प्रयत्न किया तो वह और भभक उठी। बढ़ती हुई उत्तेजना और टूटती हुई शब्दावली में बोली—"निर्मला ! मेरी गोद में फूल खिलनेवाला है ! आजीवन अपनी माता की लज्जा में विगलित होने के लिए !..."

निर्मला ने कहा—"बहन ! और कुछ नहीं, तो सब परिवार के कष्टों का ख्याल करके तो शान्त रहो ! स्वस्थ हो जाने पर सब-कुछ सोच लेना !"

चंचला ने किंचित् सौम्य होकर कहा—"अच्छा निर्मला, अब मैं न बोलूँगी। पर एक बात मुझे बता दे !"

"केवल एक बात ?"

"हाँ।"

"फिर शान्त हो जाओगी ?"

"हाँ।"

"अच्छा पूछो।"

"यह जो फूल खिलने की बात कही जाती है, उसके मूल में अनैतिकता नहीं है ?"

"नहीं, मेरी बहन, नहीं ! हजार बार नहीं !"—निर्मला ने चंचला के गालों पर प्यार से हाथ फेरते हुए, दृढ़ किन्तु मधुर स्वर में कहा। और कहते-

कहते चौंक पड़ी, क्योंकि उसके हाथों ने महसूस किया, चंचला का शरीर तवे के समान गर्म था, उसका ज्वर बहुत बढ़ गया था।

चंचला मना करने पर भी बोली—"कैसे? मैंने तो इन्हें अपना पति स्वीकार नहीं किया?" उसकी आवाज शिथिल हो गई।

"मैं तुम्हें स्वस्थ होने पर समझा दूँगी। अब तुम शान्त होकर लेटो। बातें बन्द कर दो!"

चंचला ने बातें बन्द कर दीं, किन्तु मन-ही-मन सोचने से उसे कौन रोक सकता था? एक ओर उसका ज्वर लगातार बढ़ता जा रहा था, दूसरी ओर उसने अपनी कल्पना के सब पंख खोलकर उसे मुक्त गगन में विचरण के लिए छोड़ दिया। जीवन, अम्मा और बापू, काकाजी, उसकी प्रतिज्ञाएँ—सब एक एक करके उसके सामने आये। जीवन बार-बार आया और अन्त में मातृत्व का दृश्य! और वह जोर से बोल उठी —"संसार में आना, दूसरों को लाना, रोना और मर जाना, यही तो नारी का जीवन है! अभागिनी!..."

निर्मला ने उसे फिर शान्त किया और वह फिर अन्तर्मुख हो गई— "पति-पत्नी के आत्मिक संयोग के बिना सन्तानोत्पत्ति अनैतिक नहीं! नितान्त मिथ्या!"

और उसकी आँखों ने मोती ढालना शुरू कर दिया। वह आगे बढ़ी— "मैं जीवन की स्वयंवृता पत्नी हूँ!"

और वह जोर से चीख उठी—"जीवन! जीवन!"

निर्मला ने उसके तप्त शरीर पर हाथ फेरते हुए पूछा—"क्या है, चंचला? शिर पर पट्टी रख दूँ?"

चंचला ने इसका कोई उत्तर न दिया परन्तु कहा—"वह पूछता था— चंचला तुम मेरी हो? मेरी हो? तेरी नहीं तो किसकी?...."

उसका चेहरा गंभीर था, आँखें लाल और चढ़ी हुई थीं। ज्वर कदा-चित् और भी बढ़ गया था। निर्मला आशंकित हो उठी। हरीश वहाँ से पहले ही उठकर चला गया था। उसे बुलाकर निर्मला ने आवेग के साथ कहा— लक्षण अच्छे नहीं हैं। हरीश डाक्टर को बुलाकर लाया तो उसने कहा कि स्थिति बहुत गंभीर है।

हरीश कई दिनों से मन-ही-मन सोच रहा था कि एक बार जीवन को क्यों न बुलाया जाये। किन्तु, इसकी लाभ-हानि को जब वह तोलता, तो उसका मन आशंकाओं से भर जाता। आज उसने निर्मला से परामर्श किया और जब निर्मला ने जोखिम उठाने की सलाह दी, तो उसने जीवन को तार दे

दिया—"चंचला की स्थिति अत्यन्त नाज़ुक है। आपकी उपस्थिति आवश्यक प्रतीत होती है। कृपया अविलम्ब आइये।"

कई घंटों के बाद चंचला का ज्वर कुछ कम हुआ और वह थोड़ी सी सुध में आई। निर्मला ने उससे कहा—"चंचला, हरीश बाबू ने जीवन को तार देकर बुलाया है।"

कदाचित् चंचला पूरी बात ग्रहण नहीं कर सकी। उसने दुहरा दिया—"जीवन! जीवन! कहाँ जीवन?"

थोड़ी देर बाद उसने बुलाया—"स्वामी!"

हरीश शीघ्रता के साथ उसके सामने आया और उद्विग्न होकर बोला—"चंचला!" परन्तु कोई उत्तर न मिला। वह फिर बेहोश हो गई।

वृद्ध बन्दोपाध्याय दम्पति और परिवार के सब लोग वहाँ एकत्र हो गये थे। बन्दोपाध्याय महाशय ने अत्यन्त दुःख-भरे स्वर में कहा—"भगवान मंगल करें!" और उनका गला रुँध गया। सास, ननँद और देवरों की वाचा पहले ही अवरुद्ध हो चुकी थी।

दो दिन बीत गये। बीच बीच में कई बार रुग्णा को चेत हुआ, किन्तु थोड़ी-थोड़ी देर में वह फिर-फिर अचेतनावस्था में उलटती गई। तीसरे दिन उसे फिर से होश हुआ। आज वह कुछ अच्छी मालूम होती थी। ज्वर लगभग उतर गया था। सब को प्रसन्नता हुई, सबने भगवान का अनुग्रह माना, सबने शुभ की कामना की।

वृद्धा सास ने कहा—"मानो, बच्चे के प्राण जोर मार रहे हैं!"

बन्दोपाध्याय महाशय ने प्रार्थना के स्वर में उत्तर दिया—"भगवान मंगल करें! सब ठीक हो जायेगा!"

आज जीवन के आने की आशा थी। निर्मला बहुत चाहती थी कि चंचला को इस समय उसके आने की सूचना दे दी जाये। उसे आशा होती कि शायद इससे चंचला को बल मिलेगा। परन्तु दूसरे ही क्षण वह डर जाती—कहीं उलटा परिणाम हुआ तो! और इसी ऊहापोह में समय टलता गया। हरीश भी कोई निर्णय न कर सका।

चंचला ने आज परिवार के सब सदस्यों को बुलाकर उनसे कुछ-कुछ बातें कीं। हरीश की छोटी-सी भानजी ने उसे उलाहना देते हुए कहा—"जल्द अच्छी क्यों नहीं होतीं!"

चंचला ने उसके सिर पर हाथ फेरकर प्यार से आश्वासन दिलाया, "अब अच्छी हो जाऊँगी!"

सबके चले जाने पर चंचला ने निर्मला से कहा—"मेरी बहन, तुमसे बढ़कर भी कोई बहन सुनी गई है ?"

निर्मला ने उसी प्रेम से उत्तर दिया—"और तू कहाँ चली गई है ?"

"मैं ? ओह ! मैं तो पीड़ा जैसी आई हूँ। भगवान करे, उसी तरह चली जाऊँ !"—और अब फिर उत्तेजना का लक्षण प्रकट हुआ, किन्तु शीघ्र ही उसने कहा—"स्वामी को तो बुलाओ, निर्मला !"

और अविलम्ब हरीश आ गया। सूखा मुख, सूखा शरीर, सूखे तथा बिखरे हुए बाल, मैले वस्त्र, परन्तु होठों पर बलप्रेरित मंद मुसकान !

देखते ही चंचला ने कहा—"यह क्या हालत है, आपकी ? मैं पड़ गई तो अपने-आपको बिलकुल ही भुला दिया !"

"ये तो छोटी बातें हैं। तुम अच्छी हो जाओ, ये सब ठीक हो जायेंगी !"

"नहीं, आप जाइए; नहा-धोकर साफ कपड़े पहनकर सदैव के समान आइए। भोजन भी कर लीजिए !"

"अच्छा जाता हूँ !"

"परन्तु, सुनिए जरा..." और उसका हृदय धड़कने लगा—"एक बात कहूँ ?"

"अवश्य कहो !"

"मानेंगे ? बुरा तो न लगेगा ?"

"अवश्य मानूँगा।"

"निर्मला !...."

"बोलो बहन"—निर्मला ने कहा।

चंचला ने अपने हृदय-स्थल को हाथ से दाबकर बलपूर्वक कहा—"एक बार जीवन को...."

और वह आगे न कह सकी। उसके हृदय की गति बहुत तीव्र हो गई। मूर्छा के लक्षण फिर उपस्थित होने लगे।

निर्मला और हरीश ने एक-दूसरे की ओर देखा और निर्मला ने शीघ्रता-पूर्वक चंचला को संभालते हुए कहा—"जीवन को बुलाया है। आज आ जायेगा।"

"आ जायेगा !"—कहकर चंचला मूर्छित हो गई !

ज्वर अधिक नहीं था, किन्तु मूर्छा गहरी थी। हरीश और निर्मला उद्विग्न हुए बिना न रह सके।

थोड़ी देर में चंचला ने पुकारा—"जीवन !" उसकी आवाज स्पष्ट नहीं थी और उसने उसी तरह फिर कहा—"जी....व....न ! आ....... !"

उसके नेत्रों ने दो मोती ढाल दिये और उसका कंठ अवरुद्ध हो गया, वाणी सदा के लिए मूक हो गई !

निर्मला ने घबड़ाकर उसे संभालते हुए कहा—"चंचला ! चंचला !" और उसके हाथ छूट गये ! हरीश ने उसकी खाट पर सिर पटक दिया। उसके मुँह से निकला—"वेदना से मुक्त हो गई !"

× × × ×

जीवन जब पहुँचा उस समय चिता की लपटें बुझ चुकी थीं। उसने चुटकी भर भस्म अपने माथे पर लगाकर कहा—"चंचला, तुम मेरी हो ?"

हरीश ने जीवन को छाती से लगाकर कहा—"मैं भी तुम्हारा हूँ, भाई ! उसका काम हम दोनों पूरा करेंगे।"